प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान ग्रन्थराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के प्रवचनों का संकलन प्रवचन रत्नाकर भाग-६ का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्रीकानजीस्वामी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकारों को यह दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक नहीं भुला सकेगी।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रन्थ को पाकर सन् १९३४ में उन्होंने स्थानकवासी साधु का वेश (मुंहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और दिगम्बर ब्रह्मचारी के रूप में अपने आत्म कल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ४५ वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं है, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शास्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव दुःखों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमंदिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया गया है परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असम्भव है। अतः उनके प्रवचनों को श्रृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय बम्बई के श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रन्थाधिराज पर

हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ के गुजराती प्रवचन ११ भागों में प्रकाशित हो चुके हैं जिन्हें हिन्दी में रूपान्तर करके प्रवचन रत्नाकर के नाम से अभी तक आठ भागों में मोक्ष अधिकार तक प्रकाशित किये जा चुके हैं। नवमें भाग सर्वविशुद्धि ज्ञान अधिकार का अनुवाद कार्य प्रगति पर है जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर आपके हाथों में पहुंचेगा।

प्रवचन रत्नाकर के प्रथम भाग में १ से २५ गाथाऐं, द्वितीय भाग में २६ से ६८, तृतीय भाग में ६९ से ९१, चतुर्थ में ९२ से १४४, पांचवें में १४५ से १८०, छठवें में १८१ से २१४, सातवें में २१५ से २३६ तथा आठवें भाग में २३७ से ३०७ गाथाओं तक प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं।

हम श्री भगवानजीभाई कचराभाई शाह, लन्दन का हृदय से आभार मानते हैं जिन्होंने प्रस्तुत कृति को कम से कम मूल्य में जन-जन तक पहुंचाने हेतु १६ हजार ६३९ रुपए (लागत का २५ %) प्रदान किए हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदैव की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है, अतः उपरोक्त सभी बधाई के पात्र हैं।

आप सभी पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्म तत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वानुभूति दशा प्रगट करें व आत्म कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर हों, ऐसी पवित्र भावना है।

१० जून १९९७
(श्रुत पंचमी)

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थी। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात हो क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है, उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इसपर आद्योपान्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं.. स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार इनका गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस संदर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी का कथन द्रष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :—

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र-सभा में शास्त्र वांचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म-ग्रंथों की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ, अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसाद जी की हसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता, तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

1 जैन सन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रंथों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिये। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इस उद्देश्य से सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचन-रत्नाकार' के नाम से सर्वप्रथम समयसार परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूंकि गुरुदेवश्री के मूल प्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। २६ अप्रैल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९२वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचन-रत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्व-प्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के

कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूं, क्योंकि इस कारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिंतन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में सात वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनों के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं। उनके सम्पादन से. गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादनशैली से मेरा घनिष्ट परिचय हो गया है। तथा प्रवचन-रत्नकार भाग १ के सम्पादन कार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन में यद्यपि मुझे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इन पाँचों भागों के सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है, गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल में रहती है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती; क्योंकि जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्वप्रेमी पाठकों से पुनः अनुरोध करना चाहूंगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं, तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर करके इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित प्रवचन-रत्नाकर के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किए गए हैं, उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बांटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। आगे भी भागों का विभाजन गुजराती भागों को आधार न बनाकर स्वतंत्ररूप से किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है; साथ में यह भी

उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग चार सौ पृष्ठों के आस-पास तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम (भाग) बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़े भी बहुत हैं और पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं, तथा सामान्य लोगों को सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहां तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे, इस बात का भी पूरा–पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रंथ संस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और भी छोटी-छोटी बहुत सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है, वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है, इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी; फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है, अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल दिखाई दे, तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

—(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया, तो मैं असमंजस में पड़ गया। मैंने यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं है, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ; अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर, प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर मैंने इस काम को अन्ततोगत्वा अपने हाथ में ले ही लिया। इस कार्यभार को सँभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही सँभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और

भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचता है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं, उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परमप्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धाराप्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने में सुगमता भी रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' अर्थात् शास्त्रसमुद्र में कौन विमोहित नहीं होता – इस लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एवं अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ।

– रतनचन्द भारिल्ल
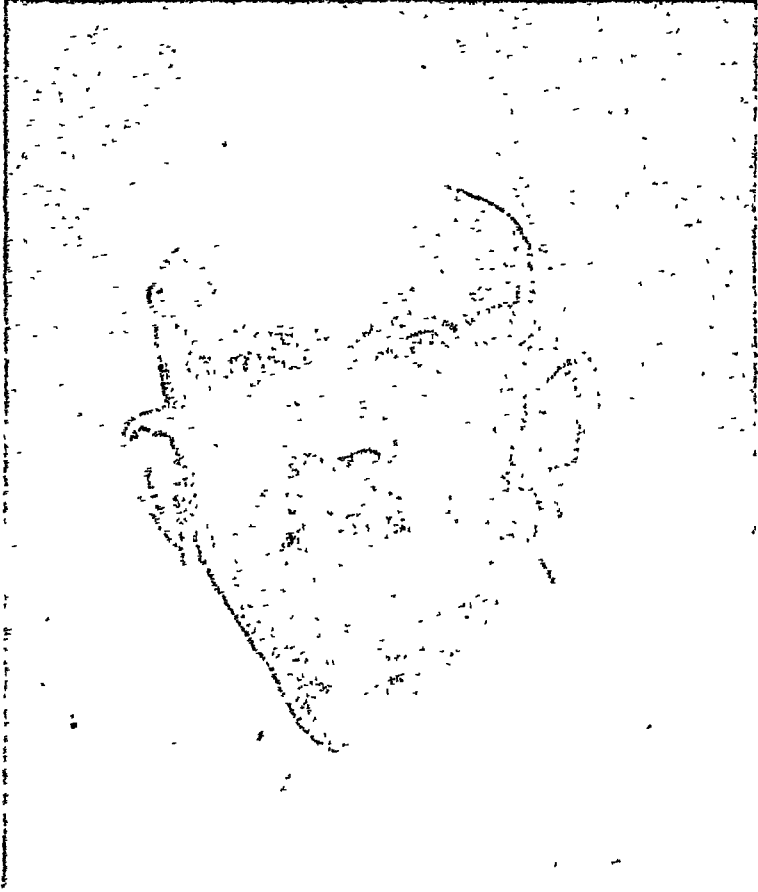
श्री भगवानजीभाई कचराभाई शाह

लन्दन **मोम्बासा**

जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ प्रवचनरत्नाकर भाग-६ के प्रकाशन में लागत के २५% सहयोग के रूप में १६,६३९ रु. का आर्थिक सहयोग प्रदान किया।
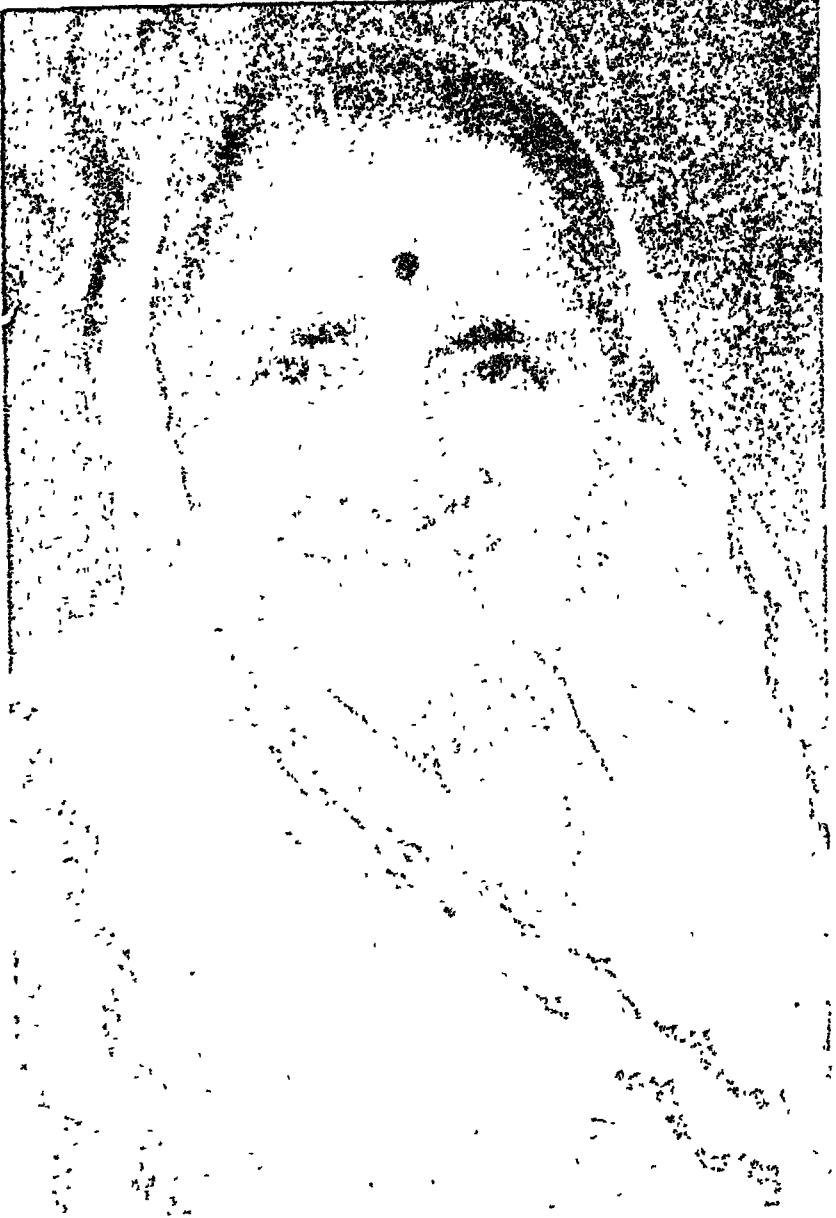
श्रीमती डाही बेन भगवानजी शाह

लन्दन मोम्वासा (केन्या)

जन्म : वि.सं. १९६२
चैत्र शुक्ला पूर्णिमा
डवासंग (भारत)

निधन : वि.सं. २०४८
कार्तिक वदी छठ
२७ नवम्वर, १९९१, लन्दन

हमें सन्मार्ग में लगाने वाले हमारे माता-पिता

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

हम अपनी भावना व्यक्त करने के पहले एवं देव-शास्त्र-गुरु को बारम्बार नमस्कार करने के उपरान्त उन पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को कोटि-कोटि वंदन करते हैं, जिन्होंने हम जैसे अनेक मुमुक्षुओं को अज्ञानांधकार से निकालकर अनन्त-अनन्त उपकार किया है ।

सन् 1924 में चापाबेराजा (जामनगर) ग्राम के निवासी हमारे पिता श्री 18 वर्ष की उम्र में पूर्व अफ्रीका के किटाले नामक ग्राम में तथा उसके बाद मोम्बासा गये और भरपूर अर्थोपार्जन किया। यह सब तो ठीक पर उन्होंने जो हमें धार्मिक संस्कार दिये हैं, वे हम सबकी सच्ची और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्पत्ति है ।

एक बार सन् 1946 में चेलाना निवासी स्वर्गीय श्री धर्मसी भाई, देवसी भाई अफ्रीका आये और उन्होंने हमारे पिताजी को पूज्य गुरुदेवश्री की बात समझाते हुये उनका परिचय कराया। परिणामस्वरूप उन्हें पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित तत्त्व में रुचि हुई और गुरुदेवश्री के सत्समागम से उनका जीवन ही बदला गया । उन्होंने मोम्बासा तथा थाना में चलने वाले व्यवसाय से निवृत्ति लेकर पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में रहने के लिए सोनगढ़ में मकान बनवाया तथा सोलह वर्ष तक उनके सत्समागम में रहे। मकान के वास्तु में गुरुदेवश्री पधारे थे। उनके सोनगढ़ में रहने का एक उद्देश्य यह भी था कि हम लोग भी बारम्बार सोनगढ़ आकर आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कार ग्रहण करें ।

आपने अपने जीवन में अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये हैं । सम्वत् 2015 में आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री के साथ दक्षिण के तीर्थों की तथा सिद्धक्षेत्र गिरनारजी की यात्रा करने का शुभ अवसर मिला । इसके पश्चात् अनेकबार कुटुम्बी जनों के साथ श्री सम्मेद-शिखरजी तथा अन्य तीर्थों की यात्रा का अवसर भी प्राप्त हुआ । इसतरह आपने अनेक प्रकार से समय शक्ति और उत्साह पूर्वक "काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग" इन पक्तियों में व्यक्त संकल्प के अनुसार चलने का प्रयास किया ।

सर्वप्रथम 8 नवम्बर, 1959 में जामनगर में दिगम्बर जैन मंदिर का शिलान्यास करने का लाभ मिला । उनकी भावनानुसार वह जिनमंदिर शीघ्र ही तैयार होगया और दो वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के सान्निध्य में उसका पंचकल्याणक महोत्सव हुआ ।

उसके बाद मोम्बासा (अफ्रीका) में 5 मार्च, 1967 में श्रीमद्राजचंद्र स्मृतिगृह बनवाया । उसमें सुन्दर सजावट सहित आत्मसिद्धि तथा योगेन्दुदेव आचार्य कृत योगसार के अनेक दोहे दीवालों पर उत्कीर्ण कराये।

इसके बाद 13 सितम्बर, 1969 को सोनगढ़ में निर्मित भव्य महावीर कुन्दकुन्द का परमागममन्दिर का शिलान्यास करने का अवसर सम्पूर्ण परिवार सहित आपको प्राप्त हुआ । जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन में भी महावीर सरस्वती निलय एवं सम्यक्ज्ञान निलय का निर्माण हमारे परिवार द्वारा कराया गया । सोनगढ़ और जयपुर में स्थापित भोजनालय में भी हमारा योगदान हैं । दिनांक 16 मई,1993 को लन्दन में दिगम्बर जैन मन्दिर का उद्घाटन करने का सौभाग्य भी उन्हें मिला ।

पूज्य गुरुदेवश्री की हमारे परिवार पर सदा ही असीम कृपा रही है । वे जब नैरोबी पधारे थे, तब हमारे घर मोम्बासा भी पधारे थे तथा थाने में भी हमारे घर गुरुदेवश्री का पदार्पण हुआ था ।

पिताश्री कि भावना सदा यही रहती है कि पूज्य गुरुदेव श्री ने वीतरागी दिगम्बर जिनधर्म का जो मर्म खोला है, उसका अधिक से अधिक प्रचार हो; इसके लिए वे हमें सदा ही प्रेरित करते रहते हैं । सभी धार्मिक कार्यो में हमारी मातुश्री डाही बेन का पूरा–पूरा सहयोग रहा है । दिनांक 27 नवम्बर, 1991 को मातुश्री का स्वर्गवास होगया है । किन्तु पिताश्री की छत्र-छाया अभी हमें प्राप्त है । वर्तमान में हमारे साथ वे लंदन में रहते हैं । वहाँ भी वे निरंतर स्वाध्याय में मग्न रहते हैं । उन्होंने लंदन में मुमुक्षुओं के बीच आठ वर्ष तक प्रवचन किये; जिससे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की प्रेरणा मिली ।

उनकी प्रेरणा का ही यह परिणाम है कि हम प्रस्तुत ग्रन्थ को कम से कम कीमत में जन-जन तक पहुँचाने की भावना से लागतमूल्य की 25 प्रतिशत रकम कीमत कम करने के लिए दे रहे हैं ।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय प्राप्तकर हम सब व हमारे पिता आत्महित में रत रहें – यही पवित्र भावना है ।

– शाह भगवानजी कचराभाई परिवार,लन्दन

प्रवचन रत्नाकर भाग-६

अनुक्रमणिका

क्रमांक	समयसार गाथा/कलश	—	पृष्ठ
1.	कलश 125	—	1
2.	गाथा181-183	—	7
3.	कलश 126	—	31
4.	गाथा 184-185	—	42
5.	गाथा 186	—	54
6.	कलश 127	—	60
7.	गाथा 167-189	—	64
8.	कलश 128	—	70
9.	गाता 190-192	—	71
10.	कलश 129	—	78
11.	कलश 130	—	83
12.	कलश 131	—	85
13.	कलश 132	—	93
निर्जरा अधिकार			
14.	कलश 133	—	99
15.	गाथा 193	—	105
16.	गाथा 194	—	118
17.	कलश 134	—	128
18.	गाथा 195	—	129
19.	गाथा 196	—	135
20.	कलश 135	—	137
21.	गाथा 197	—	142
22.	कलश 136	—	150
23.	गाथा 198	—	155
24.	गाथा 199	—	158
25.	गाथा 200	—	166
26.	कलश 137	—	171
27.	गाथा 201-202	—	189
28.	कलश 138	—	201
29.	गाथा 203	—	209
30.	कलश 139	—	216
31.	कलश 140	—	218
32.	गाथा 204	—	225
33.	कलश 141	—	239

34. कलश 142 — 246
35. गाथा 205 — 249
36. कलश 143 — 252
37. गाथा 206 — 255
38. कलश 144 — 262
39. गाथा 207 — 268
40. गाथा 208 — 273
41. गाथा 209 — 281
42. कलश 145 — 286
43. गाथा 210 — 288
44. गाथा 211 — 291
45. गाथा 212 — 301
46. गाथा 213 — 306
47. गाथा 214 — 309

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग-६]

सवंर अधिकार

अथ प्रविशति संवरः।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्रग्भारमुज्जृम्भते।।१२५।।

दोहा

मोहरागरुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पालि।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि, मन धारि।।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब संवर प्रवेश करता है।' आस्रव के रंगभूमि में से बाहर निकल जांने के बाद अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वाँग को जाननेवाले सम्यक्-ज्ञान की महिमादर्शक मंगलाचरण करते हैं:–

श्लोकार्थ :– [**आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त- आस्रव-न्यक्कारात्**] अनादिसंसार से लेकर अपने विरोधी संवर को जीतने से जो एकान्तगर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है–ऐसे आस्रव का तिरस्कार करने से [**प्रतिलब्ध**–उत्पन्न करती हुई, [**पररूपतः व्यावृत्तं**] पररूप से भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न), [**सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत**] अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चलता से प्रकाश करती हुई, [**चिन्मयं**] चिन्मय, [**उज्ज्वलं**] उज्जवल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और [**निज-रस-प्राग्भारम्**] निजरस के (अपने चैतन्यरस के) भार से युक्त-अतिशयता से युक्त [**ज्योतिः**] ज्योति [**उज्जृम्भते**] प्रगट होती है, प्रसरित होती है।

भावार्थः—अनादिकाल से जो आस्रव का विरोधी है ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है। उस आस्रव का तिरस्कार करके उसपर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूप से भिन्न और अपने स्वरूप में निश्चल यह चैतत्य प्रकाश निजरस की अतिशयतापूर्वक निर्मलता से उदय को प्राप्त हुआ है।।१२५।।

संवर अधिकार का शुभारंभ करते हुए हिन्दी टीकाकार पंडित जयचंदजी छावडा ने उक्त छन्द में संवरमय आत्मा का स्मरण करते हुए मंगलाचरण किया है। वे कहते हैं कि जिसने मोह अर्थात् मिथ्यात्व, राग व द्वेष को दूर करके तथा निश्चयसमिति, निश्चयगुप्ति व निश्चयव्रतों का पालन करके आत्मा को संवरमय किया है, चैतन्य की निर्मल परिणति रूप किया है, जिसने परमात्मपद ग्रहण करके अपने आत्मा को पवित्र संवरमय किया है, मैं उसे मन में धारण करके नमन करता हूँ।

१२५ वें कलश पर प्रवचन

संस्कृत टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं कि — आस्रव रंगभूमि में से बाहर निकल गया और अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है। देखो, यहाँ आचार्यदेव ने सर्वस्वांग को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान की महिमा का निरूपण करके मंगलाचरण किया है। इसमें आस्रव के प्रतिपक्षी संवर को प्रगट करनेवाले सम्यग्ज्ञान को नमस्कार किया है। सम्यग्ज्ञान से ही संवर प्रगट होता है।

अनादिकाल से मिथ्यात्व व रागद्वेष ने संवर प्रगट नहीं होने दिया। इस कारण आस्रव को गर्व (घमण्ड) हो गया है कि मैंने अनादिकाल से (निगोद से लेकर अबतक) बड़े-बड़े मांधाताओं के भी मद को चकचूर कर रखा है, उनके अभिमान को कुचला है।

यहाँ इस अधिकार में ऐसे अंहकारी एकान्तगर्वित आस्रव का तिरस्कार करती हुई तथा अनेकातंमय वस्तुस्वरूप के आश्रय से संवर को उत्पन्न करती हुई चिन्मय ज्ञानज्योति प्रगट होती है।

यहाँ यह कहते हैं कि आस्रव का नाश करके जो संवर प्रगट हुआ है, वह मोक्ष दशा प्रगट होने तक साथ रहेगा, वह उसके पहले पीछे हटनेवाला नहीं है। राग से पृथक् होकर जो इसने आस्रव को जीत लिया है, उसकी यह जीत सदा रहेगी। आनन्द के नाथ भगवान आत्मा ने जो

निजस्वरूप का अनुभव करके संवर प्रगट कर लिया है, वह छूटेगा नहीं; क्योंकि द्रव्य स्वयं अविनाशी है, अतः उसके आश्रय से प्रगट हुआ संवर भी अविनाशी हो गया। अतः अब पुनः आस्रव का जन्म नहीं होगा।

वैसे उपशम, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के छूटने की चर्चा तो आस्रव अधिकार में कर ही आये हैं। यहाँ तो अप्रतिहत पुरुषार्थ की अपेक्षा यह कथन किया है; अतः इसमें कोई विरोध नहीं समझना। यद्यपि वर्तमान में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं है, पर कोई-कोई क्षयोपशम सम्यग्दर्शन ऐसा भी होता है, जो छूटने के बजाय सीधा क्षायिकमें जा मिलता है। यहाँ वही अपेक्षा समझें तो आगम में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। इस क्षयोपशम को जोड़नी क्षायिक सम्यदर्शन भी कहा जा सकता है। यह छूटकर पुनः मिथ्यात्वरूप नहीं होता, बल्कि क्षायिक रूप ही होता है।

आनन्दघनजी ने कहा है कि अनन्त गुण के परिवार आत्मा के साथ समकित ने सगाई कर ली है, अतः अब मैं केवलज्ञान स्वरूप मुक्तिकन्या के साथ ब्याह रचाऊँगा।

हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना—ये सब पापास्रव हैं तथा व्रत, तप, भक्ति वगैरह पुण्यास्रव हैं। अनादि से दोनों आस्रव ऐसा गर्व करते थे कि हमारी जीत है। परंतु यहाँ कहते हैं कि अब हमने अपने चैतन्यस्वरूप, ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय किया है तथा उससे आस्रव को पछाड़कर – दूर करके संवर प्रगट किया है; अतः अब हमारी शाश्वत विजय हो गयी है। अब हमें कोई अनन्तकाल तक भी पीछे गिरा नहीं सकता।

जिसतरह बड़े व्यक्ति या महापुरुष अपने वचन से पीछे नहीं हटते, उसीतरह भेदज्ञान के बल से यह आत्मा महान हुआ है, अतः यह भी संवर से पुनः आस्रवभाव को प्राप्त नहीं होगा।

अहा......! कुन्दकुन्दाचार्यदेव से हजार वर्ष बाद हुए आचार्य अमृतचंद्र देव ने गजब की बात कही है। भले ही अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान का वर्तमान में विरह हो; पर अपने अन्तर के चिदानन्द भगवान का अब विरह नहीं रहा। इसके विरह का अब अंत हो गया है। अब तो हमारी सच्चिदानंद प्रभु आत्मा से भेंट हो चुकी है और उसकी सही श्रद्धापूर्वक अब हम उसमें ही ठहरने के लिए प्रत्यनशील हैं, इस कारण हम गर्व से कह सकते हैं कि हमने आस्रव पर विजय प्राप्त करली है।

आचार्य कहते हैं कि जिसने आस्रव पर विजय प्राप्त करली हो, उसके रागद्वेष भाव हो–ऐसा होता ही नहीं है। अहो! कैसा असाधारण मंगलाचरण किया है। जिनवाणी के सिवाय ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

भगवान महावीर स्वामी के लगभग १५०० वर्ष बाद आचार्य अमृतचंद्र हुए। वे कहते हैं कि हमारी पूर्णानंद के नाथ भगवान आत्मा से भेंट हुई है और हमें संवर प्रगट हुआ है। हमने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं आत्मिक शान्ति की अद्‌भुत दशा प्रगट की है, हमें आस्रव पर विजय मिली है। हमने राग से भिन्न होकर जो भेदज्ञान प्रगट किया है, वह सदैव यथावत् रहेगा। अब कभी भी राग से एकत्व नहीं होगा। अनन्तकाल तक विजय का डंका बजता ही रहेगा और आस्रव सदैव हारता ही रहेगा। अब तो हम केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहेंगे।

बापू! यह तो मक्खन! जगत इसे न जानकर बाह्य स्त्री, लक्ष्मी, बंगला, इज्जत आदि में सुख की कल्पना कर बैठा है; परंतु वह तो केवल जहर का प्याला है और यह संवर की दशा निर्विकल्प अमृत का प्याला है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्य की भाँति अमृतचंद्रचार्य भगवान सीमन्धर के पास नहीं गये थे, पर इससे क्या? वे अपने निज परमात्मा के पास तो हर अन्तर्मुहूर्त में जाते थे न? इसी अनुभव के आधार पर वे कहते है कि हमने आस्रव पर विजय प्राप्त करली है, आस्रव को पछाड़ दिया है। अतः अब हमें केवलज्ञान होगा और आस्रव कभी नहीं होगा।

आस्रव का तिरस्कार किया अर्थात् शुभभाव का आदर करना छोड़ दिया है तथा अपने चैतन्यभाव का आदर किया है। जबतक शुभभाव का आदर था, तबतक मिथ्यात्व था। स्वभाव का आदर करते ही आस्रव तिरस्कृत हो गया। जब आत्मा ने अपने स्वरूप का आश्रय किया, तभी आस्रव छूट गया।

बापू! तू अनादि से राग के पक्ष में पड़कर जन्म-मरण के चक्कर में फंसकर हैरान हो रहा था। अब तू ज्ञानानंदस्वरूपी भगवान आत्मा के पक्ष में आ गया तो बस आ ही गया। अब तुझे कभी भी जन्म-मरण के दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे।

जिसतरह बड़े भारी पत्थर के बीच में संधि होती है, वहाँ छैनी रखकर चोट देने से या सुरंग लगाने से हजारों मन के पत्थर के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। उसीप्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महापदार्थ प्रभु

कारणपरमात्मा व राग के बीच जहाँ संधि है, वहाँ प्रज्ञाछैनी डालते ही आत्मा व राग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि – जिसने अपने विश्वास में पूर्णानन्दमय भगवान आत्मा को या कारणपरमात्मा को लिया है, उसमें सम्यदर्शन रूप कार्य आना ही चाहिए; पर क्यों नहीं आता?

समाधान यह है कि जिसने पूर्णानंदमय कारण परमात्मा की कारण रूप में श्रद्धा की है, त्रिकाली ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा में विश्वास प्रगट किया है, उसे तो उस कारण का कार्य – सम्यदर्शन प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं है। परन्तु इस अज्ञानी जीव ने अनादि से उस कारण परमात्मा की यथार्थ प्रतीति न करके एक समय की पर्याय में ही अपने श्रद्धा व ज्ञान को बर्बाद किया है। पर्याय को ही अपना स्वरूप माना है। पुण्य कर-करके अनन्तवार नवमीं ग्रैवेयक तक गया, नवपूर्व की लब्धि भी हुई, आत्मा-परमात्मा की बड़ी-बड़ी बातें भी कीं, परन्तु कारणपरमात्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं पहचाना, नहीं जाना, उस ओर दृष्टि नहीं की। केवल शुभभाव और वर्तमान मति-श्रुतज्ञान के क्षयोपशम की ही रुचि में ही अटका रहा। बापू! भगवान आत्मा – कारणपरमात्मा – त्रिकाली ज्ञायकद्रव्य एक समय की पर्याय जितना नहीं है। हाँ, एक समय की ज्ञान की पर्याय में यद्यपि त्रिकाली ज्ञायक भगवान का ज्ञान समा सकता है-आ सकता है; पर ज्ञायक भगवान एक समय की पर्याय जितना नहीं है। अहाहा! भगवान आत्मा तो अनन्त गुणों का सागर है, उसका पूरा ज्ञान व श्रद्धान एक समय की पर्याय में आ जाता है, पर त्रिकाली वस्तु तो एक समय की ज्ञानपर्याय से भिन्न ही रहती है। ऐसा त्रिकाली अखण्ड एकरूप चैतन्यद्रव्य – कारणपरमात्मा का अन्त:सन्मुख होकर विश्वास करने पर तो सम्यग्दर्शनरूपी कार्य प्रगट होता ही है।

भाई! आत्मा तो आत्मा है, इसकी दृष्टि और इसमें स्थिर होने की जरूरत है। इस कार्य के लिए बहुत पण्डिताई की या बहुत क्षयोपशमज्ञान की आवश्यकता नहीं है। पशु जैसे अल्पज्ञ को भी सम्यदर्शन हो सकता है। हजारों योजन लम्बे मगरमच्छों को भी सम्यदर्शन होता है। यहाँ आचार्य ऐसा कहते हैं कि हमने ज्ञानानन्दमूर्ति अतीन्द्रिय सुख के सागर त्रिकाली भगवान आत्मा की दृष्टि से राग को जीत लिया है। अहाहा.....! भगवान आत्मा परिपूर्ण ज्ञायकतत्त्व है। इसमें दृष्टि एकाग्र करके हमने आस्रव पर सदा के लिए विजय प्राप्त करली है। अहाहा....! जिसने नित्य

विजय प्राप्त की है – ऐसे संवर को उत्पन्न करती हुई पर व पर्याय से भिन्न चैतन्यज्योति हमें प्रगट हई है।

अब उस चैतन्यज्योति की विशेषता का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह चैतन्यज्योति अपने सम्यक्स्वरूप में अचलरूप से प्रकाशित है, चिन्मय है, उज्जवल, निर्मल है, निरावाध है, देदीप्यमान है तथा निजरस से (अपने चैतन्यरस से) भरपूर है। ऐसी चैतन्यज्योति प्रगट होती हुई मुक्त दशा को प्राप्त करती है, दुःखरूप पुण्य-पाप के भावों को जीतकर- संवर को प्राप्त ज्ञानज्योति अव कभी आस्रवरूप नहीं होगी।

समयसार गाथा-३ में आता है कि प्रत्येक आत्मा अपने गुण पर्यायों का आलिगन करता हुआ, चुम्वन करता हुआ, स्पर्श करता हुआ टिक रहा है, तथा परद्रव्य या परद्रव्य के गुण-पर्यायों को कभी स्पर्श नहीं करता। आत्मा केवल अपने गुण व स्वसंवित्तिरूप ज्ञान की पर्याय का स्पर्श करता है। राग का भी स्पर्श नहीं करता। संवर अधिकार होने से यहाँ राग को भी आत्मा की पर्याय में से पृथक् कर दिया है।

तथा निजरस के भार से युक्त अर्थात् अपने चैतन्य रस के अतिशय से युक्त ज्ञानज्योति या चैतन्यप्रकाश उदय को प्राप्त हुआ है। अहाहा.....! कैसा अद्‌भुत कलश है, कैसी अलौकिक वात है। जिसतरह हजार पांखुड़ीवाले गुलाव की कली विकसित होती है, उसीप्रकार अनन्तगुण की अनन्त पांखुड़ियाँ विकसित होकर प्रगट होती हैं।

कलश १२५ के भवार्थ पर प्रवचन

अनादिकाल से जो आस्रव अपने विरोधी संवर को जीतकर मिथ्याभिमान से मदोन्मत्त हो रहा था, संवर ने उसे तिरस्कृत करके उस पर सदा के लिए विजय प्राप्त कर ली है। यहाँ निजरस पर बल दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि चैतन्यप्रकाश किसी शुभराग के कारण या अन्य किसी की कृपा के कारण उदित नहीं हुआ है, किन्तु निज चैतन्यरस के कारण उदित हुआ है। चैतन्यप्रकाश के उदय व संवर का कारण मंदराग नहीं है। अपने ज्ञानोपयोग का अपने स्वभाव के सन्मुख होना ही संवर के उदय का मूल कारण है।

समयसार गाथा १८१ से १८३

तत्रादावेव सकलकर्मसवंरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनंदति–

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२।।

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा।।१८३।।

संवर अधिकार के प्रारम्भ में ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्म के संवर करनें का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसकी प्रशंसा करते हैं:–

उपयोग में उपयोग है, उपयोग नहिं क्रोधादि में ।
है क्रोध क्रोधविषैं ही निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में।। १८१।।

उपयोग है नहिं अष्टविधि, कर्मों अवरु नोकर्म में ।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में।।१८२।।

ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के ।
तब अन्य नहिं कछु भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे।।१८३।।

गाथार्थ:– [उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोग में है, [क्रोधादिषु] क्रोधादि में [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोधे एव हि] क्रोध में ही है, [उपयोगे] उपयोग में [खलु] निश्चय से [क्रोध :] क्रोध

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ।।१८१।।

अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ।।१८२।।

एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा।।१८३।।

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव। ततः स्वरूप-प्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं, जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्।

[**नास्ति**] नहीं है । [**अष्टविकल्पे कर्मणि**] आठ प्रकार के कर्मो में [**च अपि**] और [**नोकर्मणि**] नोकर्म में [**उपयोगः**] उपयोग [**नास्ति**] नहीं है [**च**] और [**उपयोगे**] उपयोग में [**कर्म**] कर्म [**च अपि**] तथा [**नोकर्म**] नोकर्म [**नो अस्ति**] नहीं है,– [**एतत् तु**] ऐसा [**अविपरीतं**] अविपरीत [**ज्ञानं**] ज्ञान [**यदा तु**] जव [**जीवस्य**] जीव के [**भवति**] होता है, [**तदा**] तव [**उपयोगशुद्धात्मा**] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [**किंचित् भावम्**] उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को [**न करोति**] नहीं करता ।

टीका :– वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं; इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताऐं भिन्न-भिन्न हैं) और इसप्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, तव उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिये (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है । इसलिये ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है; क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, क्रोधादिक्रिया का क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण, क्रोधादिक में ही है । (ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, इसलिये ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है । जाननक्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न

क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः। न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति, परस्परमत्यंत स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात्। न च यथा ज्ञानस्य जानत्ता स्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यतादि स्वरूपं तथा जानत्तापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत् जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम्।

नहीं हैं । तात्पर्य यह है कि ज्ञान ज्ञान में ही है । इसीप्रकार क्रोध क्रोध में ही है ।) और क्रोधादिक में, कर्म में या नोकर्म में ज्ञान नहीं है तथा ज्ञान में क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं हैं; क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त विपरीतता होने से (अर्थात् ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से) उनके परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है । और जैसे ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है उसीप्रकार (ज्ञान का स्वरूप)क्रोधादिक्रिया भी हो अथवा जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादिक्रिया है उसीप्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो – ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं और इस भाँति स्वभावों के भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न ही हैं । इसप्रकार ज्ञान और अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है ।

इसी को विशेष समझाते हैं :– जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (आकाश के) आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है; तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से (अर्थात् अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य ही होने से) बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित (उद्भूत) नहीं होती; और उसके प्रभावित नहीं होने से 'एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और इसलिए ऐसा समझ लेनेवाले के पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता । इसप्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है' यह

किंच यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधदय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम्।

भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवाले के पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता, इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है ।

इसप्रकार (ज्ञान का और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का) भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ ।

भावार्थः– उपयोग में तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म– सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है । इसलिये उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है । इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना आधाराधेयत्व अपने-अपने में ही है । इसलिये उपयोग उपयोग में ही है और क्रोध क्रोध में ही है । इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया । (भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना,सो भेदविज्ञान है ।)

गाथा १८१ से १८३ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

संवर अधिकार के प्रारंभ में ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव भेदज्ञान की प्रशंसा करते हुए। कहते हैं कि भेदज्ञान ही संवर करने का एकमात्र उपाय है ।

यह अधिकार अन्य अधिकारों की तुलना में कुछ सूक्ष्म है; जब ध्यान देकर पढ़ेंगे-सुनेंगे, तभी समझ में आ सकेगा । अतः अपने उपयोग को सूक्ष्म करके – एकाग्र करके ही इसे सुनना-समझना पड़ेगा ।

यहाँ कहते हैं कि "वस्तुतः एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है अर्थात् वस्तुतः एक वस्तु का दूसरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

देखो, यदि यथार्थ दृष्टि से वस्तु के निकट जाकर देखा जावे तो एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। अन्य द्रव्य की तो बात ही क्या? ये आत्मा की विकारी पर्यायरूप आस्रवतत्त्व भी आत्मतत्त्व का नहीं है; क्योंकि यह आत्मा ज्ञायकस्वरूप चिदानन्दमय वस्तु है और दया, दान, व्रतादि के परिणाम आस्रवतत्त्व हैं। गाथा में 'खलु' शब्द आया है न? उसका अर्थ है कि वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। राग का परिणाम आत्मा का नहीं है और आत्मा राग का नहीं है। भाई! जिसे संवरधर्म प्रगट करना हो उसके लिए यह बात है। भगवान आत्मा त्रिकाल सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान है, वह पुण्य-पाप के भावरूप कभी नहीं होता।

पहली वस्तु का दूसरी वस्तु से कुछ भी संबंध नहीं है और दूसरी वस्तु का पहली वस्तु से भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक वस्तु पूर्ण स्वतंत्र है। भगवान आत्मा सहजानन्दस्वरूपी सदा परमज्ञान व आनन्दस्वरूप है।

यहाँ कहते हैं कि दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के शुभभाव भगवान आत्मा के (सम्बन्धी) नहीं होते और आत्मा इन शुभभावों में नहीं जाता अर्थात् शुभभाव रूप नहीं होता। ऐसे भेदज्ञान का नाम सम्यग्दर्शन है। पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा की वस्तु नहीं है, क्योंकि ये तो आस्रवतत्त्व हैं और सदा निर्मल चिदानन्दस्वभावी आत्मा जीवतत्त्व है। अतः दोनों वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा में आस्रव नहीं है और आस्रव में आत्मा नहीं है।

मूलगाथा में भी कहा गया है कि 'उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है। और क्रोध-क्रोध में ही है। उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है। इसीप्रकार आठप्रकार के कर्म में एवं नोकर्म में उपयोग नहीं और उपयोग में ये कर्म-नोकर्म नहीं हैं।

जब जीव को ऐसा अविपरीत (सच्चा) भेदज्ञान होता है, तब वह उपयोग स्वरूप आत्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता।

यहाँ संवर अधिकार में विकाररूप भावकर्म द्रव्यकर्म व नोकर्म

से भिन्न अर्थात् भेदज्ञान कराके 'जाननक्रिया' लक्षण द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया गया है, अतः यहाँ जाननक्रिया को आधार व आत्मा को आधेय कहा गया है ।

वस्तुतः तो त्रैकालिक आत्मा के आश्रय से होनेवाले भेदज्ञान के कारण जाननक्रिया का आधार आत्मा को ही कहना चाहिए, पर ज्ञान कराने की अपेक्षा यहाँ 'जाननक्रिया' के आधार से आत्मा की पहचान कराई गई है, इस कारण जाननक्रिया को आधार व आत्मा को आधेय कहा गया है । अधिकार अतिसूक्ष्म है, कथन की अपेक्षा को न समझे तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है । अतः ध्यान से सुनने-समझने की जरूरत है ।

उपयोग में उपयोग है अर्थात् राग से भिन्न होकर जो भेदज्ञान किया, उस जाननक्रिया में आत्मा है अर्थात् उस जाननक्रिया में आत्मा ज्ञात होता है । जाननक्रिया में आत्मा है, उसमें राग नहीं है अर्थात् जाननक्रिया स्वरूप आत्मा में राग नहीं है ।

भाई! यह तो जन्म-मरण के अभाव करने की बात है । संसार में पाप-पुण्य तो अनन्त बार किए । यदि एकबार नरक गया तो उसकी तुलना में असंख्यबार स्वर्ग भी गया – इसप्रकार अनन्तबार नरकों में एवं असंख्य-अनन्तबार स्वर्गों में गया, पर जिन परिणामों से तू नरक व स्वर्ग गया, वे पाप-पुण्य के परिणाम आत्मा के नहीं है । पुण्यरूप व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प आत्मा में नहीं है और आत्मा व्यवहार रत्नत्रयरूप पुण्यभावों में नहीं है । भाई! आत्मवस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है, जो पुण्य से जाना-पहचाना जा सके। राग से या पुण्य से भेदज्ञान करके ज्ञान की परिणति द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेने पर ही उसकी जाननक्रिया में आत्मा ज्ञात होता है ।

राग जड़ है, अजीव है । देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, शास्त्र पढ़ने का विकल्प अथवा पंचमहाव्रतादि के परिणाम – ये सब जड़ हैं अजीव हैं । न तो ये सब आत्मा के आधार से हैं और न आत्मा के आधार से उत्पन्न ही होते हैं । भाई! जिसतरह व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प आत्मा के आधार से उत्पन्न नहीं होते, उसीप्रकार राग के आधार से आत्मा जाना भी नहीं जाता । जिसतरह जड़पुद्गल और आत्मा जुदा है, उसीप्रकार आस्रव व आत्मा भी जुदा है । भगवान ने सात तत्त्वों में

आस्रवतत्त्व व जीवतत्त्व भिन्न-भिन्न कहे हैं । अतः जिसे भेदज्ञान करना हो, उसे राग का आश्रय छोड़कर ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेना चाहिए ।

वस्तुतः एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है । इसकारण आत्मा ज्ञानक्रिया के आधार से जाना जाता है और राग|राग के आधार से होता है । व्यवहार रत्नत्रय का राग आत्मा के आधार से नहीं होता, वह निमित्त के आश्रय या आधार से होता है; क्योंकि उसका झुकाव पर की ओर है ।

यदि कोई ऐसा माने कि व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभभाव करते-करते निश्चय प्रगट होता है, तो उसका ऐसा मानना यथार्थ नहीं है, व्यवहार-वस्तु जुदी है और ज्ञानक्रिया के आधार से ज्ञात होनेवाली आत्मवस्तु जुदी है । आस्रवभाव व चैतन्यभाव में परस्पर कोई संबंध नहीं है । आस्रव भी वस्तु है, परन्तु वह अपने आस्रवपने से है, उसमें जीवतत्त्व का अभाव होने से वह जीवपने नहीं है । आगे २००वें कलश में भी यही कहा गया है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से किसी प्रकार का कोई संबंध है ही नहीं ।

यहाँ शिष्य पूछता है कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, इसका क्या कारण है? उत्तर में कहते हैं कि दोनों में प्रदेशभेद होने से उनके एक सत्ता की अनुप्पत्ति है । अर्थात् दोनों की सत्ता जुदी-जुदी है । शुद्ध आत्मा के प्रदेश व आस्रव के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं । हैं तो असंख्यप्रदेश ही, पर जितने अंश में आस्रव उत्पन्न होता है, उन प्रदेशों को भिन्न कहा है ।

जगत तो ऐसा माने बैठा है कि व्रत, तप, उपवास, भक्ति, तीर्थयात्रा आदि करने से धर्म होता है, पर यहाँ संवर अधिकार में असली धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि ये सब तो शुभराग हैं, अतः इनसे धर्म नहीं होता । धर्म तो एक वीतरागभावरूप है । ऐसा क्लेश तो अनंतबार किया, पर वीतरागभाव के बिना धर्म का अंश भी प्रगट नहीं हुआ । भाई! अज्ञानी को खबर नहीं है कि राग क्लेश है, दुःखरूप है, उसमें धर्म कहाँ?

जिसतरह एक आत्मा दूसरे आत्मा का नहीं है, जिसतरह आत्मा शरीर में नहीं है और शरीर आत्मा में नहीं है; उसीप्रकार दया, दान, व्रत आदि के विकल्प राग हैं तथा उनका क्षेत्र – प्रदेश भिन्न है और आत्मा का प्रदेश भिन्न है । दोनों वस्तुयें ही भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं ।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में विकार होता है परन्तु जितने अंश में विकार उत्पन्न होता है, उन प्रदेशों को भिन्न कहा गया है । इसतरह आस्रव व आत्मा के प्रदेश भिन्न-भिन्न होने से उन दोनों के एक सत्ता की अनुप्पत्ति है । आत्मा के असंख्यप्रदेशों में दो भाग पड़ते हैं । जो द्रव्य है, वह पर्याय नहीं और जो पर्याय है, वह द्रव्य नहीं ।

वस्तुत: देखा जाये तो निर्मलपर्याय के प्रदेश (अंश) भी ध्रुव आत्मा से जुदे हैं, पर यहाँ निर्मलपर्याय की बात नहीं है, यहाँ तो मलिन पर्याय की बात है । जितने अंश में आस्रव होता है तथा जितने अंश में संवर (निर्मलता) होता है – ये दोनों (आस्रव व संवर) के प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं । गजब बात है । भाई! देखो, ये माथे के बाल हैं न? इनमें कोई-कोई बाल ऐसा होता है, जिसकी जड़ एक व फनगा (सिरे) दो होते हैं; किन्तु वे फनगे चिरते नहीं हैं, उन्हें चीरकर दो बाल नहीं बनाया जा सकता; परन्तु ज्ञान में ऐसी विशेषता है कि अखण्ड में भी अंशभेद किये जा सकते हैं । यह कोई अलौकिक बात है, जो दिगम्बर संतों के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है । अहो! दिगम्बर संत तो केवली के आड़तिया हैं ।

अहा! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव इस जीव को कब-कब मिलता है, जो हमें सहज सुलभ हो गया है और इसमें भी ऐसी अलौकिक तत्त्व की मूल बात का पाना तो और भी अतिदुर्लभ है, जो हमें मिल गई है । यह हमारा कोई सातिशय पुण्य का उदय ही जानना चाहिए । जो इसे पाकर भी खो रहे हैं, उनके अभाग्य की महिमा कैसे कहें? जो ऐसा अवसर पाने पर भी पाप से निवृत्त नहीं होते । सारा दिन धंधा-व्यापार एवं स्त्री-पुत्रादि को संभालने में ही लगे रहते हैं तथा भोग भोगने की सामग्री जुटाने में ही लगे रहते हैं । कदाचित् एकाध घण्टे का समय शास्त्र-श्रवणादि में लगता है, तो वह भी शुभभाव ही है, उससे भी पुण्य ही बंधता है, धर्म उससे भी नहीं होता । अरे भाई! यह मनुष्यभव यों ही चला जा रहा है । यदि मिथ्यादर्शन रह गया तो आँख मिचते ही पता नहीं कहाँ चला जायेगा? चौरासी लाख योनियों में ऐसा खो जायेगा कि कहीं पता भी नहीं चलेगा ।

यहाँ कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव – ये दोनों आस्रव हैं तथा अपने से भिन्न वस्तुयें हैं । इन्हें अपना मानना मिथ्यात्व तो है ही, आत्मघातक होने से हिंसा भी है । इसीतरह पर की दया पालने का भाव भी स्वभावभाव न होने से हिंसा ही है । और इसे अपना मानना महा मिथ्यात्व है । राग से भिन्न होकर भगवान ज्ञायक के आश्रय से जो

ज्ञानक्रिया रूप वीतरागी अवस्था होती है, वह अहिंसा है। और ऐसे अहिंसक भाव से आत्मा ज्ञात होता है। यदि यह बात समझ में आ जावे तब तो वेड़ा पार ही हो जावे, महाकल्याण हो जावे।

अहाहा----! आत्मा आनन्दकंद चैतन्यबिम्ब अनन्त चैतन्यप्रकाश का पिण्ड है और राग अंधकार है। राग न तो स्वयं को जानता है और न साथ रहनेवाले आत्मा को ही जानता है। राग चैतन्य द्वारा जाना जाता है। इस कारण राग जड़स्वभावी है, अजीव है। भाई! धर्मीजीव का जीवन तो स्वानुभव है। राग से भेदज्ञान करके भेदविज्ञान की परिणति सहित जीना ही धर्मी जीव का जीवन है। राग को अपना कर्तव्य मानकर जीना तो मिथ्यात्व का जीवन है, यह चैतन्य का जीवन नहीं है। यहाँ कहतें हैं कि राग व आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं, राग व निर्मल परिणति के अंश (प्रदेश) भिन्न हैं। अहो! यह भेदज्ञान की अपूर्व बात है।

यहाँ तक दो वातों का स्पष्टीकरण हुआ। एक तो यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है और दूसरी यह कि आस्रव व आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न हैं।

अब तीसरी बात यह है कि इसप्रकार जब एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है, तो उसमें परस्पर आधार-आधेयसम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठारूप-दृढ़तापूर्वक रहने रूप आधार-आधेयसम्बन्ध होता है।

देखो, यहाँ यह कह रहे हैं कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होने से अथवा आस्रव आत्मवस्तु का नहीं होने से आत्मा के साथ आस्रव का आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है। व्यवहार रत्नत्रयरूप राग के आधार से आत्मा जाना जाये अथवा आत्मा के आधार से व्यवहाररत्नत्रयरूप राग होता हो – ऐसा आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है। जाननक्रिया जो कि आत्मा के स्वरूपभूत है, उसमें आत्मा ज्ञात होता है। इसलिए आत्मा की अपने स्वरूपभूत जो जाननक्रिया है, उसमें प्रतिष्ठारूप-दृढ़पने रहनेरूप आधार-आधेयसम्बन्ध है। परन्तु राग में रहनेरूप आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है।

राग और आत्मा भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। जो आत्मा से भिन्न है, उस राग से आत्मा का लाभ मानना और उसमें अपना कर्तव्य मानना मिथ्याभाव है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप को छोड़कर यदि शुभराग का कर्ता

होता है तो वह मिथ्याभाव है। अहाहा ! शुद्ध चैतन्य के भानपूर्वक जिसने राग से भेदविज्ञान किया है:–ऐसा ज्ञानी रागवाला होकर भी राग का कर्ता नहीं होता । अहाहा----! राग में आत्मा नहीं और आत्मा में राग नहीं – ऐसा शुद्ध आत्मा सदा सर्वज्ञस्वरूप है । जाने सवको, पर करे कुछ नहीं– ऐसा आत्मवस्तु का स्वरूप है ।

अरे भाई सुना न! ये पंच महाव्रत व अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का राग दुःख है, आस्रव है । ऐसी राग की क्रिया तो अनन्तवार की है, पर राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज आत्मा का ज्ञान आजतक नहीं किया । भेदविज्ञान विना, सम्यग्दर्शन विना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं होता ।

ज्ञान व आनन्द की परिणति से ही आनन्द का नाथ भगवान आत्मा जाना जा सकता है । आनन्द व दुःख का स्वरूप ही सर्वथा भिन्न-भिन्न है। प्रभो! तू इसे जानने की कोशिश क्यों नहीं करता? तेरा नाथ तो तेरे अन्दर में ही निर्मलानन्द, सच्चिदानन्दस्वरूप विराज रहा है, जाननक्रिया उसका स्वरूप है, जाननक्रिया में ही वह जाना-देखा जा सकता है । राग–आस्रव उसका स्वरूप नहीं है, राग–आस्रव से आत्मा की पहचान नहीं हो सकती, राग से आत्मा नहीं जाना जा सकता । राग तो जड़स्वरूप है । पंचमहाव्रत के परिणाम भी राग हैं, इसकारण जड़ हैं, दुःखस्वरूप हैं, अजीव हैं । आत्मा से इसका लक्षण सर्वथा भिन्न है, इसके प्रदेश भिन्न हैं, इसकारण इसका अस्तित्व ही जुदा है । राग के व आत्मा के आधार–आधेयसम्वन्ध नहीं है । राग का आधार-आधेयसम्वन्ध भी जुदा है ।

अहा---! यदि पांच पचास लाख रुपया मिल जावे तो ऐसा समझने लगता है कि मैं चौड़ा और वाजार सकड़ा, परन्तु भाई! यह सव वैभव तो परवस्तु है । जव राग को भी पर कहा है तो शरीर और रुपया-पैसा आदि अपने कैसे हो सकते हैं? इस व्यवहार रत्नत्रय के राग को भी यहाँ परवस्तु कहा है । वापू! तुझे यह आत्मतत्त्व की वात सुनना अरुचिकर लगता है, पर सुखी होने का उपाय तो एकमात्र यही है ।

आनन्द का सागर भगवान आत्मा जो कारण परमात्मा के रूप में अन्दर मौजूद है, वह अपनी शुद्ध परिणति में ज्ञात होने के स्वभाव वाला है । इसकारण यहाँ शुद्ध परिणति को आधार और आत्मा को आधेय कहा है । वस्तु सदैव परमात्मस्वरूप ही है; परन्तु यह परमात्मस्वरूप

आत्मा जब अपने ज्ञान का ज्ञेय बने, अनुभव में आवे, तभी परमात्मस्वरूप कहलाता है । इसके सिवा अन्य कोई भी शुभक्रियायें करे, यहाँतक कि समोशरण में विराजमान साक्षात् तीन लोक के नाथ परमात्मा के दर्शन-भक्ति करे तो भी आत्मलाभ नहीं होता, क्योंकि यह सब तो शुभराग है तथा यह राग व आत्मा सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक शास्त्र में यह लिखा है कि जिस भाव से तीर्थकर नामक नामकर्म की प्रकृति का बंध हो, वह राग भी हिंसा व अपराध है । तीर्थंकर कर्मप्रकृति बंधते ही दो भव बढ़ जाते हैं । भाई! अमृत के नाथ को शरीर का मिलना ही कलंक है । भाई! यथार्थ मार्ग तो यह है। इसे एकान्त कहकर तू इस सत्य तथ्य से इन्कार मत कर। अरे भाई ! यह तो सम्यक् एकान्त है ।

भगवन्! तेरी वस्तु कैसी है और वह कैसे जानी जाये? तुझे इसकी खबर नहीं है । तेरी वस्तु में तो आनन्द ही आनन्द भरा है और वह ज्ञान की निर्मल परिणति में ज्ञात होता है । इस आनन्दरूप वस्तु में जो आस्रव का परिणाम होता है, वह दु:खरूप है । यह बात जिसे आजतक सुनने को नहीं मिली और इसकी जिसे महिमा नहीं आई, वह विरोध प्रगट करता हुआ कहता है कि यह तो निश्चय की बात है । पर भाई! निश्चय का नाम ही तो यथार्थ, वास्तविक, निरुपचार व सत्यार्थ वस्तु है ।

महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजते हैं । उनकी करोड़ पूर्व की आयु है । सम्वत् ४९ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य उनके समोशरण में गये थे और आठ दिन रहे थे । वहाँ से वे यह संदेश लाये हैं कि राग आत्मा का नहीं है और आत्मा राग का नहीं है । आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान का भण्डार है और राग दु:ख का भण्डार है । आचार्य महाराज ने गाथा व टीका में जो कहा है, यहाँ उसी का स्पष्टीकरण किया जा रहा है । अन्त में तो यहाँ तक कह दिया कि भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप-ज्ञानस्वरूप है। तथा दया, दान आदि का भाव एवं देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग-ज्ञान नहीं है, इस कारण अज्ञान है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा राग में नहीं और राग ज्ञानस्वरूपी आत्मा में नहीं है । ज्ञान (आत्मा) व अज्ञान (राग) भिन्न-भिन्न हैं।

भेदज्ञान क्या वस्तु है, यह बात जीवों ने आजतक सुनी नहीं है, और इसके सुने बिना चार गति में भटकना मिटता नहीं है । अत: भेदज्ञान की बात सुनना एवं स्वयं में भेदज्ञान प्रगट करना अति आवश्यक है ।

नवतत्वों में प्रत्येक तत्व भिन्न-भिन्न है । राग आस्रव है और आत्मा आनन्दकन्द प्रभु ज्ञायक है । उन दोनों के बीच आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है । व्यवहार रत्नत्रय द्वारा आत्मा जाना जा सके और आत्मा में व्यवहाररत्नत्रय (राग) हो – ऐसा संभव ही नहीं है । धर्म की मूल बात तो यह है । राग के आधार से आत्मा जानने में आवे और ज्ञान से राग की उत्पत्ति हो – ऐसा नहीं होता, क्योंकि राग की उत्पत्ति पर के लक्ष्य से और ज्ञान की उत्पत्ति स्व के लक्ष्य से होती है । दोनों की दिशा व दशा में मूलभूत अन्तर है । पर की ओर की दिशा से राग की दशा उत्पन्न होती है तथा स्व के ओर की दिशा से धर्म की दशा उत्पन्न होती है । भाई! धर्म की दशा का आश्रय स्व है, राग नहीं, पर नहीं । अहो! धर्म कोई असाधारण-अलौकिक वस्तु है ।

यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा को 'भगवान आत्मा' कहकर अज्ञान में से जागृत किया है । वे कहते हैं – जाग रे जाग, प्रभु! तू तीन लोक का नाथ है। तेरे में अनन्त-अनन्त आनन्द की पूंजी भरी पड़ी है । इस सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का जो स्वाद आता है, वह तेरी चैतन्यपूंजी में से ही आता है । यह चैतन्यलक्ष्मी तेरी निजी पूंजी है । यह जगत की धूल-धानी तेरी यथार्थ पूंजी नहीं है । यह शरीर आदि तो हाड़-मांस का पिण्ड है। इसमें जो सड़न-गलन की क्रियायें होती हैं, वे सब जड़ की क्रियायें हैं –

१ जड़ की क्रियायें : शरीर का हलन-चलन होना, उठना-बैठना, खानापीना आदि सब जड़ की क्रियायें हैं, आत्मा की नहीं ।

२. विभाव क्रियायें : आत्मा का रागादि रूप विकारी परिणमन विभाव क्रियाओं में आता है। ये दुःखरूप क्रियायें हैं। दया-दानादि राग के परिणाम भी क्रोध-लोभ की भाँति विकारीभाव होने से दुःखरूप ही हैं ।

३. ज्ञान की क्रिया : राग से भेदज्ञान करके स्वरूप में अन्तर एकाग्र होना ज्ञान की क्रिया है । इसमें अतीन्द्रिय आनन्द आता है । राग से भिन्न आनन्द के नाथ भगवान आत्मा पर दृष्टि पड़ने पर जो ज्ञानक्रिया होती है, उसके साथ शुद्धता का आनन्द आता है । राग में आनन्द है ही कहाँ? अरे भाई! स्त्री-पुत्रादि एवं रुपया-पैसा में आनन्द नहीं है । जिसमें राग की उत्पत्ति ही नहीं होती – ऐसी ज्ञानक्रिया या जाननक्रिया के साथ अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति होती है । वस्तुतः यह ज्ञानक्रिया ही धर्म की क्रिया है ।

प्रश्नः– तो क्या जीवों की दया पालने में भी धर्म नहीं?

उत्तरः– राग की उत्पत्ति न होना और जाननेरूप ज्ञातादृष्टापने की पर्याय उत्पन्न होना ही सच्ची दया है। राग की उत्पत्ति होना तो आत्मा की अदया है, हिंसा है। धर्मी को भी दया आदि का राग होता है।

आचार्य महाराज ने आत्मा में राग की उत्पत्ति न होने को और जानन-पर्याय उत्पन्न होने को ही सच्ची दया (अहिंसा) कहा है। धर्मी जीवों को भी भूमिकानुसार दया-दान आदि का रागभाव होता है, परन्तु वे उसे धर्म नहीं मानते। व्यवहार से उपचार से दया के शुभराग को धर्म कहा गया है तथा पाप की अपेक्षा शुभराग रूप पुण्य का परिणाम जगत में प्रशंसनीय भी है, परन्तु धर्म नहीं है। धर्म तो एक वीतराग परिणाम का नाम है, राग धर्म नहीं है।

आगे कहा है कि 'इसलिए जो जाननक्रियारूप ज्ञानपर्याय अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित है, वह ज्ञानस्वभाव से अभिन्न होने से ज्ञान में ही है।

राग से भिन्न होकर स्वरूप के लक्ष्य से जो जाननक्रियारूप वीतरागतारूप आनन्द की दशा हुई, उसमें आत्मा का स्वरूप प्रतिष्ठित है अर्थात् उसमें आत्मा है, उसमें आत्मा ज्ञात होता है। इसकारण जाननक्रिया आधार है और आत्मा आधेय है। अहाहा---! शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के लक्ष्य से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान व आनन्दरूप परिणति होती है, उसमें आत्मा जानने में आ जाता है। इसलिए उसे आधार कहा है और आत्मा को आधेय कहा है। यह जाननक्रिया स्वभावभूत होने से आत्मा से अभिन्न है। इसलिए कहा है कि ज्ञान आत्मा में ही है।

आगे टीका में कहा है कि इसी तरह 'क्रोधादिक भी क्रोधादि क्रियारूप से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। क्रोधादि क्रिया का भी क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण वह क्रोधादिक में ही है।'

यहाँ आत्मस्वभाव की अरुचिरूप जो क्रोधमानमायालोभ को क्रोधादि कहा है। स्वरूप का अनादर व अरुचि के दो प्रकार हैं– एक राग व दूसरा द्वेष। उसमें स्वरूप की अरुचिरूप जो द्वेषभाव है, उसके भी दो प्रकार हैं – एक क्रोधरूप व दूसरा मानरूप। तथा स्वरूप के प्रति

अनादररूप जो राग है, उसके भी दो प्रकार हैं एक मायारूप व दूसरा लोभरूप ।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा तो सदा आनन्दरूप से ही अन्दर में विराजता है । उसका आश्रय न करके जिसने पुण्यभाव की रुचि की, उसे निज आत्मा के प्रति द्वेष है — ऐसा समझना चाहिए । यहाँ कहते हैं कि आत्मा की अरुचिरूप क्रोधादि परिणाम की जो क्रिया हुई, उसके आधार से क्रोधादि हैं । विकार के परिणमन की क्रिया के आधार से विकार है, आत्मा के आधार से विकार नहीं होता। आत्मा की क्रिया से विरुद्ध रागादिमय क्रोधादि की क्रिया है। जीव की क्रोधादि की पर्याय अनादि से क्रोधादि क्रिया में है, उसकी परिणति में क्रोधादि विकारभाव आत्मा के कारण से नहीं हैं । विकार भी अपने षट्कारक से परिणमित होता है ।

क्रोधादि क्रिया अर्थात् विकार के षट्कारकरूप परिणमन में क्रोधादि हैं, आत्मा नहीं है तथा आत्मा में क्रोधादि नहीं हैं । स्वरूप की विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व की क्रिया के परिणमन में विकार है, आत्मा के परिणमन में मिथ्यात्वादि विकार नहीं हैं ।

क्रोधादि क्रिया में अर्थात् क्रोधादि परिणमन में क्रोधादि हैं, आत्मा की पर्याय में क्रोधादि परिणमन नहीं हैं । आत्मा की पर्याय तो जानना, देखना व आनन्द आदि है । आत्मा की पर्याय में भगवान आत्मा ज्ञात होता है, क्योंकि इसमें भगवान आत्मा है । क्रोधादि पर्याय में आत्मा ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उसमें आत्मा है ही कहाँ, जो ज्ञात हो ।

यहाँ कहते हैं कि क्रोधादि क्रिया का क्रोधादि से अभिन्नपना है । जिसतरह ज्ञान व आनन्द का परिणमन ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा से अभिन्न है, उसी तरह क्रोधादि का परिणमन क्रोधादि से अभिन्न है । क्रोधादि के परिणमन में क्रोधादि ही ज्ञात होते हैं, जानने में आते हैं, आत्मा नहीं । पुण्यपापरूप परिणमन में पुण्यपाप का अस्तित्व ही ज्ञान में होता है, पुण्यपाप के भाव में आत्मा का अस्तित्व है एवं आत्मा से वे हुए हैं — ऐसा जानने में नहीं आता । यहाँ दोनों के बीच की गाँठ को भेद दिया है ।

जहाँतक पर्यायबुद्धि है, वहां तक राग की बुद्धि है । इस राग की बुद्धि के आधार से राग है, आत्मा के आधार से राग नहीं है । क्रोधादि क्रिया का क्रोधादि से अभिन्नपना होने के कारण अर्थात् विकार का परिणमन विकार से एकमेक होने के कारण विकार विकार में ही है ।

विकार लक्ष्य पर है; परंतु वह अपने विकार के परिणमन में है, आत्मा में नहीं और पर निमित्त में भी नहीं है। जिस तरह उस विकार का परिणमन विकार में है, पर के परिणमन में नहीं है, उसीतरह आत्मा के परिणमन में भी नहीं है । पर्यायबुद्धि में जो विकार हुआ, उस विकार के परिणमन का आधार विकार है। मिथ्यादृष्टिपने का परिणमन मिथ्यादृष्टिपने में है– ऐसा कहते हैं । परिणमन का स्वरूप ही अपने में परिणमन करने का है, क्योंकि विकार की एक समय की पर्याय भी अपने षट्कारक से परिणमन किया करती है, निमित्त के कारण नहीं तथा अपने द्रव्य-गुण के कारण भी नहीं ।

भाई! यह तो वीतराग का तत्त्वज्ञान है । जिसे इन्द्र व गणधर भी एकाग्रचित्त होकर सुनते हैं । अहा! चार ज्ञान के धारी तथा जिन्हें ग्यारह अंग व चौदह पूर्व का ज्ञान प्रगट हुआ है–ऐसे गणधर भी जिस दिव्यध्वनि को सुनते हैं, वह दिव्यध्विन कैसी होती होगी? उस परम अद्भुत और अलौकिक वाणी को एकबार सुन तो सही! उसमें कहा गया है कि तू तेरी जाननक्रिया में रहता है । स्वरूप के लक्ष्य से जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द व स्थिरता की क्रिया होती है, वह क्रिया स्वरूपभूत होने से अपना आत्मा ही उसमें रहता है । अपना आत्मा शरीर में, वाणी में, कुटुम्ब में या राग में नहीं रहता ।

समयसार गाथा ६ में आता है कि शुभाशुभभाव के स्वभावरूप से भगवान ज्ञायक कभी हुआ ही नहीं । ज्ञायकभाव अर्थात् समझ का पिण्ड, ज्ञान का सागर भगवान आत्मा अपनी ज्ञान की परिणति में रहता है, शुभाशुभ भावों में नहीं । शुभाशुभभाव तो जड़ हैं । भाई! इस पंचमकाल में भी ज्ञायक आत्मा तो परिपूर्ण ही है । जो दोष है, वह तो मात्र पर्याय में है ।

यह देह तो जड़ (माटी) है । इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । यहाँ कहते हैं कि भगवान्! तेरी महिमा अपरम्पार है । तू अपनी महिमा भूल गया है, इसकारण तुझे राग की क्रिया व पुण्य की क्रिया की महिमा आती है । यहाँ कहते हैं कि मिथ्याभ्रान्ति का परिणमन मिथ्याभ्रान्ति के कारण है, आत्मा के कारण नहीं, अन्यथा मिथ्याभ्रान्ति आत्मा का (त्रैकालिक)स्वभाव हो जाय,यह तो चैतन्य के चमत्कार की बातें हैं । भगवान! तेरा चमत्कार तो राग रहित तेरे ज्ञान की चमत्कारिक परिणति में ज्ञात होता है । आत्मा पवित्र (शुद्ध) है, यह पवित्र ज्ञान का ही स्वरूप है, यही उसका आधार है, क्योंकि जाननक्रिया व ज्ञान एकमेक

है । जानने की,श्रद्धा की, आनन्द की वीतराग परिणति आत्मा से भिन्न नहीं है, एकमेक है । इससे यह सिद्ध ही है कि ज्ञान ज्ञान में ही है । आत्मा आत्मा में ही है । इसीतरह क्रोध क्रोध में ही है, आत्मा में नहीं । देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग तथा पंचमहाव्रतादि के परिणाम आदि विकार विकार में हैं, आत्मा में नहीं । और क्रोधादिक में, कर्म में या नोकर्म में ज्ञान नहीं है तथा ज्ञान में क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं है, क्योंकि उनमें परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता होने से उनके परमार्थभूत आधार-आधेय संबन्ध नहीं है।

पहले कह आये हैं कि ज्ञान ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं । अब कहते हैं कि क्रोधादि में, कर्म में अथवा नोकर्म में ज्ञान (आत्मा) नहीं है तथा आत्मा में क्रोधादि, कर्म व नोकर्म नहीं है । देखो, ज्ञान-श्रद्धान व रमणता रूप आत्मा का परिणमन राग के कारण, कर्म के कारण या नोकर्म के कारण नहीं हैं । आत्मा को कर्म की ऐसी भी कोई पराधीनता नहीं है कि जब कर्म रास्ता देंगे, तभी आत्मा में ज्ञान व श्रद्धान का सम्यक् परिणमन होगा, अन्यथा नहीं । यह शरीर-मन-वाणी, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार इत्यादि में आत्मा नहीं है । इसके कारण आत्मा को कुछ लाभ-हानि हो-ऐसा भी नहीं है। नियमसार में उद्‌धृत एक श्लोक में कहा गया है कि स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-परिवार वगैरह तो धूर्तों की टोली है, जो आजीविका के लिए इकट्‌ठी हुई है । यदि राजरोग हो जाने पर चार-छह महीने सेवा करनी पड़े तो ये सब यह सोचने लगते हैं कि बुडढा 'मरे न माचा छोड़े' लोकलाज से सेवा करता भी है, परंतु मन में तो अत्यन्त अरुचि व उपेक्षा ही वर्तती है । सारे संसार की यही दशा है । अतः इनमें अपने उपयोग को भटकाना ठीक नहीं है ।

यहाँ कहते हैं कि भाई, क्रोधादि विकार में, कर्म व नोकर्म में ज्ञान (आत्मा) नहीं है और ज्ञान में (आत्मा में) क्रोधादि विकार कर्म व नोकर्म नहीं है । इनमें परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है । पुण्यपाप के भावों में व आत्मा में परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है । आत्मा का तो ज्ञायक स्वरूप है तथा क्रोधादि का इनसे विरुद्ध जड़ स्वरूप है, इसकारण आत्मा में रंग-राग के भाव नहीं हैं।

शुभराग में व भगवान आत्मा में परस्पर अत्यन्त विरोध होने से उनमें परस्पर आधार-आधेयसंबंध नहीं है । आत्मा की परिणति आधार व रागादि आधेय – ऐसा नहीं है । तथा रागादि आधार व ज्ञान आधेय

— ऐसा भी नहीं है । अहा! अमृत को प्राप्त कराने वाले अमृतचंद्र के ये अमृतवचन हैं।

भाई! तू ने अपनी महिमा राग में व पुण्य में डाल दी है । तथा कदाचित् शरीर अनुकूल मिल गया तो उसमें तूझे विशेषता भाषित होने लगती है । इसप्रकार अपने स्वभाव के सिवाय परवस्तु तुझे रुचिकर लगती है, पर भाई! तू इसी पर की महिमा में महिमावंत होने के कारण अनन्तकाल से दुःखी हो रहा है।

आत्मा ज्ञान व आनन्द स्वरूप है और रागादि आस्रव जड़ व दुःख स्वरूप है । इसप्रकार आत्मा व आस्रवों में अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है । इसकारण दोनों के परमार्थता आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है । यदि कोई कहे कि न सही परमार्थभूत आधार-आधेय सम्बन्ध, पर व्यवहार से तो इनका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ? उनसे कहते हैं कि भाई, असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त का ज्ञान कराने के लिए यह सम्वन्ध कहा जाता है ।

प्रश्न — 'कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है' यह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है, जो केवल उपचार है । इसके विपरीत यहां तो यह कहा जा रहा है कि क्रियाकाण्ड अर्थात कर्मकाण्ड व ज्ञान में परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है, यह निश्चयनय का कथन है, जो यथार्थ है, सत्यार्थ है ।

उत्तर—'व्यवहार से निश्चय होता है' ऐसा व्यवहार का कथन जयसेनाचार्य की टीका में कहीं-कहीं लिखा मिलता है, इसकारण लोगों को ऐसा भ्रम होता है; परंतु यह सब असद्भूत व्यवहारनय का कथन है । यहां यह बात नहीं है, यहां तो यह कह रहे हैं कि व्यवहार (राग) व आत्मा के स्वरूप विपरीतता है । इसलिए आत्मा के व व्यवहार के (रागादि आस्रवों के)आधार-आधेय सम्बंध नहीं है । जहां आधार-आधेय सम्बन्ध कहा हो, वहां यह व्यवहारनय का उपचार कथन है — ऐसा समझना । राग आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसकारण वह असद्भूत व्यवहारनय का विषय है । निश्चय के साथ-साथ भूमिकानुसार जो राग होता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उसे व्यवहारनय से कहा जाता है । समयसार गाथा १२ में भी यही कहा है कि भूमिकानुसार होनेवाला व्यवहार केवल जानने के लिए प्रयोजनवान है ।

स्व के आश्रय से प्रगट हुआ ज्ञान व आनंद सुख का कारण है तथा

स्त्री, कुटुम्ब , परिवार, धंधा-व्यापार आदि पर के आश्रय से हुआ राग तथा परपदार्थों के आश्रय से हुआ ज्ञान दुःख का कारण है । पण्डित हुकमचंदजी ने 'तीर्थंकर भगवान महावीर' पुस्तक में लिखा है न, कि 'शादी एक ऐसी दुर्घटना है कि जिसके घटने पर दुर्घटनाओं का सिलसिला शुरू हो जाता है । यही कारण है कि भगवान महावीर ने शादी नहीं की थी ।'

ये दुर्घटनाएं तो केवल पापरूप ही हैं, इनकी यहां बात नहीं है । यहां तो यह बात है कि देव-गुरू-शास्त्र की श्रद्धा का राग; उनका ज्ञान और यह रागरूप आचरण सभी पराधीनताएं हैं; क्योंकि देव-गुरू-शास्त्र परद्रव्य हैं — इसप्रकार पर के लक्ष्य से हुई पराधीन दशा तथा स्वभाव के लक्ष्य से हुई स्वाधीन दशा के परस्पर विरोध है, स्वरूप विपरीतता है। तथा ज्ञान का स्वरूप जैसा जाननक्रियारूप है, उसीप्रकार क्रोधादि क्रियारूप भी हो अथवा जैसा क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रियारूप है, उसीप्रकार जानन क्रियारूप भी हो — ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती है और स्वभावों के भिन्न होने से वस्तुएं भिन्न ही हैं । इसप्रकार ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोध में) आधार-आधेय नहीं है ।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा शुद्ध पवित्र चिदानंदघनस्वरूप है, सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा ही आत्मा देखा है । इसका जो राग से भिन्न होकर सम्यक्श्रद्धा, निराकुल शान्ति एवं अतीन्द्रिय आनंद की क्रियारूप शुद्ध परिणमन है, उसे ही जाननक्रियारूप परिणमन कहा गया है । तथा दया, दान, व्रतादि राग की रुचिरूप परिणमन है, उसे क्रोधादिक्रिया कहते हैं । इन दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है । जाननक्रिया से क्रोधादि क्रियायें विरुद्ध है । जाननक्रियारूप परिणमना मोक्षमार्ग है और इसका फल मोक्ष है, अनंतसुख है तथा क्रोधादिरूप परिणमना बन्धमार्ग है और इसका फल संसार है, अनंत दुःख है ।

जाननक्रिया धर्म की क्रिया है तथा राग की रुचिरूप क्रोधादि क्रियायें स्वभाव से विरुद्ध होने से अधर्म की क्रियायें हैं । जो अनादि से रागदि के साथ एकत्व की क्रियायें हैं, वो क्रोधादि की क्रियायें हैं तथा जो स्वभाव के साथ एकत्व हुआ, वह जाननक्रिया है । उसे ही सम्यग्दर्शन की क्रिया, आनन्द की क्रिया, शुद्धता की क्रिया, स्वरूप की क्रिया और वीर्य की क्रिया इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है । वस्तुतः यही एकमात्र यथार्थ धर्म की क्रिया है । बापू ! एकबार ऐसा निर्णय कर

इसके बिना धर्म का लाभ नहीं होता। भाई, यह अंतरंग पुरुषार्थ का काम है। मात्र बाह्य क्रिया, आचरण करने से इसकी उपलब्धि नहीं होती। यह तो अन्तरोन्मुखी प्रयत्न करने से ही प्राप्त हो सकती है। अतः इसे प्राप्त करने के लिए भेदज्ञान द्वारा स्वरूपसन्मुख होने का उद्यम करना चाहिए।

यहां तो सत्य को जाहिर करने की बात है। यद्यपि भूमिकानुसार राग होता है, पर राग आत्मोपलब्धि का साधन नहीं है। अंतरात्मा में साधन नाम का-करण नाम का गुण है। जब यह साधन या करणगुण साधन बनकर निर्मल जाननक्रिया के भावरूप परिणमित होता है, तब निमित्तों को आरोप से या उपचार से साधन कहा जाता है।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में आये 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्' सूत्र का उल्लेख करते हुए कुछ लोग निमित्त को कार्य का प्रमुख कारण मानते हैं, पर उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि धवला टीका में तथा पं० सदासुखदासजी द्वारा लिखित 'अर्थप्रकाशिका' टीका में 'परस्पर उपग्रह' का अर्थ एक दूसरे का उपकार नहीं किया है। वहां स्पष्ट कहा है कि शरीर, मन, वाणी, श्वासोच्छ्वास ये पुद्गल के उपकार हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ये निमित्त हैं। जो कार्य में निमित्त होते हैं, उन्हें उपकारी कहा जाता है, पर वे निमित्त कर्ता नहीं हैं।

निमित्तों को कारण कहना असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। शास्त्रों में आता है कि आत्मा को जो सुख-दुःख, जीवन-मरण होते हैं, इनमें पुद्गल का उपकार है। आत्मा को सातावेदनीय के उदय में साता होती है, उसमें शरीर, मन, वाणी निमित्त होते हैं, इससे ये पुद्गल के उपकार हैं ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। सुख-दुःख आदि में पुद्गल निमित्त है, बस इतना समझना चाहिए। सुख-दुःख की कल्पना तो जीव उपादानरूप होकर स्वयं करता है। वहां पुद्गल को निमित्तरूप देखकर उसे उपकारी कहा जाता है। परंतु निमित्त पर के कार्य का कर्ता नहीं है।

देखो, पहले ऐसा कहा था कि क्रोधादिक्रिया व जाननक्रिया ये दोनों वस्तुएं भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं – इसकारण दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है और एक-दूसरे का परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है।

अब कहते हैं कि दोनों के अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है, इसकारण दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होने से दोनों वस्तुएं भिन्न ही हैं। आस्रव

की रुचिवाला क्रोधादि का परिणाम और आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं ।

राग की रुचि का परिणाम अज्ञान है, इसमें ज्ञान नहीं है । राग में ज्ञान की किरण नहीं है । अरे रे ! ऐसी मनुष्य पर्याय मिली, उत्तम कुल और जिनागम का सान्निध्य प्राप्त हो गया, फिर भी आत्मा का स्वरूप न समझ सके तो पशु की पर्याय में और मनुष्य की पर्याय में क्या अन्तर रहा? कहा भी है -

"आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम् ।
धर्मोहिएको अधिको विशेष, धर्मेण हीना पशुभिः समानः ।।

अरे भाई ! भगवान आत्मा स्वयं अनन्त चैतन्य लक्ष्मी का भंडार है । इसकी तो रुचि, प्रतीति करता नहीं है और अनादि से पैसा तथा स्त्री-पुत्रादि के राग में मूर्छित हो गया है, केवल पाप में ही मग्न हो रहा है । पुण्य का भी कोई ठिकाना नहीं है, धर्म की तो बात ही कहां है । भाई ! यदि तूने पुण्य की रुचि छोड़कर अन्तरस्वभाव की रुचि नहीं की तो भवसमुद्र में गोते खायेगा, कोई विचार भी नहीं कर सकेगा – ऐसा जड़वत् हो जायेगा । इसलिए हे जीव! अपनी चैतन्य निधि की रुचि कर-के अन्तर में आ जा, बाहर में यत्र-तत्र मत भटक।

नियमसार में कहा है कि प्रभु ! ज्ञान की निधि पाकर वाद-विवाद में मत पड़ना तथा यदि कोई मात्सर्य वश इस यथार्थ मार्ग की निन्दा करे तो उसे सुनकर तू इस सुन्दर मार्ग के प्रति अपनी अभक्ति प्रगट मत करना । 'लोग ऐसे सत्य और सुन्दर मार्ग की निन्दा क्यों करते हैं' यह सोचकर खेद-खिन्न भी नहीं होना ।

आचार्य यहां ज्ञान व अज्ञान की भिन्नता दर्शाते हुए कहते हैं कि भाई ! ज्ञान व अज्ञान में आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है ।

इस वस्तुव्यवस्था को यदि एकबार भी निष्पक्षभाव से रुचिपूर्वक सुन समझ ले और उसमें विश्वास प्रगट कर ले तो बेड़ा पार हो जावे । परन्तु अज्ञानी जीवों का ऐसा सद्भाग्य कहां ? वे तो पक्ष रखकर सुनते हैं, अतः प्रत्येक बात में उन्हें एकान्त-सा लगता है; परन्तु भाई वीतराग सर्वज्ञ की वाणी में पूर्वापर विरोध नहीं होता । जहां व्यवहार रत्नत्रय के राग को साधन कहा हो, वहां निमित्त का ज्ञान कराने एवं उसपर से लक्ष्य हटाने के प्रयोजन से कहा गया कथन समझना चाहिए । निमित्त को कार्य का कर्ता नहीं मान लेना चाहिए ।

प्रवचनसार की १७२वीं गाथा के अलिंगग्रहण के छठवें बोल में आता है, कि जिसप्रकार आत्मा में श्रद्धा आदि गुण है, उसीप्रकार उसमें जिससे प्रत्यक्ष ज्ञात हो – ऐसा प्रकाश नामक गुण भी है। 'स्वयं प्रकाशमान विशद स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्तिः' नामक आत्मा में एक शक्ति है, जिसके कारण आत्मा स्वसंवेदन में – स्वानुभव में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसके स्वयं के प्रकाशन करने में अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। वहीं पर आगे १७वें बोल में कहा है कि आत्मा के बहिरंग यतिलिंग का अभाव है। तात्पर्य यह है कि यति की बाह्यक्रिया का (शुभाचरणरूपक्रिया का) आत्मस्वरूप में अभाव है। जब आत्मा में रागादि का अभाव ही है, तो रागादि के द्वारा आत्मलाभ कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

यहां कहते हैं कि आत्मपरिणति में एवं राग में परस्पर आधार-आधेय नहीं है। अहो! आचार्यदेव ने भेदज्ञान की परम अद्भुत बात की है। बापू! इस बात को अपने ज्ञान में व धारणा में तो ले, एकवार यह निर्णय तो कर कि राग की क्रिया और आत्मा की क्रिया में परस्पर भिन्नता है।

इसी बात को विशेष समझाते हैं-जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (आकाश के) आधार-आधेय का विचार किया जाता है, तब आकाशद्रव्य का शेष अन्यद्रव्यों में आरोपित करना अशक्य होने से बुद्धि में आकाशद्रव्य के भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित (उद्भूत) नहीं होती और उसके प्रभवित नहीं होने से "एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है" यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। और ऐसा समझ लेने वाले के पर में आधार-आधेयत्व सम्बन्ध भासित नहीं होता।

देखो, ज्ञान में एक आकाश को ही लक्ष्य में रखकर विचार किया जाय तो आकाश का आधार कोई अन्यवस्तु भासित नहीं होती अर्थात् दूसरे आधार की अपेक्षा बुद्धि में बैठती नहीं है, सर्वव्यापक आकाश को अन्य किसका आधार हो सकता है? आकाश स्वयं ही आधार है एवं स्वयं ही आधेय। वस्तुतः एक द्रव्य का आधार अन्य द्रव्य नहीं है, प्रत्येक द्रव्य निश्चय से स्वयं अपने ही आधार से है। आकाश में स्थित अन्य द्रव्यों को आकाश का आधार कहना मात्र निमित्त की अपेक्षा से

किया गया कथन है, वास्तविक आधार तो किसी एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का है ही नहीं ।

जिसतरह इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर को मानने पर यह प्रश्न होता है कि जो ईश्वर जगत् का (सृष्टि का) कर्ता है, उस ईश्वर का कर्ता कौन हैं ? यदि उसे किसी अन्य ने किया तो उस अन्य को किसने किया ? यह प्रश्न कभी खत्म नहीं होगा । न्याय की भाषा में कहें तो अनवस्था दोष आयेगा । यदि यह कहें कि ईश्वर स्वयं सिद्ध है तो प्रश्न होगा कि जब ईश्वर स्वयं सिद्ध है तो सृष्टि स्वयंसिद्ध क्यों नहीं हो सकती ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु स्वयं सिद्ध है, अनादिनिधन है । सभी छहों द्रव्य अपने-अपने आधार से हैं । जिसतरह आकाश का कोई आधार नहीं, उसीतरह छहों द्रव्यों का निश्चय से कोई अन्य् आधार नहीं है ।

यहां कहते हैं कि जिसप्रकार सर्वव्यापी आकाश को कोई अन्य द्रव्य का आधार भासित नहीं होने से आकाश ही आकाश में प्रतिष्ठित है, आकाश का आधार आकाश ही है अन्य नहीं । यह बात समझ में आ जाने पर यह भी समझ में आ जाता है कि कोई परद्रव्य आधार व आकाश उसका आधेय – ऐसा पर के साथ आकाश का आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है । आचार्यदेव ने यह दृष्टान्त दिया है ।

अब इसी का सिद्धान्त समझाते हैं –

"इसीप्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके ज्ञान के आधार-आधेयभाव का विचार किया जाये, तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती, और उसके प्रभवित नहीं होने से 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में प्रतिष्ठित है', यह भलीभांति समझ लिया जाता है । और ऐसा समझ लेनेवाले को पर आधार-आधेयत्व भासित नहीं होता । इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है ।"

जिसप्रकार ज्ञान में आकाश को लक्ष्य में लेने पर आकाश का अन्य कोई आधार दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार बुद्धि में ज्ञान का विचार करने पर ज्ञान का कोई अन्य आधार दिखाई नहीं देता । ज्ञान ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है अर्थात् आत्मा में ही है, किसी अन्य द्रव्य में आत्मा नहीं है , अन्य द्रव्य का आत्मा को आधार नहीं है । आत्मा शरीर में या रागादि में नहीं है । आत्मा मात्र ज्ञान के परिणमन में या आत्मा के स्वरूप में है । राग आधार व आत्मा आधेय – ऐसा नहीं है । भाई ! एकबार तू इस

यथार्थ श्रद्धान को तो कर कि ज्ञान ज्ञान में ही है, राग-क्रोधादि में नहीं तथा क्रोधादि क्रोधादिक में ही है आत्मा में नहीं। भाई! जो इस बात का श्रद्धान करे वह तो अन्तर में (स्वरूप में) समा जाता है – ऐसी यह बात है । इसे समझे बिना पांच-पचास लाख का मन्दिर आदि बनवा दे तो उससे क्या ? उसमें यदि शुभराग हो तो पुण्य बंधता है और यदि उसके अभिमान में चढ़ गया तो वह पुण्य भी नहीं बंधता । बाकी मन्दिर बनने की क्रिया तो स्वतंत्र अपने कारण से होती है, उसमें कोई अन्य क्या कर सकता है ? यहां कहते हैं कि रागादि आधार व आत्मा आधेय ऐसा पर के साथ आधाराधेयपना भासित नहीं होता । अतः शुद्ध निर्मल ज्ञान की परिणति आधार व ज्ञान (आत्मा) आधेय ही निश्चित हुआ ।

बर्तन के आधार से घी है या घी के आधार से घी है ? जगत को तो बस बर्तन के आधार से ही घी दिखाई देता है, क्योंकि बाहर से तो यही दिखाई देता है । यदि बर्तन न हो तो घी तो यों ही बह जायेगा । पर यहां यह बात नहीं है । यहां तो यह कहते हैं कि यह बात सर्वथा असत्य है । घी के एक-एक रजकण में आधार (अधिकरण) नाम का गुण रहता है, उसके आधार से ही घी रहता है, बर्तन के आधार से नहीं । उसीतरह ज्ञान ज्ञान में ही रहता है ।

इसप्रकार ज्ञान का और क्रोधादि का तथा कर्म व नोकर्म का भेदविज्ञान भलीप्रकार से सिद्ध हो गया कि राग की अर्थात् क्रोधादि की क्रिया आत्मा से अन्य वस्तु है, ज्ञान की क्रिया से भिन्न है।

गाथा १८१ से १८३ तक के भावार्थ पर प्रवचन

"उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं । इन सबमें व ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है ।"

राग से भेदज्ञान करके उपयोग का जो अन्तर में परिणमन होता है, वह चैतन्य का परिणमन है और वह आत्मस्वरूप है । ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, अचेतन हैं; कर्म व शरीरादि तो प्रत्यक्ष अचेतन हैं ही । यहां तो राग की रुचिरूप क्रोधादि को भी जड़ कहा है, क्योंकि उनमें चैतन्य का अंश नहीं है । तथा उनमें व ज्ञान में प्रदेशभेद होने से दोनों का क्षेत्र भिन्न होने से अत्यन्त भेद है ।

"इसलिए उपयोग में क्रोधादि, कर्म तथा नोकर्म नहीं है और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है ।"

तात्पर्य यह है कि न तो विकार के आधार से आत्मा प्रगट होता है और न आत्मा के आधार से विकार होता है ।

"प्रत्येक वस्तु का आधार-आधेयपना अपने-अपने में ही है, इसलिए उपयोग उपयोग में है और क्रोध क्रोध में ही है ।" चैतन्य के परिणमन के आधार से जो आत्मा ज्ञात हुआ है वह परिणमन आत्मा ही है, चैतन्य ही है तथा राग की रुचि का – मिथ्यात्व का परिणमन जड़ ही है ।

मोक्षमार्ग में मुनि के स्वरूप में कहा है कि मुनि वह है, जो शुद्धोपयोग को ग्रहण करता है । वस्तु तो त्रिकाल शुद्धरूप ही है, पर परिणमन में जो शुद्धोपयोग को ग्रहण करे, उसका नाम मुनिदशा है । तथा शुद्धोपयोग के साधन द्वारा मुनिवर केवल ज्ञान को प्राप्त करते हैं, वहां ऐसा कहा है । विभाव या राग के साधन द्वारा कोई केवलज्ञान को प्राप्त नहीं करता । भाई ! जिसका जो स्वभाव है, उस स्वभाव से स्वभाव की प्राप्ति होती है । यथाख्यातचारित्र अपने स्वभाव की वीतराग परिणति से प्राप्त होता है – केवलज्ञान की निर्मलपरिणति से प्राप्त होता है, राग से नहीं ।

इससे स्पष्ट है कि उपयोग अर्थात् आत्मा का ज्ञायकभाव, उपयोग में अर्थात् आत्मा के निर्मल परिणमन में ही है तथा क्रोधादि विकार क्रोधादि में ही हैं ।

पिछली ५० से ५५ तक की गाथाओं में आये २९ बोलों में कहा जा चुका है कि मिथ्यात्वादि अनुभूति से भिन्न हैं । मिथ्यात्व, अविरित, कषाय और योग – इन चार प्रत्ययों के रूप में प्रारंभिक तेरह गुणस्थान हैं । आस्रव होने से ये सब अचेतन जड़ हैं तथा शुद्धोपयोग वीतराग-परिणति में आत्मा है, अतः यह चेतन है – यह भेदज्ञान है । भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से उपयोग को भिन्न जानना ही भेदज्ञान है तथा ऐसा भेदज्ञान चौथे गुणास्थान से होता है । इसप्रकार भेदविज्ञान सिद्ध हुआ ।

प्रवचनसार की पहली से पाँचवीं गाथा में आया है कि जो शुद्धात्मा के लक्ष्य से हुआ परनिरपेक्ष (राग की अपेक्षा से रहित) शुद्धोपयोग को प्राप्त हुए हैं, वे आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी हैं ।

कलश १२६

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्ध ज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ।।१२६।।

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादय दविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति । ततो भेदविज्ञाना-च्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति । शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ।

अव इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं:-

श्लोकार्थः- [चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः ज्ञानस्य रागस्य च] चिद्रूपता को धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाला राग - [द्वयोः] दोनों का [अंतः] अन्तरंग में [दारुणदारणेन] दारूण विदारण के द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यास के द्वारा), [परितः विभागं कृत्वा] सभी ओर से विभाग करके (सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके), [इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति] यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; [अधुना] इसलिये अव [एकम् शुद्ध- ज्ञानघन- ओघम् अध्यासिताः] एक शुद्धविज्ञानघन के पुन्ज में स्थित और [द्वितीय-च्युताः] अन्य से अर्थात् राग से रहति; [सन्तः] हे सत्पुरुषो ! [मोदध्वम्] मुदित होओ ।

टीका :– इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी (रागादिविकाररूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूप से रहता है, तब शुद्धउपयोगमयात्मकता के द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी राग-द्वेष-मोहरूप भाव को नहीं करता; इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव)होती है और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का (आस्रवभाव का) अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है ।

भावार्थः– ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होने से जड़ हैं; किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञान से ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप – जड़रूप भासित होते हैं । जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है; ज्ञान में जो रागादि की कलुषता/– आकुलतारूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं, वे सब पुद्गलविकार हैं; जड़ हैं । इसप्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है । जब ऐसा भेदज्ञान होता है; तब आत्मा आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि "स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ" इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि 'हे सत्पुरुषो ! अब मुदित होओ ।।१२६।।

कलश १२६ पर प्रवचन

देखो, यहां भेदज्ञान प्रगट करने की रीति का प्रतिपादन करते हुए कहा जा रहा है कि ज्ञान व राग में दारुण विदारण करके अर्थात् भेदज्ञान के उग्र पुरुषार्थ द्वारा चारों ओर से निज-पर का विभाग करके जिसने निर्मल भेदविज्ञान प्रगट कर लिया है – ऐसा आत्मा श्रद्धा, ज्ञान, वीतरागता आनन्दस्वरूप है और राग जड़रूपता को धारण करनेवाला होने से जड़ रूप है । दया, दान, पूजा, भक्ति आदि रूप जो राग है, वह सब जड़ है । इसप्रकार के पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते हुए राग से भेदज्ञान करके स्वलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है । समस्त प्रकार के राग व ज्ञान को भिन्न-भिन्न पहचानने से ही भेदज्ञान प्रगट होता है । दारुण विदारण द्वारा चारों ओर से या सब ओर से विभाग करने का अर्थ है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यानि समस्त प्रकार से भगवान आत्मा को राग से भिन्न करके भेदविज्ञान प्रगट हुआ है ।

अहाहा ---- ! भेदविज्ञान होने पर विभाव का कोई अंश स्वपने भासित नहीं होता । भेदविज्ञान आत्मा को व राग को चारों ओर से भिन्न करता हुआ प्रगट हुआ है । तात्पर्य यह है कि द्रव्य से भिन्न, क्षेत्र या प्रदेश से भिन्न, काल से भिन्न व भाव से भिन्न – इसप्रकार राग से आत्मा को सर्वप्रकार से भिन्न करता हुआ भेदज्ञान प्रगट हुआ है ।

अहाहा ! यह आत्मवस्तु त्रिकाल ज्ञान व आनंद स्वरूप है । उसको पर से व राग से भेद करने पर यह प्रत्यक्ष निर्मल भेदज्ञान प्रगट हुआ है । भाई ! चैतन्य की मूल पूंजी प्राप्त करने में चैतन्य का चैतन्यरूप परिणमन कार्य करंता है, रागरूप परिणमन से चैतन्यस्वरूप आत्मा की उपंलब्धि नहीं होती । इसमें व्यवहार रत्नत्रय का राग भी काम नहीं करता, क्योंकि आत्मा ज्ञान के परिणमन को धारण करनेवाला है और राग जड़रूपता को धारण करनेवाला है । दोनों का स्वभाव भिन्न- भिन्न है ।

प्रश्न – छहढाला में जो यह कहा है कि 'मुख्योपचार दुभेद यों वड़भागि रत्नत्रय धरै' इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – शास्त्र में अनेक जगह निरुपराग रत्नत्रय के साथ रहनेवाले व्यवहार रत्नत्रय का ज्ञान कराने के लिए ऐसा भी कहा गया है। निश्चय के साथ ऐसा ही व्यवहार होता है, इसकारण निश्चय के राग पर आरोप करके उसकी (व्यवहार की) आराधना करते हैं – ऐसा शास्त्र में कहा है । ज्ञानी आराधना तो केवल एक स्व की ही करता है, परन्तु राग में आराधना का आरोप करके राग की आराधना करता है – ऐसा व्यवहार से कहा गया है ।

अव आगे कहते हैं कि एक शुद्ध विज्ञानघन के पुंज में स्थित और राग से रहित हे सत्पुरुषो! तुम प्रसन्न होओ ।

अनादि से जो राग में स्थित था, वह तो पर्यायबुद्धि थी, अज्ञानभाव था । अव राग से भिन्न होकर – भेदज्ञान करके भगवान ज्ञानपुंज में स्थित हुआ, बस यही वीतराग-विज्ञानरूप भेदविज्ञान है, मोक्षमार्ग है । ऐसा भेदविज्ञान आत्मा के लक्ष्य से होता है । राग के लक्ष्य से आत्मा एवं राग का भेदविज्ञान नहीं होता । "स्व" का अर्थात् ज्ञानपुंजस्वरूप निज भगवान आत्मा का लक्ष्य होने पर भेदविज्ञान का परिणमन होता है ।

जिसप्रकार खेत में सौ-सौ मन के घास के घन-पुंज होते हैं, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानघन का पुंज है, आत्मा उसमें स्थित एवं अन्य रागादि से रहित है । हे पुरुष ! तुम ज्ञानपुंज का आश्रय प्राप्त कर मुदित होओ, आनन्दित होओ । अबतक राग की एकता में दुःख था, अब राग से भेदज्ञान – भिन्नता कर आत्मस्थित होकर सुखी होओ ।

भगवान ! तेरा आनन्द का नाथ (तत्त्व) तेरे ही अन्दर परमात्मा स्वरूप में पड़ा है । तूने अबतक उसे जाना-पहचाना नहीं था, माना नहीं था, इसकारण तेरी मान्यता में, उसके अस्तित्व का अहसास नहीं था, अब तूने उसे जाना-माना है, इसकारण अब तुझे उसके अस्तित्व का अहसास हो चुका है । अब उसी में स्थित होकर तू उसका आनन्द ले ।

आचार्यदेव ऐसा आशीर्वाद और प्रोत्साहन देते हैं । देखो, उन्होंने यह कहा है न ! कि ज्ञान के पुंज में स्थित हे सत्पुरुष ! सुखी होओ । इसका अर्थ यह है कि जो सत्स्वरूप ज्ञानपुंज भगवान आत्मा में स्थित होता है ,वही सत्पुरुष है । तथा जो असत् स्वरूप राग में रुक जाता है, वह असत्पुरुष है, दुःखी है । ऐसे दुःखी जीवों को कहते हैं कि – ज्ञानपुंज भगवान आत्मा में स्थिर होकर हे सत्पुरुषो ! मुदित होओ, आनन्दित होओ । जो ज्ञान का परिणमन आत्मा के समीप है, उस ज्ञान को धर्म कहते हैं, मोक्षमार्ग कहते हैं तथा जो ज्ञान की पर्याय राग के समीप है, वह अधर्म है, संसारमार्ग है ।

कलश में जो 'द्वितीयच्युताः' कहा है, उसका अर्थ है 'राग से भिन्न होकर एवं अपने में स्थित होकर' – इस कथन में राग की नास्ति हो गई । अहा ! जिसे सच्ची रीति की खबर न हो उसे धर्म प्रगट कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता । कोई कहे कि हमारे बाप-दादा करते थे, इसलिए हम करते हैं, यह तो हमारे कुल का धर्म है – यही जानकर हम इसका पालन करते हैं । परन्तु भाई ! देखादेखी या कुलक्रम का अनुसरण करनेवाले को तो धर्मबुद्धि ही नहीं है । भाई ! राग को जीतकर वीतरागता प्रगट करना ही सच्चा जैनधर्म है और वह निर्मल भेदज्ञान के द्वारा ही प्रगट होता है । अतः राग से भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से आनंदित होओ । यही है आनंदित होने की यथार्थ रीति ।

दूसरों को समझने की कला आवे या न आवे, स्वयं के भेदज्ञान से और दूसरों को समझने से कोई सम्बन्ध नहीं है । पर जिसे आत्मज्ञान हो गया हो, जो जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धावान हो, तथा जो आत्मरसी हो, वही

यथार्थ वक्ता हो सकता है; जिसने अध्यात्मरस न पिया हो, वह निश्चय वस्तु की क्या बात करेगा ?

मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि श्रोता से वक्ता का पद ऊँचा है। श्रोताओं को खुश रखने वाला वास्तविक वक्ता नहीं है। जो वक्ता ऐसा करता है, उसका पद श्रोता से नीचा हो जाता है।

यहां कहते हैं कि – शुद्धज्ञानघन आत्मा की दृष्टि व एकाग्रता होने पर राग की व पर्याय की दृष्टि समाप्त हो जाती है और अतीन्द्रिय आनन्द की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं। इसलिए कहते हैं कि भेदज्ञान के अभ्यास से आनन्दित होओ।

सारा जगत ऐसा मानता है कि दूधपाक, मिश्रीमावा आदि मिष्ठान्नों में बड़ा मजा आता है, पर भाई ! दूधपाक आदि का स्वाद जीव को कहां आता है ? वह तो जड़-माटी पौद्गलिक पदार्थ है, उसमें सुख का स्वाद है ही कहाँ ? जीव को तो उसके प्रति हुए अपने राग का स्वाद आता है और यह राग का स्वाद सुख का स्वाद नहीं दुःख का स्वाद है। बापू ! ज्ञानी कहते है कि भाई ! लाडू, सीरा आदि जड़ का स्वाद तो जीव को आता ही नहीं है; परंतु इसके प्रति हुए राग का स्वाद अज्ञानी जीव लेते हैं। आचार्य उनसे कहते हैं कि भाई ! तू राग से भेदज्ञान करके अपने चैतन्य घर में आ। वहां आने पर तुझे अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवेगा। राग का स्वाद तो पर का – जहर का स्वाद है, इसलिए राग से हटकर भगवान आत्मा का स्वाद ले। इसका नाम भेदविज्ञान है, धर्म है।

कलश १२६ के भावार्थ पर प्रवचन

"ज्ञान तो चेतना स्वरूप है और रागादिक पुद्गल विकार होने से जड़ हैं, किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानो अज्ञान से ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप जड़रूप भासित होते हैं।"

देखो, आचार्य यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है तथा रागादि जड़–अज्ञानस्वरूप हैं। आत्मा चैतन्यस्वभावमय है और रागादि विभावस्वरूप हैं। आत्मा आनन्दस्वरूप है एवं राग दुःखस्वरूप है।

छहढाला में भी यही कहा है–

"राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइए"

देखो, इसमें ऐसा नहीं कहा कि मात्र अशुभ राग ही आग है।

शुभाशुभ दोनों प्रकार का राग आग है, कषाय मात्र अग्नि है । भाई! राग का परिणाम चैतन्य की जाति का परिणाम नहीं है । अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का परिणाम चैतन्य की जाति का परिणाम है । राग तो कुजात है, तो भी अज्ञानी को ऐसा भासित होता है कि राग आत्मा की जाति का है, क्योंकि उसे-अनादि से आत्मा व राग के भाव–दोनों एक जाति के जड़रूप भासित होते हैं । उसे ऐसा लगता है कि राग जीव के स्वरूपमय है,परन्तु आचार्य यहाँ कहते हैं कि ज्ञायक भगवान सदैव राग से भिन्न है, वह कभी भी न राग रूप हुआ और न कभी होगा ।

"जव अंतरंग में ज्ञान व रागादिक का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है,तव यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान से जो रागादिक की कुलषता – आकुलतारूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं, वे सव पुद्गलविकार हैं, जड़ हैं ।"

यहाँ राग को पुद्गलविकार कहा है, इसलिए वह राग पुद्गल से हुआ है – ऐसा नहीं समझना । विकार तो जीव की ही परिणति में हुआ है, वह चैतन्य जाति का नहीं है, इसकारण वह जड़ है, अचेतन है – ऐसा सिद्ध किया है, क्योंकि राग में चेतन की किरण का एक अंश भी नहीं है । इसप्रकार जव ज्ञान व रागादि के भेद का भान होता है, तव भेद के उग्र अभ्यास करने से आनंद के स्वाद सहित आत्मा का अनुभव होता है । इसका नाम भेदज्ञान है ।

जव ऐसा भेदज्ञान होता है तव आत्मा आनन्दित होता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि 'स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ ।

देखो, इसमें कितना धैर्य चाहिए । यह कोई वाह्य क्रिया आचरण की वात नहीं है कि झट से किसी प्रतिज्ञा का पालन करके छुट्टी पा ली । यहाँ तो पहले जो राग का स्वाद आता था, उसमें आनन्द का स्वाद नहीं था । अव राग के विकल्प से/छूटकर आत्मा का अभ्यास करने पर जव भेदविज्ञान किया तब आत्मा के आनन्द का स्वाद आया, तव उसने जाना कि अहो! मैं तो सदा ज्ञायक ही रहा हूँ, रागरूप कभी हुआ ही नहीं । मैंने अपनी भूल से रागरूप माना था,पर भगवान आत्मा रागरूप कैसे हो सकता है?

देखो, स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है । कथंचित् ज्ञानस्वरूप से व कथंचित् रागस्वरूप से – विकारस्वरूप से है – ऐसा नहीं है ।

अहाहा---! भगवान ज्ञायकमूर्ति प्रभु कभी भी दया, दान आदि के स्वभाव से हुआ ही नहीं। प्रवचनसार गाथा २०० में कहा है कि भगवान आत्मा अनादि से ज्ञायकभाव से ही रहा है, परन्तु इसने उसे वैसा न मानकर अन्य प्रकार से ही माना है। मैं रागरूप हूँ, मैं पुण्य-पापस्वरूप हूँ– इसीप्रकार अन्यरूप माना है।

कितने ही लोग कहते हैं कि स्वभाव के आश्रय से तो धर्म होता ही है, पर पुण्य से भी धर्म होता है– ऐसा मानो तो अनेकान्त होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। धर्म तो स्वभाव के आश्रय से ही होता है और पुण्य से नहीं होता, इसका नाम सम्यक् अनेकान्त है।

"निश्चय से लाभ होता ही है, पर व्यवहार से भी लाभ होता है– ऐसा अनेकान्त नहीं है।

इसीकारण तो आचार्य कहते हैं कि – हे सत्पुरुषो! जो काल बीत गया सो बीत गया, पर अब राग से भेदज्ञान का उग्र पुरुषार्थ करके भेदविज्ञान प्रगट करके आनंद को प्राप्त होओ, मुदित होओ।

१२६ वें कलश के बाद की टीका पर प्रवचन

अज्ञानी अनादिकाल से शुभाशुभ भाव को अपना मानकर जो उसमें रम रहा है, वह उसका मिथ्यात्वभाव है। उसके उस मिथ्यात्वभाव में ही अनन्तभव का बीज पड़ा है। जो शुभाशुभ राग के विभाव से भिन्न हो अन्तर्मुखी दृष्टि के द्वारा आत्मानुभव करता है, वह कर्मबन्धन से छूट जाता है, क्योंकि उसके निर्मल भेदविज्ञान प्रगट हो जाता है।

यही बात इस टीका में आचार्यदेव ने कही है – "इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी (रागादि विकार रूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूप से रहता है, तब शुद्ध उपयोग को छोड़कर केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी राग-द्वेष-मोह रूप भाव को नहीं करता।"

देखो, राग की रुचिरूप विपरीतता से भिन्न होकर जो भेदज्ञान के बल से ज्ञान में अविचलपने से रहता है, वह आत्मा सुख को प्राप्त करता है। वह जीव समकिती है तथा उसके शुद्धोपयोगात्मकपना है। सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोग के काल में होता है। भेदज्ञान होने पर दया, दान, भक्ति आदि के राग से रंजित मलिन उपयोग को छोड़कर केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ शुद्धोपयोगरूप परिणमित होता है। अंतरंग में ज्ञान की वर्तमान पर्याय को द्रव्य पर स्थापित करने पर आत्मा शुद्धभाव रूप से

परिणमित होता है । राग से भिन्न हुआ ज्ञान अहिंसक रूप से रहता हुआ एवं विपरीत रूप से अर्थात् रागरूप से न परिणमता हुआ किंचित् भी राग-द्वेष -मोह रूप नहीं होता।

वर्तमान में तो मोक्षमार्ग का लोप सा ही हो रहा है । जगत उपवास आदि करने में अथवा रसत्याग करने आदि के बाह्य आचरण को ही धर्म मानने लगे हैं, परन्तु भाई! व्रत, तप आदि क्रिया-काण्ड धर्म नहीं हैं । ये तो राग हैं, दुःख हैं । इसमें धर्म मानने से तो आत्मा विपरीतता को प्राप्त होता है । यहाँ कहते हैं कि – भेदज्ञान आत्मा को जरा भी विपरीत नहीं होने देता । तथा उससे ज्ञान ज्ञान में या ज्ञानमय भाव में रहता है ।

भाई! राग की रुचि की मूर्खता में तू चौरासी के अवतार में रखड़ रहा है । इस रखड़पट्टी को मिटाने का भेदविज्ञान ही एकमात्र उपाय है । पुण्यभाव की रुचि संसार परिभ्रमण का कारण है ।

कुछ लोग प्रवचनसार की गाथा ४५ में आये "पुण्यफला अरहंता" का अर्थ ऐसा करते हैं कि – "अरहंतपना पुण्य का फल है ।" इसकी टीका में जो भाव स्पष्ट किया है, उसे तो देखते नहीं हैं और मनमाना अर्थ करते हैं। वहाँ टीका में तो ऐसा कहा है कि पुण्य का विपाक—उदय आत्मा को अकिंचित्कर है, अर्थात् वह आत्मा को लाभ या हानि कुछ भी नहीं करता। पहले जो पुण्य बाँधा था, वह उदय में आने पर उसके फल में दिव्यध्वनि, समोशरण इत्यादि अतिशय आत्मा के (अरिहन्त के) अकिंचित्कर हैं। कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। वहाँ प्रवचनसार की ७७ वीं गाथा में तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है कि—दया, दान आदि पुण्यभाव व हिंसा आदि पापभाव – इन दोनों में कोई फेर (अन्तर) नहीं है; पर जो ऐसा नहीं मानता है, वह मोहाच्छादित वर्तता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है ।

यहाँ कहते हैं कि दुःखरूप राग व आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा में भेदज्ञान करने पर ज्ञान अपने रूप – शुद्धोपयोगरूप रहता हुआ राग को जरा भी नहीं करता । देखो, पर की दया पालने का भाव राग होने से हिंसा है । इससे भिन्न भगवान आत्मा अहिंसक – वीतरागस्वभावमय है । इन दोनों के बीच भेदज्ञान करके वीतरागभाव से रहनेवाला शुद्धोपयोगरूप आत्मा राग को किंचित् भी नहीं करता । ज्ञान राग को

मिलने ही नहीं देता। अहा! राग आता है, पर भेदज्ञानी कर्ताबुद्धि से राग को करता नहीं है। जिससे भेद हुआ, उसे वह कैसे करे? ज्ञान तो मात्र जानता है, राग को करने का इसका स्वभाव ही कहाँ है? स्वभाव को ग्रहण करने के बाद राग का कर्तृत्व रहता ही नहीं है,तो फिर राग को करे ही कैसे? इससे यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का (आस्रवभाव का) अभाव जिसका लक्षण है, ऐसा संवर होता है।"

यहाँ यह कहते हैं कि दया, दान आदि के राग से भेदज्ञान करने पर ही आत्मा की उपलब्धि अर्थात् आत्मानुभव होता है। आत्मोपलब्धि की यही एकमात्र विधि है, इस विधि के बिना आत्मोपलब्धि या आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं होती। राग तो परघर है और परघर में जाना तो अपराध है। राग से भिन्न पड़ा ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप से परिणमता है। जरा भी रागरूप न होता हुआ मात्र ज्ञानरूप से ही रहता है और अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है। इसप्रकार आत्मा की उपलब्धि होती है।

जिसप्रकार सीरा (हलुआ) बनाने की एक विधि है, उस विधि से ही हलुआ बनता है, उसे न अपना कर उसके बनाने की विधि में क्रमभंग करे तो हलुआ नहीं बनता। हलुआ बनाने के लिए पहले आटे को घी में सेंका जाता है, फिर गुड़ या शक्कर का पानी डाला जाता है। यदि कोई घी की बचत करने के लिए घी से सेंकने के बजाय पहले गुड़ का पानी डाल दे तो हलुआ तो दूर, ठीक से लूपड़ी (पुल्टस) भी नहीं बनती। घी, शक्कर व आटा सब बेकार चला जाता है। उसीप्रकार कोई धर्मप्राप्ति हेतु आत्मानुभव तो न करे और सर्वप्रथम दया, दान, व्रतादि क्रियाकाण्ड करे, क्योंकि ये सरल पड़ते हैं और ऐसा माने कि इन्हीं के करते-करते धीरे-धीरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हो जावेंगे तो उससे आचार्य कहते हैं कि भाई! तेरा यह श्रम व्यर्थ जायेगा। भाई! भेदज्ञान से निर्मल रत्नत्रय होता है, पर भेदरत्नत्रय से आत्मानुभूति कभी नहीं होती। भेदरत्नत्रय पालन करते हुए निश्चय निरुपचार रत्नत्रय प्रगट हो जायेगा - यदि ऐसा कोई माने तो उसे स्थूल मिथ्यात्व की शल्य है।

प्रश्नः— प्रवचनसार में तो ऐसा आता है कि + ज्ञानी सम्यग्दृष्टि ज्ञानाचार,दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार एवं तपाचार आदि व्यवहार आचार का पालन करते हैं, उनके व्यवहार आचार को क्या कहा जाये?

उत्तरः— भाई! जहाँ तक पूर्णता की प्राप्ति न हो, वहाँ तक

समकिती ज्ञानी को भी ऐसा व्यवहार होता है - ऐसा वहाँ कहा है । ज्ञानी उन्हें उपादेय मानकर नहीं करते । वे तो सब व्यवहार को स्वरूप से भिन्न हेयपने जानते ही हैं, करते नहीं हैं । भाई! चरणानुयोग में व्यवहार से कथन करने की यही रीति है । उस शैली के अभिप्राय को यथार्थ समझना चाहिए ।

------ पर समझे कब? विचारा दिन-रात तो स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-परिवार के पालन-पोषण एवं संरक्षण में और उनके साथ ऐश-आराम से राग-रंग में तथा पापाचार के उद्यम में लगा रहता है । जब उन कार्यों से फुरसत मिले तब तो यह समझे । इसे समझने की अभी फुरसत ही कहाँ है? उसे ही अपना फर्ज-कर्त्तव्य समझकर उसमें अटका रहता है । उससे कहते हैं कि भाई! तू जिसके प्रति अपना फर्ज समझता है, वह तो प्रत्यक्ष भिन्न परवस्तु है । तेरा फर्ज (कर्तव्य) तेरे प्रति होना चाहिए या पर के प्रति? आत्मा का आत्मा को छोड़कर और कोई कर्तव्य ही नहीं है । पर के प्रति अपना कर्तव्य माननेवाला मूढ़-मिथ्यादृष्टि है तथा वह अनन्त संसार में रखड़नेवाला है । भगवान! तुझे अपना हित करना है या नहीं? यदि तुझे अपना हित करना हो तो धर्म प्रगट कर ।

धर्म प्रगट करने की रीति बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जब यह जीव पुण्य-पाप के भाव को व भगवान आत्मा को भिन्न-भिन्न जानता है, तभी धर्म प्रगट होता है। भाई! तू अनादि काल से अबतक जन्म-मरण के भाव में डूबता, उतरता, गोता खाता हुआ दुःखी होता रहा है। भगवान! तुझे अब भी ऐसा दुःख है जो तुझसे कहा भी नहीं जाता और सहा भी नहीं जाता । हे भाई! तूने भूतकाल में भी मिथ्यात्व के फल में चार गति के व निगोद के अनन्तभव अनन्तबार धारण किये हैं। जिनकी तुझे ही पूरी खबर नहीं है।

यहाँ उस दुःख को दूर करने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि—भाई! राग से एवं क्रियाकाण्ड से धर्म माननेवालों के संसार का दुःख नहीं मिटता, भव का अभाव नहीं होता।

अब भव के अभाव की विधि दर्शाते हुए कहते हैं कि—क्रियाकाण्ड के राग से भगवान आत्मा भिन्न है—ऐसा भेदज्ञान का अभ्यास करके राग से अपना लक्ष्य हटाकर भेदज्ञान के द्वारा अविचल रूप से ज्ञान को ज्ञान में स्थिर करके शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होते हुए धर्म होता है। तथा भव का अभाव करने की भी यही रीति है। ऐसी भेदज्ञान की भूमिका में समकिती ज्ञानी जरा भी राग

का कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। और अकेले ज्ञानमय भाव से परिणमित होता हुआ वह सर्वथा रागरहित होकर भवमुक्त हो जाता है। अहो! भेदविज्ञान कोई अलौकिक वस्तु है। कविवर बनारसीदास ने कहा है न –

"भेदज्ञान संवर जिन्ह पायो, सो चैतन शिवरूप कहायो।"

भेदज्ञान से आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा के अनुभव से राग-द्वेष-मोह का नाश होता है अर्थात् रागद्वेषमोहादि आस्रव है। उसके अभावस्वरूप संवर है। वह संवर आत्मा की शुद्ध चैतन्यमय परिणतिरूप धर्म है। इसप्रकार भेदविज्ञान ही धर्म का मूल है।

अनुभव सम नहिं और

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसा सौं ऊरध की दौर है॥
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरैं परम सौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कौऊ और है॥१६॥

अनुभव के रस को जंगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभव का अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभव की भूमि सकल पदार्थों को उपजानेवाली (ज्ञान करानेवाली) है, अनुभव नर्क से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष में ले जाता हैं, अनुभव का आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान है, अनुभव का स्वाद पंच अमृतों के भोजन के समान है। अनुभव कर्मों को क्षय करता है और परम-पद से प्रेम जोड़ता है, (कहाँ तक कहा जाय?) अनुभव के समान अन्य कोई धर्म नहीं है॥१६॥

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द १६

समयसार गाथा १८४-१८५

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ इति चेत् –

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ।।१८४।।
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ।।१८५।।

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम् ।।१८४।।
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम् ।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ।।१८५।।

अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) कैसे होती है ? उसके उत्तर में गाथा कहते हैं:–

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे ।
त्यों कर्म उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे।।१८४।।
जीव ज्ञानि जानि ये हि, अरु अज्ञानि राग ही जीव गिनें ।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतमआच्छाद से।।१८५।।

गाथार्थः– [**यथा**] जैसे [**कनकम्**] सुवर्ण [**अग्नितप्तम् अपि**] अग्नि से तप्त होता हुआ भी [**तं**] अपने [**कनकभावं**] सुवर्णत्वको [**न परित्यजति**] नहीं छोड़ता [**तथा**] इसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कर्मोदयतप्तः तु**] कर्मो के उदय से तप्त होता हुआ भी [**ज्ञानित्वम्**] ज्ञानित्व को [**न जहाति**] नहीं छोड़ता; [**एवं**] ऐसा [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**जानाति**] जानता है, [**अज्ञानी**] और अज्ञानी [**अज्ञानतमोऽवच्छन्न**]

यतो यस्यैव यथोदित भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति — यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्त्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात् । तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात् । न चास्ति वस्तूच्छेदः, सतो नाशासंभवात्। एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किंतु शुद्धमात्मानमेवोपलभते। यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावदज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्म-स्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च, न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते। — ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः।

अज्ञानांधकार से आच्छादित होने से [आत्मस्वभावम्] आत्मा के स्वभाव को [अजानन्] न जानता हुआ [रागम् एव] राग को ही [आत्मानम्] आत्मा [मनुते] मानता है।

टीका:— जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है, वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है:— जैसे प्रचंड अग्नि के द्वारा तप्त होता हुआ भी सुवर्ण सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार प्रचंड कर्मोदय के द्वारा घिरा हुआ होने पर भी (विघ्न किया जाय तो भी) ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता; क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है; उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा, और वस्तु का उच्छेद तो होता नहीं है, क्योंकि सत् का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मो से आक्रांत (घिरा हुआ) होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता; किन्तु वह शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानांधकार द्वारा आच्छादित होने से चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को न जानता हुआ, राग को ही आत्मा मानता हुआ, रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है; किन्तु शुद्ध आत्मा का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता । इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है।

भावार्थ:— जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी रागी-द्वेषी मोही नहीं होता; परन्तु

निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है। इसलिये वह रागी-द्वेषी-मोही होता है; किन्तु कभी भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।

गाथा १८४, १८५ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

शिष्य पूछता है कि भगवन् ! क्या भेदविज्ञान से ही आत्मलाभ होना है ? गुरु उत्तर देते हैं कि हाँ, भेदविज्ञान से ही आत्मलाभ होता है। भेदविज्ञान व राग दोनों मे आत्मलाभ मानना यथार्थ नहीं है। इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप आचार्यदेव ने ये गाथायें कही हैं।

वे कहते हैं कि जिसे भेदविज्ञान हुआ है, शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है, वही भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी हुआ है। राग या व्यवहार रत्नत्रय के कारण ज्ञानी नहीं हुआ है।

प्रवचनसार की २३६वीं गाथा की टीका में आया है कि जो काय व कपाय को अपना मानता है, वह छहकाय के जीवों का हिंसक व पांच इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी है। टीका का मूल कथन इसप्रकार है:– "स्व-पर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायों के साथ एकता का अध्यवसाय करनेवाले जीव विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छहं जीवनिकाय के घाती होकर सर्वतः (सब ओर से) प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए उनके सर्वतः निवृत्ति का अभाव है।"

अहाहा! नग्न दिगम्बर मुनि हुआ हो तो भी जिसकी ऐसी मान्यता है कि शरीर की क्रिया मेरी है और व्रतादि का राग मेरा कर्तव्य है, वह एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करता हुआ भी छहकाय के जीवों का हिंसक है तथा इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी है। भाई ! बहुत गंभीर बात है। काय अर्थात् अजीव एवं कपाय अर्थात् आस्रव – इन दोनों को जो अपना मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

यदि कोई कहे कि जो अनर्गल रूप से पाप में रचे-पचे हैं, उन विचारों को कुछ पुण्य तो करने दो; धर्म की बात पीछे देखी जावेगी।

उनसे कहते हैं कि भाई ! मैं पुण्य करूं, पुण्य मेरा कर्तव्य है। ऐसी मान्यता महामिथ्यात्व है और मिथ्यात्व तो स्वयं महापाप है तथा मिथ्यात्व के वश जीव घोर पाप करता है।

अष्टपाहुड में दर्शनपाहुड की तीसरी गाथा में स्पष्ट कहा है कि जो जीव दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे मुक्ति को प्राप्त नहीं होते, जो जीव दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे ज्ञान व चारित्र से भी भ्रष्ट हैं, भ्रष्टों में भ्रष्ट हैं। तथा जिसके दर्शन-शुद्धि है और चारित्र नहीं है, वे कालांन्तर में चारित्र की उपलब्धि होने पर मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे। वर्तमान में चारित्ररहित हैं, परन्तु दर्शनविशुद्धि के बल से चारित्र को प्राप्त हो सिद्ध होंगे, मुक्ति को प्राप्त करेंगे। भाई ! जो ऐसा मानकर प्रवृत्ति करते हैं कि व्रत-तप-भक्ति के राग से मुझे लाभ होगा, वे मूढ़ महाभ्रष्ट—मिथ्यादृष्टि हैं।

यहां कहते हैं कि जीव भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ ऐसा जानता है कि "जैसे प्रचण्ड अग्नि से तप्त होते हुए भी स्वर्ण अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार प्रचण्ड कर्मोदय से घिरा हुआ भी ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता।"

जयसेनाचार्य ने इस बात को समझाने के लिए पांच पाण्डवों का दृष्टान्त दिया है। वहां कहा है कि पांच पाण्डव जो अपनी सुकोमल शरीरवाले रा कुमार की अवस्था में अत्यन्त सुन्दर व सुकमार थे, जब वे विरागी होकर मुनि हो गये और शत्रुंजय पर्वत पर ध्यानस्थ हो अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द का वेदन कर रहे थे, तब उन्हीं के भाइ दुर्योधन ने अपने पूर्व के बैर को याद करके लोह के धगधगाते कड़ उनके हाथ-पैरों में पहना दिये। अहा ! ऐसे प्रचण्ड कर्मोदय से घिरे हुए होने पर भी वे महामुनि भावलिंगी संत आनन्द में ही मग्न रहे। उस काल में भी उनके ज्ञान ने अपना ज्ञानत्व् नहीं छोड़ा। तीन पांडवों ने तो केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लिया, पर नकुल व सहदेव अपने साधर्मी भाईयों की पीड़ा देख स्थिर न रह सके, उन्हें किंचित धर्मस्नेह का शुभ विकल्प आ गया तो उसके फल में उन्हें सर्वार्थसिद्धि की आयु बंध गई।

अहा ! इतने से अपराध से केवलज्ञान ३३ सागर से भी अधिक काल के लिए दूर हो गया, क्योंकि पुनः मनुष्यभव में आने के बाद आठ वर्ष तक केवलज्ञान की पात्रता नहीं आती।

शास्त्र में दूसरा दृष्टान्त बन्धक आदि पांच सौ मुनियों का आता है, जिन्हें राजा ने क्रुद्ध होकर घाणी में पेलने का आदेश दे दिया था। ऐसे भारी उपसर्ग के प्रसंग में भी वे सभी मुनिराज अतीन्द्रिय आनंद के प्रचुर स्वसंवेदन में झूलते रहे। उस काल में भी ज्ञान धीर होकर ज्ञानरूप से अविचल कायम रहा।

इनके अतिरिक्त पद्मपुराण में सीताजी की भी बात आती है। भगवान रामचंद्र तद्भव मोक्षगामी चरम शरीरी धर्मात्मा पुरुष थे। पर जब सीताजी के सम्बन्ध में यह लोकापवाद हुआ कि "सीताजी रावण के यहां रहीं, फिर भी रामचंद्रजी ने उन्हें स्वीकार कर लिया है" इस लोकापवाद से प्रभावित होकर रामचंद्रजी ने अपनी धर्मात्मा एवं साधर्मी पत्नी सीताजी को शील की परीक्षा देने के लिए धग-धगाते अग्निकुण्ड में प्रवेश की आज्ञा दी। ऐसे विषम प्रसंग में भी सीताजी ने ज्ञानत्व नहीं छोड़ा। अहो ज्ञान ! अहो भेदविज्ञान!

यहां आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार स्वर्ण अग्नि में तपकर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार भेदविज्ञान से प्रचण्ड कर्मोदय के घेरे में रहते हुए भी आत्मा अपने ज्ञानमय परिणमन को नहीं छोड़ता। भाई ! यह वर्तमान परिणति की बात है, त्रिकाली स्वभाव की बात नहीं है। त्रिकाली स्वभाव तो अज्ञानी का भी ऐसा का ऐसा ही है। यहां तो उस ज्ञानी की बात है, जिसने उस त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के आश्रय से राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव का अनुभव किया है ऐसे भेदज्ञानी जीव का ज्ञान (परिणमन) प्रचण्ड कर्मोदय से घिर जाये तो भी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता। उसका कारण बताते हुए आगे कहते हैं कि—हजारों कारण मिलने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है। उसके छोड़ते ही स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायगा और वस्तु का नाश तो होता नहीं है, क्योंकि सत् का नाश असंभव है।

यहां हजारों कारण कहकर तो संख्या की अपरिमितता बताई है। हजारों का तात्पर्य हजारों से ही नहीं है, बल्कि असंख्य कारणों के मिलने पर भी वस्तु का अपने स्वभाव को छोड़ना अशक्य है, असंभव है।

अहाहा! जिसने राग से भिन्न होकर या भेदविज्ञान करके ज्ञानमय परिणमन किया, उसका अन्य वस्तु क्या कर सकती है ? कुछ भी नहीं। बापू ! बाहर में तो जो होना होता है वही होता है, उसमें कोई क्या कर सकता है ? देखो, यह वस्तु के परिणमन की स्वतंत्रता। प्रतिकूलताओं का ढेर क्यों न हो, फिर भी ज्ञान के (आत्मा के) ज्ञानत्व को छोड़ने की या छुड़वाने की शक्ति किसी में नहीं है।

अहाहा! राग से भेदज्ञान करने से आत्मा का जो ज्ञानमय परिणमन हो गया, उसका कर्मोदय क्या कर सकता है ? बापू ! बाह्य कर्मोदयादि में भी जो होना होता है, वही होता है, उसमें आत्मा कुछ नहीं कर सकता

है। अहाहा ! देखो, यह वस्तु की स्वतंत्रता ! प्रतिकूलता का ढेर का ढेर भी आत्मा के (ज्ञान के) ज्ञानत्व को नहीं छुड़ा सकता।

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान व आनन्द के स्वभाव से भरा है । यद्यपि समकिती की पर्याय में आत्मा के आनन्दस्वभाव का अंश ही प्रगट हुआ है, पर है वह सिद्ध के आनन्द की जाति का ही । तथा मुनि के आनन्द की तो बात ही क्या कहें, उनके तो प्रचुर मात्रा में आनन्द का फव्वारा फूटता है । जिसप्रकार फव्वारे में से पानी छूटता है, उसीप्रकार ज्ञानी के अन्दर में से अतीन्द्रिय आनन्द की प्रचण्ड धारा फूट पड़ती है । ऐसे ज्ञानी का कर्म के बन्धन क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं । भले ही वह असाता के उदय से घिरा हो, तो भी आंशिक वीतरागता एवं आनंदपना नहीं छूटता, क्योंकि अनंत कारण मिलने पर भी वीतराग परिणति नहीं छूटती, यदि छूट जावे तो वस्तु का ही नाश हो जायेगा ।

अहाहा......... ! वीतरागभाव का रंग चढ़ा है न ? जिसपर वीतरागता का रंग चढ़ जाता है, उस पर फिर राग का रंग नहीं चढ़ता । नियमसार में कहा है कि ज्ञानियों को विकल्प दुर्लभ है, धर्मात्माओं को राग दुर्लभ है और अज्ञानियों को वीतरागता दुर्लभ है । जब राग से भेदज्ञान होने पर अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मा का अनुभव हो जाता है, आत्मा की जान-पहचान हो जाती है, तब से ज्ञानियों का वीतराग-विज्ञानमय व आनंदमय परिणमन हो जाता है । फिर कर्म के घेराव में रहते हुए भी वे स्वाभाविक परिणमन से नहीं छूटते हैं । वीतरागस्वभावी प्रभु आत्मा के द्रव्य, गुण व पर्याय तीनों सत् हैं । वीतराग स्वभावी सत्ता का परिणमन भी सत् है एवं अहेतुक है । द्रव्य , गुण भी इसके कारण नहीं है । जब इसकी उत्पत्ति में द्रव्य-गुण भी कारण नहीं हैं, तो जगत के प्रतिकूल संयोग इसका नाश कैसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ।

अब आगे कहते हैं कि ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्म से आक्रान्त (घिरा) होने पर भी रागी-द्वेषी-मोही नहीं होता, बल्कि शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है ।

ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि 'मैं तो सदा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप रहनेवाला हूँ । प्रतिकूल संयोग में भी मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ ।' इसप्रकार जानता हुआ ज्ञानी कर्म से घिरा होने पर भी, परीषहों की पीड़ा के बीच में रहता हुआ भी अपना धैर्य नहीं खोता तथा राग-द्वेष-मोह भाव से परिणमित नहीं होता, अज्ञानरूप परिणमित नहीं होता । शुद्धात्मा का

ही अनुभव करता है । धर्मी रागी-द्वेषी नहीं होता । यहाँ मिथ्यात्व के साथ होनेवाले राग-द्वेष की बात है । चारित्र मोहोदय जन्य राग-द्वेष भी नहीं होते, ऐसा नहीं समझना ।

समाधिशतक में आया है कि प्रतिकूल संयोग आत्मा को दुःख के कारण नहीं हैं, इसलिए हे आत्मन् ! भेदज्ञान के बल से धैर्य धारण करने की व सहन करने की आदत डालो । सुख-सुविधाओं की सहज उपलब्धि से यदि तुझे किसी विषय की या आराम से रहने की आदत पड़ गई हो तो परीषह के कारण जो प्रतिकूलतायें आवेंगी, उनसे तू घबराना मत । प्रतिकूल प्रसंगों में भी सहनशील बन । धैर्य कायम रखना सीख । अहो ! आचार्यों ने तो गजब का काम किया है । सुख-सुविधाओं में अटके न रहकर अन्तर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी है, जिससे सहनशीलता व धैर्य कायम रह सके ।

अब कहते हैं कि जिसे भेदविज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी है । शुभ राग मेरा है और इससे मुझे लाभ होता है – ऐसी राग के साथ की एकत्वबुद्धि के अन्धकार से ढका हुआ होने से वह अपने चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वरूप को नहीं जानता । अहाहा ! स्वयं तो जानने-देखने के स्वभाव से शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र वस्तु है । एक समय की निर्मल ज्ञान की पर्याय में सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाले स्वभाव की सामर्थ्य से भरा हुआ है। पर अज्ञानी राग को ही आत्मा मानता है, इसकारण वह शुद्धात्मा का बिल्कुल भी अनुभव नहीं करता; किन्तु राग का ही अनुभव करता हुआ रागी, द्वेषी और मोही होता है ।

इससे यह सिद्ध हुआ है कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है और भेदविज्ञान होने पर ही ज्ञानी होता है । आत्मोपलब्धि का यही मार्ग है ।

भाई ! जो ऐसा मानता है कि व्यवहार से निश्चय होता है, वह मिथ्यादृष्टि – मोही है; क्योंकि वह राग को ही आत्मा मानता है और राग का ही अनुभव करता है । यहां कहते हैं कि जिसे भेदविज्ञान नहीं हुआ है ऐसे अज्ञानी जीव प्रतिकूल प्रसंग प्राप्त होने पर राग-द्वेष में ही अटक जाते हैं, इसकारण वे मोह को ही प्राप्त होंगे । शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं कर सकेंगे । राग से लाभ मानने वाले अज्ञानी जीव दया-दान आदि शुभराग में तथा क्रोधादि द्वेष में रुक जायेंगे, शुद्धात्मा को बिल्कुल ही अनुभव नहीं कर सकेंगे । देखो न ! शब्द ही यह है कि अज्ञानी शुद्धात्मा

को बिल्कुल ही अनुभव नहीं करता और और ज्ञानी शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है ।

व्यवहार होता तो अवश्य है, पर व्यवहार से भेदज्ञान प्रगट नहीं होता । हां, व्यवहार से भिन्नता का ज्ञान करके अन्तरोन्मुख होने पर भेदज्ञान प्रगट होता है । इसीप्रकार कार्य सम्पन्न होने में निमित्त होते तो अवश्य हैं, पर निमित्तों से कार्य नहीं होते । कार्य तो उपादान से ही होते हैं ।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक में तो ऐसा आया है कि यदि कर्म के निमित्त के बिना जीव में विकार होवे तो विकार जीव का स्वभाव हो जायेगा । इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य निमित्त से ही होता है, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

समाधानः– वहां उस कथन का अभिप्राय यह है कि विकारी परिणाम निमित्त के लक्ष्य से होते हैं, न कि निमित्त विकार कराते हैं । निपित्त विकार कराते नहीं हैं वरन् जब-जब विकार होता है, तब निमित्त के लक्ष्य से ही होता है । तथा विकार है तो एक समय की पर्याय का स्वभाव ही । विकार एक समय के लिए धारण किया हुआ जीव का विभाव स्वभाव है । विभाव भी पर्याय का स्वभाव ही है । यहां स्वभाव का अर्थ त्रिकाली स्वभाव नहीं है, जबकि मोक्षमार्ग प्रकाशक में जो उपर्युक्त कथन है, वह त्रिकाली स्वभाव की बात है ।

क्रमबद्धपर्याय की दृष्टि से सोचें तब तो विकार जिस काल में हुआ है, वह उसका स्वकाल ही है और वह स्वयं स्वतः अपने से ही हुआ है । 'वह निमित्त के लक्ष्य से हुआ है' यह कहना तो व्यवहार का कथन है । जिसप्रकार विकार का समय-समय का परिणमन अपने-अपने षट्कारकों से होता है, उसीप्रकार निर्मलपर्याय का परिणमन भी स्वतंत्रतया अपने-अपने षट्कारकों से होता है । मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि जो-जो विकारी पर्यार्यें होती हैं, वे भी स्वतंत्रतया अपने षट्कारकों से ही हाती है । कर्म के कारण या अपने द्रव्य गुण के कारण से नहीं । यह बात पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में तथा प्रवचनसार की १६वीं गाथा में स्वयंभू के प्रकरण में बहुत ही स्पष्ट रूप से आ चुकी है । वहां कहा गया है कि केवलज्ञान भी अपने अभिन्न कर्ता, कर्म, कारण आदि षट्कारकों से उत्पन्न होता है, ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षय होने से नहीं । ज्ञान की निर्मल परिणति अपने स्वतंत्र षट्कारकों से होती है, इसे परकारकों के

अभाव की या सद्भाव की कोई अपेक्षा नहीं है । उसीतरह विकारों को भी परकारकों के सद्भाव एवं अभाव की कोई अपेक्षा नहीं है ।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आया है कि कर्म व आत्मा दोनों एकसाथ एकक्षेत्रावगाह व समकाल में हैं, तथापि कर्म आत्मा की पर्याय को नहीं करते । तथा आत्मा भी कर्म की पर्याय को नहीं करते ।

यह अकाट्य सिद्धांत है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है ।

प्रश्न – शास्त्रों में जो परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध की चर्चा आती है, उसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान – हां , कारण-कार्य सम्बन्ध भी अपनी जगह सही है, पर उसका अर्थ केवल इतना ही है कि कार्य तो उपादान से ही होता है; किंतु कार्य के समय जो पर वस्तु अनुकूल निमित्त होती है, उसपर कारण का उपाचार करके व्यवहार से उसे निमित्त कारण कहा जाता है । पर वह निमित्त कारण कार्य का असली कर्ता नहीं है, क्योंकि कोई पर का कर्ता तो कभी हो ही नहीं सकता– यह मूल सिद्धान्त है । यदि निमित्त से कार्य हो तो निमित्त व उपादान दोनों एक हो जावेंगे अर्थात् निमित्त रहेगा ही नहीं ।

यहां यदि कोई ऐसा कहे कि 'निश्चय से तो स्व के आश्रय से और व्यवहार से पर के आश्रय से' धर्म होता है – ऐसा मानने में क्या हानि है?' –ऐसा मानने से तो अनेकान्त की सिद्धि होती है ।

समाधान – अरे भाई ! यह सम्यक् अनेकान्त नहीं है, यह तो मिथ्या अनेकांत है – उभयाभास है ।

यहां यह कहते हैं कि जिसको भेदज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी जीव राग को अपना मानता हुआ रागी होता है तथा द्वेष को अपना मानता हुआ द्वेषी होता है । पंचाध्यायी में आया है कि जितनी मात्रा में जीव को अनुकूलता में राग है, उतनी मात्रा में ही उसको प्रतिकूलता में द्वेष होता है । जिसतरह शरीर के प्रति जितना राग है, उतना ही शरीर में रोग होने पर उससे द्वेष होता है । प्रशंसा में जितनी मात्रा में राग है, निन्दा में उतनी ही मात्रा में द्वेष होता है । अज्ञानी को अनुकूलता में हर्ष व प्रतिकूलता में दुःख हुए बिना नहीं रहता । ज्ञानी को ऐसा अज्ञानमय सुख-दुःख नहीं होता; क्योंकि वह भेदज्ञान के बल से रागी-द्वेषी नहीं होता ।

अहाहा ! भगवान आत्मा अकषायस्वभाव का, शान्तरस का पिण्ड है। भक्तामर स्तोत्र में आता है कि भगवान ! जिसप्रकार आप परम शान्त रस स परिणमे हो, उसीप्रकार आपका देह भी मानों अकषायशान्ति का निधान होकर स्थिर हो गया है।

हे भगवान ! जगत में जितने भी शान्त भाव से परिणमित होनेवाले परमाणु थे, वे सब आपके औदारिक शरीररूप परिणमित हो गये। इसकारण आपका परमौदारिक शरीर का बिम्ब भी आत्मा के परम शान्त एवं वीतरागरस से परिणमित परिणति को प्रगट कर रहा है। ऐसी शान्ति केवल भेदज्ञान कला से ही प्रगट होती है। वस्तु स्वभाव से तो परमशान्त स्वभावी है ही, वह परमशान्ति भेदज्ञान होने पर उसकी पर्याय में भी प्रगट होती है।

पर के लक्ष्य से जो राग होता है, भेदज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता।

भाई ! सब कथनों का सार यह है कि भेदज्ञान से ही शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, राग व व्यवहार करते-करते नहीं। भाई ! इसी बात को समझने में तेरा हित है।

वर्तमान में युवावस्था हो, कुछ पढ़-लिख कर विद्वान बन गया हो, बोलने की कला हाथ लग गई हो तथा बाहर में थोड़ा-बुहत यश-प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई हो, तो अज्ञानी उसके मिथ्याभिमान में चढ़ जाता है; परन्तु भाई ! जवानी शीघ्र ढल जायेगी तथा बाहर की विद्वता आत्मानुभव में काम आयेगी नहीं, आत्मा का अनुभव तो राग से भिन्न भगवान आत्मा के जानने या भेदज्ञान प्रगट करने से ही होगा। राग के साथ स्वामित्व एवं एकत्व से यह भेदज्ञान का कार्य नहीं होगा। — ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। यह जानकर भेदज्ञान की कला प्राप्त करने में ही अपनी पूरी शक्ति लगा देना चाहिए।

गाथा १८४-१८५ के भावार्थ पर प्रवचन

जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि — आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है। जब ज्ञानस्वरूपी आत्मा का अनुभव हुआ तब जाना कि आत्मा तो कभी राग रूप हुआ ही नहीं है। यह तो सदैव ज्ञानस्वरूप ही रहता है।

अरे भाई! यदि आत्मा शुभाशुभ रागरूप हो जावे तो फिर भिन्न आत्मा का ज्ञान कैसे हो सकेगा? यदि आत्मा एक समय को भी अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर रागरूप या जड़स्वभावरूप हो जावे तो फिर कभी भी किसी को आत्मज्ञान होगा ही नहीं और यह संभव नहीं है, अतः सिद्ध है कि – आत्मा तो अनादि से रागरहित शुद्ध ही है । अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि – "मैं रागरूप हूँ" बस इसी कारण पर्याय में रागादिरूप अशुद्धता है । यद्यपि पर्याय में अशुद्धता है, परन्तु इससे सम्पूर्ण वस्तु रागादिस्वरूप अशुद्ध कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती । पर्यायदृष्टि छूटने पर एवं वस्तु के स्वभाव पर दृष्टि जाने पर ऐसा यथार्थ भान हो जाता है कि वस्तु में अशुद्धता नहीं है छठी गाथा में पहले कह आये हैं कि – "ज्ञायक ज्ञायक ही है, वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है । तथा ३४वीं गाथा में भी कहा है कि – "आत्मा कभी भी ज्ञानस्वभाव से छूटा नहीं है, इसलिए 'ज्ञान ही प्रत्याख्यान है' – ऐसा अनुभव करो ।

अब कहते हैं कि – ऐसा यथार्थ ज्ञान श्रृद्धान होने पर कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी ज्ञानी रागी-द्वेषी-मोही नहीं होता, परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है ।

देखो, जब रावण के साथ हुए युद्ध में रावण की विद्या से लक्ष्मण (वासुदेव) मूर्छित होकर गिर पड़ा था, तब रामचंदजी को उस समय ऐसा लगा कि – 'यह क्या हो गया?' वे सोचते हैं कि– 'सीताजी को तो रावण पहले ही ले गया, अब भाई लक्ष्मण भी जान खो बैठा है । जब वन में आये थे तब तीनों साथ थे और अब लौटते समय जब मैं अकेला घर जाऊँगा तो मुझे अकेला देख माताजी मेरे अकेले लौटने का कारण पूछेगीं, तब मैं उन्हें क्या जवाब दूँगा?' सोचते हुए जब मूर्छित हुए लक्ष्मण पर पुनः दृष्टि जाती है तो कहते हैं – भाई! एकबार तो बोल, माताजी को मैं क्या जवाब दूँगा?' अहा! देखो, रामचंद्रजी को उससमय भी आगम की साक्षी में श्रद्धान तो ऐसा है कि – वासुदेव की राज्याभिषेक के बाद ही मृत्यु हो सकती है, पहले नहीं, तथापि तत्समय के राग परिणाम के कारण उन्हें ऐसा विलाप हुआ । परन्तु रामचन्द्रजी ने उस प्रसंग में भी धैर्य रखा, उन्होंने उस समय भी अपना ज्ञानपना नहीं छोड़ा । कर्म के उदय के भयंकर घेरे में भी वे अज्ञानभाव को प्राप्त नहीं हुए, रागी-द्वेषी-मोही नहीं हुए । अंतरंग में आत्मा के आश्रय से ज्ञानमय ही परिणमित होते रहे ।

कर्म के उदय में तप्त होता हुआ भी ज्ञानी रागी-द्वेषी-मोही नहीं होता। वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता रहता है। भले विकल्प हो, पर लब्धिज्ञान में वह आत्मा का ही अनुभव करता है। उस समय भी उसे जितना आत्मा का आश्रय है, उतनी आत्मा की शान्ति प्रगट है। उसे आत्मा के आश्रय से शुद्ध परिणति निरंतर चालू ही है। तथा जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्मा के ज्ञान स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है; इसलिए वह रागी-द्वेषी-मोही होता है, किन्तु कभी भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।

देखो, इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि– भेदविज्ञान से ही आत्मा की प्राप्ति होती है, शुभक्रियाओं से नहीं।

कहीं-कहीं जो ऐसा कथन आता है कि शुभक्रिया से भी आत्मोपलब्धि होती है–इस कथन में बाह्य सहचर व निमित्त का ज्ञान कराया है। वहाँ यह बताने का प्रयोजन है कि ज्ञानी के सहचर रूप से ऐसा राग विद्यमान रहता है। जहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की मुख्यता से कथन किया गया हो, उससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि–'निमित्त से कार्य होता है।' कार्य तो अपने स्वचतुष्टयरूप उपादान की योग्यता से ही होता है। परवस्तुयें तो निमित्तमात्र हैं।

साधु-वंदना

ग्यान कौ उजागर सहज सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग रस भर्‌यौ है।
सरन की रीति हरै मरन कौ न भै करै,
करन सौं पीठि दे चरन अनुसर्‌यौ है॥
धरम कौ मंडन भरम कौ विहंडन है,
परम नरम ह्वै कै करम सौं लर्‌यौ है।
ऐसौ मुनिराज भुवि लोक मैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमस्कार कर्‌यौ है॥

– समयसार नाटक, मंगलाचरण, छन्द ५

समयसार गाथा १८६

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत्–

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ।।१८६।।

शुद्धं तु विजनान् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ।।१८६।।

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से ही संवर कैसे होता है? इसका उत्तर कहते हैं:–

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो ।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो ।।१८६।।

गाथार्थः–[शुद्धं तु] शुद्ध आत्मा को [विजानन्] जानता हुआ–अनुभव करता हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं च एव आत्मानं] शुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है, [तु] और [अशुद्धम्] अशुद्ध [आत्मानं] आत्मा को [जानन्] जानता हुआ-अनुभव करता हुआ जीव [अशुद्धम् एव] अशुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है ।

टीकाः– जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त राग-द्वेष-मोह की संतति (परम्परा) उसका निरोध होने से शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमयभाव में से अज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो राग-द्वेष-मोह की संतति उसका

योहि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयात् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति; यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः ।

निरोध न होने से, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

भावार्थः— जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है उसके राग-द्वेष-मोहरूपी भावास्रव रुकते; हैं; इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उसके राग-द्वेष-मोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते; इसलिए वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

गाथा १८६ पर प्रवचन

देखो, जो दया-दान, व्रत, भक्ति-पूजा, तीर्थयात्रा आदि राग का ही अनुभव करते हैं अथवा उन्हें ही हितकारी जानते हैं, वे अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करते हैं । जो राग में ही एकत्व-ममत्व करते हैं, उसे ही अपना कर्तव्य मानते हैं, वे अशुद्धता को ही प्राप्त करते हैं, रागरूप ही होते हैं ।

'जो अविच्छिन्नधारावाही ज्ञान से सदैव शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है, उसके ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है ।

देखो, गाथा में "शुद्ध वियाणंत्तो" वाक्य आया है, उसका यह अर्थ किया है कि जिसको ऐसा अटूट धारावाही ज्ञानमय परिणमन हुआ कि "मैं तो सदा ही आनन्द स्वभावमय हूँ । तथा ऐसे ज्ञानमय परिणमन से जो सदा शुद्धात्मा का अनुभवन किया करता है, उसे राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्धता की संतति का निरोध होने से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है । "ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है"—इस न्याय से ज्ञानी जीवों को ज्ञानमय भावों में से ज्ञान, आनन्द व शान्तिमय भाव ही उत्पन्न होता है, उन्हें अशुद्धता नहीं होती, रागादि विकार नहीं होता ।

प्रश्नः– चरणानुयोग में तो व्रतादि पालन करने रूप शुभाचरण का ही विधान है, उसका क्या प्रयोजन है?

उत्तरः– भाई! चरणानुयोग में तो सम्यग्दृष्टि को जो व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प आते हैं, उनका भूमिकानुसार कथन किया है। ज्ञानियों के ज्ञान की निर्मल पर्याय के साथ व्रतादि के विकल्पों की दशा भी होती है, परन्तु ज्ञानी के जीवन में स्वभाव के आश्रय से उन विकल्पों का निषेध वर्तता है।

रागी को राग में एकता होने से राग की अविच्छिन्नधारा प्रवाहित होती है तथा समकिती ज्ञानी के राग से भिन्नता हो जाने से अविच्छिन्न ज्ञानधारा प्रवाहित होती है। ज्ञानी सदा ही अविच्छन्नधारावाही आत्मा की शुद्धदृष्टि से परिणमित होने से, अच्छिन्नरूप से शुद्ध ज्ञानमय परिणमन को प्राप्त हो जाते हैं। उनके ज्ञान व आनन्द के वेदनरूप परिणमन में भंग नहीं पड़ता।

"ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है"। इस न्याय से ज्ञानी के नये कर्म आने में निमित्तभूत रागद्वेषमोह की संतति का निरोध हो जाता है। बस, वस्तुतः इसी संततिनिरोध का नाम संवर है। ज्ञान की धारावाही एकाग्रता की प्रगटता और रागमयभाव का निरोध होना ही तो वास्तविक संवर है। जहाँ अच्छिन्नधारा से ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव प्रगट हुआ, वहीं राग-द्वेप-मोह की संतति टूट जाती है। यही संवर है, यही धर्म है। संवर होने पर शुद्धात्मा से भेंट हो जाती है।

"तथा जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करते हैं, उनके अज्ञानमयभाव में से अज्ञानमयभाव की ही उत्पत्ति होती है।' इस न्याय से नये कर्मों के आस्रव के निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध नहीं होने से वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।

रत्नत्रय को राग के एकत्व से अपनेरूप अनुभवना भी अज्ञान है तथा देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान, भक्ति आदि के राग को अपना मानकर अपनेरूप अनुभवना भी मिथ्यादर्शन व अज्ञान है। अरे भाई! जिसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है, उसे व्यवहार रत्नत्रय भी नहीं होता। विकल्पों को अपना मानकर उसे आत्मारूप से अनुभवना मिथ्यात्व व अज्ञान का भाव है।

बापू! धर्म तो धीरजों का कार्य है। जो राग से भेदज्ञान करके आत्मा को ज्ञानरूप अनुभव करते हैं, उन्हें शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

देखो, यहाँ ऐसा नहीं कहा कि कर्म के उदय से आत्मा अशुद्ध होता है, इसकारण वह अशुद्ध आत्मा को ही अनुभवता है। बल्कि यह कहा है कि अपने अज्ञान के कारण यह जीव अपने अशुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। भले कर्म निमित्तरूप से हो, पर निमित्त के कारण आत्मा अशुद्धता का अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं कर्ता बनकर राग को करता है, रागरूप परिणमता है तो अशुद्धता को प्राप्त होता है।

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि राग मेरा कार्य है तथा राग से मुझे लाभ होता है। इसी कारण उसके राग-द्वेष-मोह के भाव की संतति का निरोधं नहीं होता। अर्थात् अज्ञानी के निरन्तर नये-नये भाव होते ही रहते हैं। वस, वे ही आस्रव-बंध हैं। जबकि ज्ञानी (धर्मी) जीव के रागरहित ज्ञानमय आत्मा का अनुभव करनेवाला होने से राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध वर्तता है। तथा इसीकारण वह शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लेता है। बस, यही संवर है;-धर्म है। इसीलिए कहा गया है कि –"शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है।"

अहाहा----! जिसकी स्वभावसन्मुख दृष्टि है तथा राग से भिन्नता हो गई है उसे धारावाही निर्मलता-पवित्रता प्रगट होती है। उसे वर्तमान कर्म का संवर होता है और संवरपूर्वक पूर्वकर्म की निर्जरा होती है।

प्रश्नः– आगम में तो तप से निर्जरा कही है एवं अनशन, ऊनोदर आदि करना तप है और इनके द्वारा निर्जरा होती है–इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तरः– भाई! जिसे तुम तप कहते हो, वह वास्तविक नहीं है उसे तो उपचार तप कहा जाता है। ऐसा (बाह्य) तप निर्जरा का कारण नहीं है। भगवान आत्मा में अन्दर उग्र रमणता का होना वास्तविक तप है और वह तप संवरपूर्वक ही होता है। यहाँ यह भी कहा है कि – राग से भिन्न शुद्धात्मा के अनुभव से राग का रुकना होता है तथा यह राग का रुकना (निरोध होना) ही संवर है।

प्रश्नः– यह हो निश्चय की बात है, इसके सिवाय व्यवहार भी तो है न? क्या व्यवहार तप से निर्जरा नहीं होती?

उत्तरः– अरे भाई! वस्तुतः तो निश्चय के आश्रय से ही यथार्थ निर्जरा होती है! निश्चय ही निर्जरा का वास्तविक कारण है। समयसार के बन्ध अधिकार में कहा है कि जिनवर के द्वारा कहा गया सम्पूर्ण व्यवहार राग है तथा जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक निश्चयवंत

को साधकदशा में ऐसा व्यवहार होता है; परन्तु यह जो व्रतादि का रागरूप बाह्यव्यवहार है, वह तो बन्ध का ही कारण है।

अरे! जब भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि हुई, उसके पहले असंख्य-अरब वर्षों से एक स्वर्ग जैसी भोगभूमि ही वर्त रही थी उस समय में जुगलिया एकसाथ मरण को प्राप्त होकर स्वर्ग ही जाते थे। जब से ऋषभदेव की दिव्यध्वनि का खिरना प्रारंभ हुआ तभी से पाँचों ही गतियों के दरवाजे खुल गये। अर्थात् तब से मनुष्य संसार की चारों गतियों में तो जाने ही लगे, उन्हें मुक्ति भी प्राप्त होने लगी।

जो पात्र जीव थे, वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके मोक्ष चले गये। अन्य साधारण जीव पुण्योपार्जन करके स्वर्ग या मनुष्यगति में चले गये। तथा जो दिव्यध्वनि का या तत्व का विरोध करने वाले थे, वे नरक, तिर्यंच में जाकर निगोद में चले गये। यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि दिव्यध्वनि के प्रारंभ होते ही चतुर्गति के द्वार खुल गये, पर नरक व निगोद दिव्यध्वनि के कारण नहीं हुआ। उन जीवों की उस समय वैसी ही योग्यता थी। वाणी तो निमित्त मात्र है। वाणी से लाभ और हानि कुछ भी नहीं होता।

प्रश्न:- कार्य कभी उपादान से हो जाता है और कभी निमित्त से- ऐसा देखने में आता है - अतः ऐसा अनेकान्त क्यों न मान लिया जाये?

उत्तर:- भाई! अनेकान्त ऐसा नहीं होता। अनेकान्त का स्वरूप तो ऐसा है कि- शुद्धात्मा के अनुभव से संवर होता है तथा दया, दान आदि शुभ परिणाम से संवर कभी नहीं होता; क्योंकि वह शुभ परिणाम आस्रव है। कार्य हमेशा उपादान से ही होता है तथा निमित्त से नहीं होता, यही सम्यक् अनेकान्त है।

गाथा १८६ के भावार्थ पर प्रवचन

"जो जीव अखण्ड धारावाही ज्ञान से आत्मा का निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है, उसके राग-द्वेष-मोह रूपी भावास्रव रुकते हैं, इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।"

देखो, जो अखण्ड दृष्टि के विषय त्रिकाली शुद्ध आत्मा को दृष्टि में ले कर परिणमता है, वह अखण्ड धारावाही अपने आत्मा को शुद्धरूप ही

अनुभवता है। उसके राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रव रुक जाते हैं। इसकारण वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त हो गया है। बस, इसी का नाम संवर है।

"और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उसके राग-द्वेष-मोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते, इसलिए वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।"

देखो, अज्ञानी को यह भान नहीं है कि अपना शुद्ध चिदानंद भगवान राग रूप से कभी भी हुआ ही नहीं है। अहाहा---! अपना परम चैतन्यनिधान संसार के उदयभावरूप हुआ ही नहीं है। ऐसा भान नहीं होने से अज्ञानी को राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रव नहीं रुकता। वह रागादिभाव से ही परिणमित होता रहता है। इसकारण वह अशुद्ध आत्मा की अशुद्धता का ही अनुभव किया करता है। व्यवहार के राग को भी जो अपना मानकर अनुभवता है, वह अशुद्धता को या मलिनता को ही प्राप्त होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है। देखो, यहाँ यह स्पष्ट किया है कि जो शुभभाव से भी संवर होना मानते हैं उनकी वह मान्यता मिथ्या है।

चिन्मूरति नाटक देखनहारो

या घट में भ्रमरूप अनादि, विसाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत, पुग्गल नृत्य करै अति भारौ ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक, सौंजि लियैं वरनादि पसारौ।
मोह सौं भिन्न जुदौ जड़ सौं, चिन्मूरति नाटक देखनहारौ ॥१३॥

जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै,
जैसैं राजहंस निरवारै दूध जल कौं।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक-सकति सेती,
भिन्न-भिन्न करै चिदानन्द पुग्गल कौ ॥
अवधि कौं धावै मनपर्यै की अवस्था पावै,
उमगि कैं आवै परमावधि के थल कौं।
याही भांति पूरन सरूप कौ उदोत धरै,
करै प्रतिबिंबित पदारथ सकल कौं ॥१४॥

— समयसार नाटक, अजीवद्वार

कलश १२७

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।१२७।।

श्लोकार्थः— [**यदि**] यदि [**कथम् अपि**] किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) [**धारावाहिना बोधनेन**] धारावाही ज्ञान से [**शुद्धम् आत्मानम्**] शुद्ध आत्मा को [**ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते**] निश्चलतया अनुभव किया करे [**तत्**] तो [**अयम् आत्मा**] यह आत्मा, [**उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्**] जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्मा को [**पर-परिणतिरोधात्**] परपरिणति के निरोध से [**शुद्धम् एव अभ्युपैति**] शुद्ध ही प्राप्त करता है ।

भावार्थः— धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से राग-द्वेष-मोहरूप परपरिणति का(भावास्रवों का)निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

धारावाही ज्ञान का अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान— अखण्ड रहनेवाला ज्ञान । वह दो प्रकारसे कहा जाताः— एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है । दूसरा, एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है अर्थात् जहाँतक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, वहाँतक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अन्तर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खण्डित होती है । इन दो अर्थों में से जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए । अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी और श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी, क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मा में ही उपयुक्त है।।१२७।।

कलश १२७ के अर्थ एवं भावार्थ पर प्रवचन

"धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से राग-द्वेष-मोह रूप परिणति का (भावास्रवों का)निरोध होता है और उससे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है ।"

राग की एकताबुद्धि में अज्ञानी के धारावाही अशुद्धता का पुण्य-पापरूप विकार का अनुभव होता था। परंतु जब ज्ञान को राग से भिन्न करके ज्ञानी होता हुआ शुद्धात्मा का अनुभव करने लगा तो फिर धारावाही ज्ञानमय परिणमन होने लगा। बस, तभी से पुण्य-पापरूप भावास्रव रुकने से शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाती है। अहो! ऐसा भेदज्ञान अलौकिक वस्तु है।

अहा! ऐसे भेदज्ञान के स्वरूप को समझे बिना यदि कोई ऐसा माने कि हम धर्मात्मा हैं और धर्मकार्य कर रहे हैं तो वह केवल बाह्य व्रत, तप, त्याग आदि क्रियाकाण्ड को ही जैनधर्म मानता है। वह मानता है कि वीतराग धर्म निर्वृत्तिमय है, इसलिए जितनी बाह्य प्रवृत्ति मिटकर निवृत्ति हो, उतना ही धर्म है; परन्तु भाई! यह सब भ्रम है। समकित के बिना कोई व्रत या तप यथार्थ नहीं होते। राग की रुचि से निर्वृत्ति होना ही प्रथम धर्म है। उसके बिना व्रतादि सच्चे होते ही नहीं हैं।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ अन्तर में राग से ज्ञान भिन्न हो जाता है, वहीं से शुद्धता रूप ज्ञानमय परिणमन की धारा का अखण्ड प्रवाह चलने लगता है; भले ही साथ में किंचित् अशुद्धता का परिणमना हो तथापि शुद्धता की धारा तो निरंतर चलती ही रहती है। जो ज्ञानानंद स्वभाव की निर्मल परिणति प्रगट हो गई, उसकी अखण्ड धारा तो अटूट ही रहती है।

"धारावाही ज्ञान अर्थात् प्रवाहरूप ज्ञान। वह दो प्रकार का है— एक तो वह जिसमें मिथ्याज्ञान नहीं आता – ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है तथा दूसरा, एक ही ज्ञेय में उपयोग का उपयुक्त रहने की अपेक्षा ज्ञान का धारावाहीपना अर्थात् जबतक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, तबतक धारावाही ज्ञान कहलाता है।"

भले उपयोग पर में हो, परन्तु जिसमें मिथ्यादृष्टिपना नहीं आता और सम्यग्दर्शन कायम रहता है – ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। राग से भिन्न हुआ ज्ञान धारावाही अखण्ड रहता है। आत्मा राग से भिन्न है – जिसे ऐसी अन्तर्दृष्टि के द्वारा आत्मभान हो गया है, उसे भले ही किंचित् राग उत्पन्न हो रहा हो; पर उसे जो शुद्धता प्रगट हो गई है, वह अखण्ड धारावाही है। जबतक मिथ्याज्ञान नहीं आता, तबतक धारावाही ज्ञान है। जबतक मिथ्यात्व नहीं आता, तबतक सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की धारा निरन्तर चलती रहती है। यह तो प्रथम प्रकार का धारावाही अखण्ड प्रवाह है।

दूसरा धारावाही ज्ञान का अखण्ड प्रवाह है, जिसमें एक ही ज्ञेय में उपयोग उपयुक्त रहा करता है। अपना एकरूप ज्ञायकभाव अपने ही ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय भी कहा जाता है। उसी अपने ज्ञेय में ही उपयोग का स्थिर होना ज्ञान का धारावाहीपना है।

पहले प्रकार में उपयोग में स्थिर रहने की वात नहीं है। वहाँ तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होने से केवल भेदज्ञान की या ज्ञानमय परिणमन की धारा ही अखण्ड रहती है। तथा दूसरे प्रकार में आत्मा अपने ध्यान में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद से रहित एक उपयोग में स्थिर होता है, एक आत्मा में ही लीन होता है, उसे धारावाही ज्ञान कहते हैं। यह दूसरे प्रकार के उपयोग की स्थिरता की वात है।

इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही है। छद्मस्थ का उपयोग तो अन्तर्मुहुर्त तक ही रहता है,अधिक नहीं;इसलिए इतने काल तक का धारावाही कहलाता है। जव उपयोग अन्दर नहीं ठहर पाता तो वह वाहर आ जाता है और उपयोग खण्डित हो जाता है। इसीकारण जवतक उपयोग अन्दर में लवलीन रहता है, तवतक धारावाही ज्ञान कहलाता है।

इन दोनों अर्थों में जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, वैसा अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए।

अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह नीचे के गुणस्थानवाले अर्थात् चौथे, पाँचवें व छठवें गुणस्थानवाले जीवों के धारावाही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहा है, वह पहले कथन की अपेक्षा समझना। यहाँ उपयोग यदाकदा ही अन्तर सन्मुख होता है, अतः यहाँ उपयोग की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती।

श्रेणी चढ़नेवाले जीवों के ही मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू पड़ती है। यद्यपि उनके भी अवुद्धिपूर्वक होनेवाला राग तो होता है, पर उसे गौण करके उपयोग की एकाग्रता की मुख्यता से ऐसा कहा गया है। आठवें गुणस्थान से उपयोग की धारा स्थिर होती है। उस गुणस्थान में जहाँ उपयोग लगाते हैं वहीं स्थिर रहता है, वहाँ से हटता नहीं है। अतः वहाँ उपयोग की स्थिरता की अपेक्षा धारावाही ज्ञान कहा है।

इसप्रकार धर्म की धारना दो प्रकार हुई – एक तो चौथे, पाँचवे एवं छठवें गुणस्थानवालों को जो निर्मल सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, वह धारावाही है। भले उपयोग राग में, पर में जाये परन्तु अन्तर में

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है, वह अब छूटता नहीं है। दूसरे — आठवें गुणस्थान से जो उपयोग अन्तरात्मा में आया, वह वहाँ से नीचे न गिरकर ऊपर चढ़कर केवलज्ञान पा लेता है। आठवें में क्षपकश्रेणी से उपयोग धारावाहिक रहता है और केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

भाई! तेरा यथार्थ स्वरूप नित्यानंद-चिदानंदमय है। उसमें एकबार भी उपयोग लग जावे तो बस सब काम हुआ ही समझ। बाद में भले तेरा उपयोग थोड़ी बहुत देर को वहाँ से हट भी जावे तो भी सम्यग्ज्ञान हो गया और यदि वह उपयोग उग्र पुरुषार्थ से अन्तर्मुहूर्त तक अखंड धारावाही रहता है तो केवलज्ञान को प्राप्त हो जायेगा।

भेदज्ञान परंपरा मोक्षका कारण है (चौपाई)

*भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।
सो चेतन सिवरूप कहायौ॥
भेदग्यान जिन्हके घट नांही।
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही॥ ८॥

भेदज्ञानसे आत्मा उज्ज्वल होता है (दोहा)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर॥ ९॥

भेदविज्ञानकी क्रियाके दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कतक फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं॥ १०॥

संवर द्वार

समयसार गाथा १८७ से १८९

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्:-

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ।।१८९।।

आत्मानमात्मना रुन्धवा द्विपुण्यपापयोगयोः ।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ।।१८७।।
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वम् ।।१८८।।
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम् ।।१८९।।

अव प्रश्न करता है कि संवर किस प्रकार से होता है? इसका उत्तर कहते हैं:-

शुभ अशुभ से जो रोककर निज आत्म को आत्मा हि से ।
दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे ।।१८७।।
जो सर्वसंगविमुक्त, ध्यावे आत्म से आत्मा हि को ।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को ।।१८८।।
वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ ।
बस अल्प काल जु कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म का ।।१८९।।

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढ़तरभेदविज्ञोनावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुन्धवा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन् मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेकत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन्, शुद्धदर्शनज्ञानमयामात्मद्रव्यमवाप्तः, शुद्धात्मोपलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन्, अचिरेणैव सकलकर्म- विमुक्तमात्मानमवाप्नोति । एष संवर प्रकारः ।

गाथार्थः—[आत्मानम्] आत्मा को [आत्मना] आत्मा के द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्य-पापरूपी शुभाशुभयोगों से [रुन्धवा] रोककर [दर्शनज्ञाने] दर्शनज्ञान में [स्थितः] स्थित होता हुआ [च] और [अन्यस्मिन्] अन्य (वस्तु) की [इच्छाविरतः] इच्छा से विरत होता हुआ, [यः आत्मा] जो आत्मा, [सर्वसंगमुक्तः] (इच्छारहित होने से) सर्व संग से रहित होता हुआ, [आत्मानम्] (अपने) आत्मा को [आत्मना] आत्मा के द्वारा [ध्यायति] ध्याता है, और [कर्म नोकर्म] कर्म तथा नोकर्म को [न अपि] नहीं ध्याता, एवं [चेतयिता] चेतयिता (होने से) [एकत्वम्] एकत्व को ही [चिन्तयति] चिन्तवन करता है- अनुभव करता है, [सः] वह (आत्मा), [आत्मानं ध्यायन्] आत्मा को ध्याता हुआ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय [अनन्यमयः] और अनन्यमय होता हुआ [अचिरेण एव] अल्पकाल में ही [कर्मप्रविमुक्तम्] कर्मों से रहित [आत्मानम्] आत्मा को [लभते] प्राप्त करता है ।

टीका:— राग-द्वेष-मोह जिसका मूल है—ऐसे शुभाशुभ योग में प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा को आत्मा के द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शनज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से सर्व संग से रहित होकर, निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ, कर्मनोकर्म का किंचित्—मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा ध्याता हुआ स्वयं को सहज चेतयितापन होने से एकत्व को ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञान चेतना रूप रहता है), वह जीव वास्तव में, एकत्व-चेतन द्वारा अर्थात् एकत्व के अनुभवन द्वारा (परद्रव्य से) अत्यन्त भिन्न चैतन्य-

चमत्कारमात्र आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होनेपर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रांत होता हुआ,अल्पकाल में ही सर्व कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। यह संवर का प्रकार (विधि) है।

भावार्थ:- जो जीव पहले तो राग-द्वेष-मोह के साथ मिले हुए मन-वचन-काय के शुभाशुभ योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलायमान नहीं होने दे, और फिर उसी को शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूप में निश्चल करे तथा समस्त वाह्यभ्यांतर परिग्रह से रहित होकर कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का ही अनुभव किया करे अर्थात् उसी के ध्यान में रहें, वह जीव आत्मा का ध्यान करने से दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ अल्पकाल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह संवर होने की रीति है।

गाथा १८७ से १८९ तक तीन गाथाओं की उत्थानिका, गाथाओं एवं उनकी टीका पर प्रवचन

यहाँ यह प्रशन होता है कि संवर अर्थात् धर्म का आरम्भ किस प्रकार होता है? अनादि से इस संसारी जीव को राग के सद्भाव के कारण अशुद्धता है, उस अशुद्धि का निरोध होकर संवर रूप शुद्धि या धर्म किसप्रकार प्रगट होता है? इसी प्रश्न के उत्तर स्वरूप आचार्यदेव ने ये तीन गाथाएँ कहीं हैं—

देखो, शुभाशुभ भावों का मूल कारण मिथ्यात्व व राग-द्वेष हैं। इनके कारण सभी परद्रव्य, जो ज्ञेयमात्र हैं, उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें होती हैं, ये अच्छे हैं, ये वुरे हैं – ऐसा मिथ्या भ्रम उत्पन्न होता है । इस प्रकार मिथ्या भ्रम उत्पन्न होता है । इसप्रकार मिथ्यात्व व राग-द्वेष ही शुभाशुभ भाव की उत्पत्ति के मूल हैं । उन शुभाशुभ भावों में प्रवर्तन करते हुए आत्मा को अति दृढ़ भेदविज्ञान के आलम्वन से आत्मा द्वारा ही रोका जाता है । "शुभाशुभ भावों में वर्तते हुए आत्मा को रोको" – ऐसा कथन करना तो उपदेश की शैली है । वस्तुत: तो उपयोग को आत्मा में रोकने से – एकाग्रता करने से संवर प्रगट होता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा द्वारा आत्मा में एकाग्र होने से संवर होता है ।

भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानदर्शन रूप है । ये दया, दान आदि के विकल्प आत्मा नहीं हैं । ये सव तो अनात्मा हैं । आत्मा तो उसे कहते हैं

अकेला ज्ञान को ही चेतता है,अनुभवता है,राग को नहीं अनुभवता।

यहाँ कोई कह सकता है कि ये तो सब बड़ी-बड़ी बातें हैं, आप तो यह बताइये कि हम सबसे पहले क्या करें?

उनसे कहते हैं कि अरे भाई! सबसे पहले यही करने योग्य है। समयसार गाथा १७-१८ में यही कहा है कि प्रथम आत्मा को जानना। आत्मा को जानना अर्थात् आत्मा का अनुभव करना ही आत्मार्थी का सर्वप्रथम कर्तव्य है। भाई! तू आत्मा को अनादि से भूला है, यही तेरे दुःख का मूल है। अतः प्रथम उसे ही जानने का प्रयत्न कर। यही तेरी सबसे बड़ी भूल है, सबसे पहले इस भूल को ही मेट। तू अपने को जान (पहचान) तथा उसी में एकाग्र हो जा। इन्हें बड़ी-बड़ी बातें कहकर टाल मत।

जगत की अन्य सब वस्तुएँ परज्ञेय हैं, उनमें कोई न हितकर – (ठीक) ही हैं तथा न अहितकर (बुरी) ही हैं। वे तो मात्र ज्ञेय हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि आत्मा के सहज चेतयितापन होने से वह एकत्व को ही चेतता है। अहाहा---! वह सब ज्ञेयों को एकरूप समानपने – परज्ञेयपने जानते हैं। भगवान पंचपरमेष्ठी ठीक हैं, अन्य ठीक नहीं हैं – ऐसा भेद ज्ञेयों में नहीं है तथा जाननेवालों के ज्ञान में भी ऐसा कोई भेद नहीं है। सभी वस्तुएँ एकरूप से-ज्ञेयपने से भासित होती हैं। स्वयं अपने को चेतता या अनुभवता हुआ ज्ञान चेतनारूप से रहता है, ज्ञेय के प्रति राग को प्राप्त नहीं होता।

अहा! कर्मचेतना–राग करना व कर्मफल चेतना–राग को भोगना, आत्मा अनादि से इसी रूप में परिणमता आ रहा है, परंतु भाई! यह तो संसार है। चाहे बड़ा अरबपति सेठ हो, या बड़ा राजा हो या स्वर्ग का कोई शक्तिशाली देव हो, अज्ञानवश कषाय से सभी दुःख का ही वेदन करते हैं। और यहाँ यह कहते हैं कि–अपने निज आत्मा की जानने-देखने का सहज स्वभाव है, उसमें एकाग्र होकर अपने शुद्ध एकत्व के निर्विकल्प अनुभव से पर को छोड़ दें, क्योंकि भगवान आत्मा में विकल्प या अन्य कोई वस्तु नहीं है।

अरे! सारे दिन स्त्री-पुत्रों को संभालने में व दुकान के व्यापार-धंधे में – पाप की मज़दूरी करने में लगा रहता है। कदाचित् यदा-कदा लोकलाज से एकाध घन्टे को धर्म की बात सुनने चला भी जाय तो उससे क्या बनने वाला है? इससे धर्म होना तो एक ओर रहा, ठीक तरह से पुण्य भी नहीं होता है अररे! मोह ने जगत को मार डाला है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि मोहरहित होकर परद्रव्य से भिन्न निज

चैतन्य चमत्कार का ध्यान करो। जिसके ज्ञानदर्शन में अनंत जानना-देखना होता हैं, वह चैतन्य-चमत्कारमय भगवान आत्मा है। जगत के अन्य चमत्कार तो सब व्यर्थ हैं।

अहाहा----! जो जीव भेदज्ञान के अभ्यास से शुभाशुभ भाव को रोककर, सर्वसंग रहित होकर एवं स्वयं सहज चेतयिता हो एकत्व का ही अनुभव करते हैं वे जीव वास्तव में एकत्व चेतन द्वारा अर्थात् एकत्व के अनुभव द्वारा (परद्रव्य से) अत्यन्त भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर समस्त परद्रव्यता से अतिक्रान्त होता हुआ अल्पकाल में ही आत्मा को प्राप्त करता है।

अहाहा---! परद्रव्य की इच्छा से ज्यों ही हटा त्योंही वह शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय स्वद्रव्य में स्थित हो जाता है तथा तभी उसे शुद्ध आत्मद्रव्य की उपलब्धि हो जाती है। परद्रव्य की दृष्टि छोड़ने एवं अन्तः एकाग्र होने पर जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हुई तो वह परद्रव्य से अतिक्रान्त होता हुआ शुद्ध स्वरूप में ऐसा मग्न होता है कि दृष्टि व ज्ञान वहीं जम जाते हैं और अल्पकाल में ही परमात्मा हो जाता है।

प्रश्नः— आपने कहा कि अल्पकाल में परमात्मा हो जाता है तो क्या वह अपने क्रमबद्धपर्याय के क्रम को तोड देता है? क्रमबद्धता के अनुसार न होकर उसके भी पहले परमात्मा हो जाता है?

उत्तरः— अरे भाई! यहाँ तो यह कहा है कि जिसकी अन्दर में ऐसी उपर्युक्त प्रकार की स्थिति बन जाती है, उसे केवलज्ञान प्राप्त करने में क्या काल नहीं लगता? जो आत्मा का अनुभव करता है, उसके क्रमबद्ध में केवलज्ञान प्राप्त करने का अल्पकाल ही शेष रहता है। वह अपने क्रमबद्ध में ही अल्पकाल में सर्वकर्म से रहित होकर आत्मोपलब्धि कर लेता है। संवर प्रगट करने की यही रीति है।

गाथा १८७ से १८९ के भावार्थ पर प्रवचन

"जो जीव पहले तो राग-द्वेष-मोह के साथ मिले हुए मन-वचन-काय के शुभाशुभ योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलायमान नहीं होने दे, और फिर उसी को शुद्धदर्शनज्ञानमय आनन्दस्वरूप में निश्चल करे तथा समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का ही अनुभव किया करे अर्थात् उसी के ध्यान में रहे, वह जीव आत्मा का ध्यान करने से दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ अल्पकाल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है।"

देखो, स्त्री-कुटुम्ब परिवार, धन, सम्पति, राजपाट, देव-गुरु-शास्त्र आदि सभी परद्रव्य है । वास्तव में तो आत्मा सर्व परद्रव्यों से सदा जुदा ही है, परन्तु अनादि से परद्रव्यों के प्रति इच्छा से मूर्छित है । भेदज्ञान के बल से जब उस ओर की इच्छा छूट गई तभी वह सब परद्रव्यों से छूट जाता है, ऐसा यहाँ कहा है । अहो! स्वरूप में स्थित मुनिवर ऐसे होते हैं । वे स्वरूप में एकाग्रचित्त होकर, उसी में ध्यानमग्न रहकर – परद्रव्यमयपने को पहचान लेते हैं । तथा अल्पकाल में समस्त कर्म से मुक्त हो जाते हैं ।

अपने ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त-गुणों से परिपूर्ण भगवान आत्मा इच्छा-राग व परद्रव्य से सदा खाली है । ऐसा ही इसका स्वरूप है । अपने ऐसे त्रिकाली स्वरूप में दृष्टि एकाग्र होने पर आत्मानुभव की प्राप्ति हो जाती है । इस आत्मानुभव में से ही स्वरूप की प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । उस काल में कोई विकल्प या विचार नहीं होता । आत्मवस्तु स्वयं तो निर्विकल्प व वीतरागस्वरूप है, इसकारण वीतरागी पर्याय भी निर्विकल्प अनुभव में व ध्यान में ही प्राप्त होती है।जिसे ऐसी वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान की दशा प्रगट होती है, वे जीव शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मा को परद्रव्य से भिन्न चेतते- अनुभवते हुए स्थिर होकर अल्पकाल में पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त करते हैं । अहो! पंचमकाल के मुनि पूर्ण परमात्मपद की प्राप्ति रूप मोक्ष की बात कहते हैं, ऐसा नहीं कहते कि वर्तमान में मोक्ष नहीं होता, परन्तु पूर्ण दृढ़ता के साथ मोक्ष प्राप्त करने की विधि बतलाते हैं ।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि वर्तमान काल में तो शुभ उपयोग ही होता है, उनसे आचार्य कहते हैं कि भाई! जो शुभपयोग है वह तो पुण्यभाव है, धर्म नहीं है । जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि : "जो आत्मा को छोड़कर पुण्य करते हैं, उन्हें उसके फल में केवल भोगों की ही अभिलाषा है । "आगे बन्ध अधिकार में भी आया है कि "अभव्य जीव भोगों के निमित्तरूप धर्म (पुण्य) की ही श्रद्धा करते हैं । कर्म के क्षय रूप धर्म (वीतराग धर्म) की नहीं । "अरे भाई! जिसे पुण्य भला लगता है, उसे उसके फलरूप पंचेन्द्रियों के भोगों की ही इच्छा है । पुण्य का अभिलाषी वस्तुतः प्रकारान्तर से भोगों का ही अभिलाषी है ।

प्रश्नः– ज्ञानियों के भी पुण्यभाव तो होते हैं न?

उत्तरः– हाँ, होते हैं; परन्तु ज्ञानी को उसके प्रति विशेष अनुराग, रुचि या लगाव नहीं है । उसे पुण्यभाव में धर्मबुद्धि व सुखबुद्धि नहीं है, जबकि अज्ञानी पुण्य को भला व धर्मरूप मानता है, उसे पुण्य में सुखबुद्धि है ।

कलश १२८

(मालिनी)

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ।।१२८।।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

श्लोकार्थ :- [**भेदविज्ञानशक्त्या निजमहिमरतानां एषां**] जो भेदविज्ञान की शक्ति के द्वारा अपनी (स्वरूप की) महिमा में लीन रहते हैं, उन्हें [**नियतम्**] नियम से [**शुद्धतत्त्वोपलम्भः**] शुद्धतत्त्व की उपलब्धि [**भवति**] होती है; [**तस्मिन् सति च**] शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर, [**अचलितम् अखिल-अन्यद्रव्य-दूरे-स्थितानां**] अचलित रूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर वर्तते हुए ऐसे उनके, [**अक्षयः कर्ममोक्षः भवति**] अक्षय कर्ममोक्ष होता है (अर्थात् उनका कर्मों से ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता) ।।१२८।।

कलश १२८ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि जो राग से भेद करके भेदज्ञान के बल से परम महिमावंत सहज अकृत्रिम निज चैतन्यस्वरूप में मग्न रहते हैं, उन्हें नियम से चिदानन्दमय शुद्धतत्त्व का अनुभव होता है । भगवान आत्मा पूर्णानंद का नाथ त्रिकाल अकृत्रिम है तथा रागादि सर्व कृत्रिम हैं ।

'भेदज्ञान की शक्ति द्वारा'— ऐसा कहकर आचार्यदेव ने शुभराग का निषेध किया है, रागमात्र से भेदज्ञान करने की ओर संकेत किया है । तथा यह कहा है कि ज्ञानी शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्य में निमग्न होकर रहता है । जो शुद्धात्मा को ही अपने ज्ञान का ज्ञेय व ध्यान का ध्येय बनाकर रहते हैं, उन्हें अवश्य ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है ।

उस शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि होने पर अविचलपने समस्त अन्य द्रव्यों से दूर वर्तते हुए अक्षय पद की प्राप्ति होती है ।

अहाहा...! राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होने पर, वह स्वरूप में स्थिर हो अविचल रूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर रहता है । समस्त अन्य द्रव्यों में देव, गुरु, शास्त्र, मन्दिर, प्रतिमा तथा उनके प्रति भक्ति का राग आदि सब आ गये । इन सबसे दूर रहने वालों को अक्षय कर्ममोक्ष होता है अर्थात् पुनः कभी भी कर्मबन्ध नहीं होता । सदा के लिए द्रव्यकर्म व भावकर्म से छुटकारा मिल जाता है । ज्ञानी अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । परमसुखमय सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं । भाई ! यह तो धीर-वीरों का काम है, भीरुओं का नहीं ।

समयसार गाथा १९० से १९२

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्–

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ।।१९०।।

हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ।।१९१।।

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ।।१९२।।

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ।।१९०।।

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोध : ।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ।।१९१।।

कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः ।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ।।१९२।।

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रम से होता है ? उसका उत्तर कहते हैं :–

रागादि के हेतु कहे, सर्वज्ञ अध्यवसान को ।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान,अविरतभाव त्यों ही योग को।। १९०।।

कारण अभाव जरूर आस्रवरोध ज्ञानी को बने ।
आस्रवभाव अभाव में, नहिं कर्म का आना बने ।।१९१।।
है कर्म के जु अभाव से, नोकर्म का रोधन बने ।
नोकर्म का रोधन हुए, संसार संरोधन बने ।।१९२।।

संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोग लक्षणानि अध्यवसानानि। तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः। आस्रवभावः कर्महेतुः। कर्म नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः इति। ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति। ततो नोकर्म भवति। ततः संसारः प्रभवति। यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः। तदभावे भवति कर्माभावः। तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः। तदभावेऽपि भवति संसाराभावः। इत्येष संवरक्रमः।

गाथार्थ :– [**तेषां**] उनके (पूर्व कथित राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों के) [**हेतवः**] हेतु [**सर्वदर्शिभिः**] सर्वदर्शियों ने [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व, [**अज्ञानम्**] अज्ञान, [**अविरतभावः च**] और अविरतभाव [**योगः च**] तथा योग [**अध्यवसानानि**]– यह (चार) अध्यवसान [**भणिताः**] कहे हैं। [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियों के [**हेत्वभावे**] हेतुओं के अभाव में [**नियमात्**] नियम से [**आस्रवनिरोधः**] आस्रवों का निरोध [**जायते**] होता है, [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभाव के बिना [**कर्मणः अपि**] कर्म का भी निरोध होता है और [**कर्मणःअभावेन**] [के अभाव से [**नोकर्मणाम् अपि**] नोकर्म का भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है, [**च**]और[**नोकर्मनिरोधेन**]नोकर्म के निरोध से [**संसारनिरोधनं**] संसार का निरोध [**भवति**] होता है।

टीका :– पहले तो जीव के, आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास (अभिप्राय) जिनका मूल है– ऐसे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं। आस्रवभाव कर्म का कारण है, कर्म नोकर्म का कारण है और नोकर्म संसार का कारण है। इसलिये सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगमय आत्मा को मानता है (अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है); इसलिये राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव को भाता है; उससे कर्मास्रव होता है, उससे नोकर्म होता है और उससे संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जब (वह

आत्मा), आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कार-मात्र आत्मा को उपलब्ध करता है – अनुभव करता है तव मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रवभाव के कारण हैं उनका अभाव होता है; अध्यवसानों का अभाव होनेपर राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव का अभाव होता है । आस्रवभाव का अभाव होनेपर कर्म का अभाव होता है; कर्म का अभाव होनेपर नोकर्म का अभाव होता है; और नोकर्म का अभाव होनेपर संसार का अभाव होता है । इसप्रकार यह संवर का क्रम है ।

भावार्थ :– जीव के जबतक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है – भेदविज्ञान नहीं है, तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं; अध्यवसान से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभाव से कर्म बँधता है, कर्म से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्म से संसार है । परन्तु जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है, तव शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसानो का अभाव होता है और उनसे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बँधता, कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है ।– इसप्रकार संवर का क्रम जानना चाहिये ।

१९० से १९२ तक तीन गाथाओं पर प्रवचन

"पहले तो जीव के आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास (अभिप्राय) जिनका मूल है – ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति व योग स्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं ।"

भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञायक तत्त्व, परमआनंदमय तत्त्व है, वह विकारी भावों से सदा ही भिन्न है । उसे विकार से भिन्न न मानकर दोनों को एक मानना मिथ्यात्वरूप महाशल्य है । भाई ! यह अनंत तीर्थंकरों एवं केवलीभगवंतों की पुकार है, उनकी दिव्यध्वनि का सार है । अहाहा....! गणधर, इन्द्र, करोड़ों मनुष्य एवं देवों की सभा में भगवान की जो दिव्यध्वनि हुई, उसमें भगवान तीर्थंकर देव ने यह उपदेश दिया है । मानो प्रश्नोत्तर की शैली में कहते हैं कि हे भव्य! तू कौन है? और तुझे जो ये रागादि के विकल्प उठते हैं, ये क्या हैं ? इसका विचार कर । अरे भगवान! तु वस्तुतः चिदानन्दस्वरूप आत्मवस्तु है तथा तुझमें जो ये

रागादिभाव उत्पन्न होते हैं – ये तुझसे भिन्न पर-वस्त् हैं। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शुद्ध चैतन्यमय स्व-वस्तु है व विकार कर्मरूप पर-वस्तु है – इन दोनों की एकता का जो अभिप्राय है, वह मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति व योग का मूल है।

आचार्यदेव आत्मा को भगवान कहकर ही बुलाते हैं। इसी समयसार की ७२वीं गाथा में आत्मा को तीन बार भगवान कहकर संबोधित किया है। वहाँ ऐसा आया है कि शुभाशुभ भाव जड़ हैं, अशुचि हैं। वे जड़ हैं, इसलिए उनके साथ एकत्वबुद्धि करनेवाले व उनसे लाभ माननेवाले भी जड़ हैं। यहाँ आचार्यदेव यह कहते हैं कि आत्मा व विकार की एकता की मान्यता मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति व योगस्वरूप अध्यवसान की कारण है तथा ये अध्यवसान राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण है।

आस्रवभाव कर्म का कारण है, कर्म नोकर्म का कारण है और नोकर्म संसार का कारण है। इसलिए सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति एवं योगमय आत्मा को मानता है। इसलिए राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव को भाता है। उससे कर्मास्रव होता है। कर्मो से नोकर्म होता है एवं नोकर्म से संसार उत्पन्न होता है।

अब कहते हैं कि रागादि आस्रवभावों के निमित्त से नवीन कर्मो का बन्ध होता है। कर्म के निमित्त से नोकर्म (शरीरादि) मिलते हैं तथा नोकर्म संसार का कारण है।

देखो, आत्मा तो सदा ज्ञान व आनन्दस्वरूप ही है, परंतु अज्ञानी जीव अज्ञानवश राग को अपना मानने के कारण राग की भावना करता है, इस कारण कर्मो का आस्रव होता है, कर्मास्रव से शरीरादि नोकर्म का संयोग होता है– फिर उससे संसार उत्पन्न होता है। अनादि से अज्ञानदशा में जो हो रहा है-यह उसकी बात की।

अब सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है– यह कहते हैं:–

"किन्तु जब यह आत्मा, आत्मा व कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है–अनुभव करता है तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान जो कि आस्रवभाव के कारण हैं, उनका अभाव हो जाता है।"

देखो, यहाँ कहते हैं कि अनादिकाल से जो पर्याय पर की ओर झुकती थी, वह पर्याय पर से या राग से भिन्न होकर भेदज्ञान करके जब स्व की ओर झुकती है अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप की ओर ढलती है, तभी उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है । तथा उसे ऐसा भान हो जाता है कि मैं पर से भिन्न हूँ । भेदज्ञान में आत्मा को पहले तो सम्यक्प्रतीति व अनुभव होता है । उसके बाद भेदज्ञान के बल से ही अनुक्रम से वह अस्थिरता के राग का त्याग करके सर्वसंग का परित्यागी होकर अन्दर आत्मा में स्थित हो जाता है । तब उसे कर्मबन्ध नहीं होता तथा वह कर्म से मुक्त होकर मोक्षदशा प्राप्त कर लेता है । यही धर्म प्राप्त करने की रीति है ।

बापू ! धर्म कोई अद्‌भुत-अलौकिक वस्तु है । भले शुभराग हो, परन्तु इससे भेदज्ञान करके स्वभाव में एकाग्रता करने का नाम धर्म है । त्रिलोकीनाथ वीतराग सर्वज्ञदेव ने इसे ही धर्म कहा है । इससे विपरीत आत्मा की एकाग्रता छोड़कर राग में एकाग्रता करना तो मिथ्यात्वरूप अधर्म है । शुभराग में एकाग्रता करना भी अधर्म है । यद्यपि यह बात कठिन लगती है, पर भाई! मार्ग तो यह एक ही है ।

श्रीमद् रायचन्द्रजी ने भी तो यही कहा है–

'एक होय त्रणकाल मां परमारथ नो पंथ'– भेदज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का मार्ग है । इसके सिवा अन्य कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है ।

भाई! यह किसी व्यक्ति विशेष का बनाया हुआ मार्ग नहीं है, वस्तुस्वरूप ही ऐसा है । आत्मवस्तु सदा वीतरागतत्त्व है तथा राग आस्रवतत्त्व है, – इन दोनों में एकत्व की मान्यता मिथ्यात्व है ।

भाई! कोई ऐसा कहे कि शुभराग करते-करते वीतराग धर्म प्रगट हो जायेगा, तो उसका यह अभिप्राय ही मिथ्या है और इसी कारण वह मिथ्यादृष्टि है ।

देखो, यह किसी पक्ष-विपक्ष की बात नहीं है । यह तो वस्तु के स्वरूप की बात है । यहाँ कहते हैं कि जिसको राग में एकत्वबुद्धि है, उसे शरीर की प्राप्ति होगी तथा वह संसार में रुलेगा तथा जिनने राग से भेदज्ञान करके निज आत्मा में एकत्व स्थापित कर लिया है, उन भेदज्ञानियों को आत्मा की प्राप्ति होगी और वे संसार से मुक्ति प्राप्त करेंगे ।

अहाहा----! अन्दर में आत्मा चैतन्य चमत्कारमात्र वीतरागमूर्ति परमात्मस्वरूप है । यदि आत्मा वीतरागमूर्ति न हो तो पर्याय में वीतरागता कहाँ से आवेगी? क्या वीतरागता कहीं बाहर से आती है? नहीं, ऐसा कभी होता ही नहीं है । वीतरागमूर्ति आत्मा तथा कर्म (राग) के भेदज्ञान से चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा उपलब्ध होता है । यहाँ आत्मा को चैतन्य चमत्कारमात्र कैसे कहते हो? इसकी पूर्णज्ञानपर्याय में तीन काल व तीन लोक को एक समय में जानने की महाचमत्कारिक अनुपम सामर्थ्य है, इसी कारण इसे चैतन्य चमत्कारमात्र कहा है । ऐसे आत्मा की प्राप्ति भेदविज्ञान से होती है । अहो! भेदज्ञान अनन्त जन्म-मरण का अभाव करके मुक्ति प्राप्त कराता है। भाई! भेदविज्ञान विना राग की एकत्वबुद्धि तुझे भवसमुद्र में कहीं बहुत गहराई में डुबो देगी । भवसुमद्र अपार है, इसमें ८४ लाख योनी हैं । तूने राग की एकता करके एक-एक योनि में अनन्तबार स्पर्श करके अनंत-अनंत अवतार किये हैं । भाई! यदि तू शुभराग को धर्म या धर्म का कारण मानता है तो तेरे भव का अन्त नहीं आवेगा । इसलिए तू भेदविज्ञान प्रगट कर ।

यहाँ कहते हैं कि भेदज्ञान द्वारा जब आत्मा शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा का अनुभव करता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति व योगस्वरूप अध्यवसानों का– आस्रवभाव रूप कारणों का अभाव होता है । अध्यवसानों का अभाव होने पर राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभावों का अभाव होता है । आस्रवभावों का अभाव होने पर कर्मो का अभाव होता है तथा कर्मो का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है । तथा नोकर्म का अभाव होने पर संसार का ही अभाव हो जाता है । इसप्रकार यह संवर का क्रम है ।

भाई! अन्दर आत्मा तो सदा अबद्धस्वरूप ही है, १५वीं गाथा में आया है कि "जो कोई आत्मा को शुद्धोपयोग द्वारा अबद्ध, स्पष्ट, अनन्य देखता है, अनन्य अर्थात् नर-नारकादि पर्याय से रहित सामान्य देखता है, नियत अर्थात् हानि-वृद्धि रहित एकरूप देखता है । तथा असंयुक्त अर्थात् पुण्य-पाप के क्लेशरूप भावों से रहित देखता है, वह सकल जैनशास्त्र को देखता है ।

अहो! वीतरागभाव ही जैनशासन है । वीतरागस्वरूप निज परमात्मद्रव्य को देखना ही जैनशासन है । यही संवर व धर्म है ।

गाथा १९० से १९२ के भावार्थ पर प्रवचन

"जीव के जबतक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है भेदविज्ञान नहीं है, तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं : अध्यवसान से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभाव से कर्म बँधता है, कर्म से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्म से संसार है ।"

देखो, यहाँ यह कहा है कि राग की एकत्वबुद्धि से जीव को अनादि से संसार किसप्रकार होता रहा है ।

चौथे गुणस्थान में जब सम्यग्दर्शन व आत्मानुभव प्रगट होता है, तब अनन्त गुणों की आंशिक निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है, आंशिकरूप से अव्रतपना टल जाता है । निष्क्रियत्व गुण की भी आंशिक निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है । अर्थात् आंशिकरूप से आत्मा में अकम्पभाव प्रगट हो जाता है । सर्वथा योग का अभाव तो चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होता है, परन्तु चौथे गुणस्थान में अंशरूप से योग का अभाव हो जाता है ।

श्रीमद् रायचन्द्र ने कहा भी है कि 'सर्वगुणांश ते सम्यक्त्व' । पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने भी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है कि 'चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं' तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि सर्वगुणों का एकदेश प्रगट होना सम्यग्दर्शन है तथा सर्वदेश प्रगट होना केवलज्ञान है । इसका अर्थ ही यह हुआ कि सर्व गुणों में चौथे गुणस्थान से ही आंशिक निर्मलता प्रगट होती है । जिसे अनन्त गुणों के एक पिण्ड रूप आत्मद्रव्य का अनुभव हुआ, उसका यथार्थ ज्ञान होकर प्रतीति हुई, उसे सर्व अनन्त गुणों का अंश तो निर्मल प्रगट होता ही है । ज्ञानी समकिती जीव भेदज्ञान के बल से क्रमशः अंतःस्थिरता करके स्वरूप में ठहरकर सर्वसंग से रहित हो कर्मों से मुक्त हो जाता है ।

यहाँ यही बात कही गई है कि–

जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है, तब शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है और उससे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बंधता, कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है । इसप्रकार संवर का क्रम जानना चाहिए ।

कलश १२९
(उपजाति)

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।।१२९।।

संवर होने के क्रम में संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है, अब उसकी भावना के उपदेश का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**एषः साक्षात् संवरः**] यह साक्षात् संवर [**किल**] वास्तव में [**शुद्ध-आत्म-तत्त्वस्य उपलम्भात्**] शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से [**सम्पद्यते**] होता है और [**सः**] वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि [**भेदविज्ञानतः एव**] भेदविज्ञान से ही होती है । [**तस्मात्**] इसलिये [**तत् भेदविज्ञानम्**] वह भेदविज्ञान [**अतीव**] अत्यन्त [**भाव्यम्**] भाने योग्य है।

भावार्थ :– जब जीव को भेदविज्ञान होता है अर्थात् जब जीव आत्मा और कर्म को यथार्थतया भिन्न जानता है, तब वह शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है; शुद्ध आत्मा के अनुभव से आस्रवभाव रुकता है और अनुक्रम से सर्वप्रकार से संवर होता है, इसलिये भेदविज्ञान को अत्यन्त भाने का उपदेश किया है।

कलश १२९ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि राग से भेदज्ञान करके शुद्धात्मा का अनुभव करने से सर्वप्रकार से प्रत्यक्ष संवर प्रगट होता है। देखो, स्वरूप के आश्रय बिना एवं पर से व राग से भिन्न पड़े बिना कभी भी संवर अर्थात् धर्म प्रगट नहीं होता । चैतन्यस्वरूप में ढलने से पुण्य-पाप के भाव रुक जाते हैं एवं साक्षात् वीतराग परिणतिरूप संवर प्रगट हो जाता है । कलश में 'एष' शब्द आया है न ? वह प्रत्यक्षपने का द्योतक है । 'प्रत्यक्ष' शब्द का आशय यह है कि रागादि रहित आत्मा की जो वीतराग दशा प्रगट होती है, यह संवर प्रत्यक्ष है ।

अब कहते हैं तथा 'सः' अर्थात् उस शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि 'भेदविज्ञानतः एव' भेदविज्ञान से ही होती है।

भाई ! व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी शुभराग है, इससे आत्मा का अनुभव नहीं होता । जब आत्मा देहादि परद्रव्य से, रागादि परभावों से तथा दया, दान, व्रतादि के राग से अपने को भिन्न जानता-मानता एवं अनुभवता है, तब आत्मा को आत्मा की उपलब्धि व अनुभव होता है।

राग से संवर सर्वथा भिन्न है । ऐसा आत्मानुभवरूप संवरधर्म भेदविज्ञान से ही प्रगट होता है ।

जगत दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभाचरण करके ऐसा मानता है कि इससे कल्याण हो जायेगा; परन्तु यह तो जगत का भ्रम है । यहाँ तो यह कह रहे हैं कि राग से भेदज्ञान करके अंतःएकाग्रता के वास्ते आत्मा का अनुभव करना ही संवर व धर्म है। 'एव' शब्द यह दर्शाता है कि साक्षात् संवर आत्मा के अनुभव से होता है, अन्य किसी भी साधन से संवर या धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है ।

अरे भाई ! अधिकांश लोगों को तो सारे दिन बाल-बच्चों की सम्हाल, उनके लालन-पालन तथा खाने-कमाने में ही उलझे रहने के कारण ऐसी भेदज्ञान की महत्वपूर्ण बात सुनने को ही नहीं मिलती। वे बिचारे क्या करें ? जब कोई अन्य उपाय नहीं सूझता तो भक्ति, उपवास, तीर्थयात्रा व दान-पुण्य करके उसी से धर्म होना मान लेते हैं। परन्तु भाई! इसमें कुछ भी धर्म नहीं हुआ।

अतः यहाँ धर्म का सही स्वरूप एवं उसे प्रगट करने की यथार्थ रीति समझाते हुए कहते हैं कि ये सब उपर्युक्त क्रियाकाण्ड तो राग है, इसमें धर्म नहीं होता। न ये धर्म हैं और न ये धर्म के उपाय ही हैं। जीव जब इन सब क्रियाकाण्डों से भिन्न होकर अन्तर में जो सदा अक्रिय भगवान चैतन्य महाप्रभु विराजता है, उसका आश्रय करता है, तब उससे ही धर्म प्रगट होता है, धर्म प्रगट करने का यही यथार्थ उपाय है।

भाई! पर से निर्वृत्ति लेना मात्र सच्ची निर्वृत्ति नहीं है। राग भी प्रवृत्ति है। जब उस राग से निर्वृत्ति लेकर अन्दर स्वरूप में प्रवृत्ति करे, तभी सच्ची निर्वृत्ति होती है। राग की प्रवृत्ति में तो स्व की प्रवृत्ति का अभाव है। जो राग में प्रवृत्त है, वह स्वरूप से निवृत्त है तथा जो स्वरूप में प्रवृत्त है, वह राग से निवृत्त ही होता है। स्वरूप में रमने का नाम ही स्व में प्रवृत्ति है।

पंचमहाव्रतादि के विकल्परूप बाह्य आचरण से अपने त्रिकाली आत्मतत्त्व को भिन्न करते ही चिदानन्दघन स्वरूप परमात्मा प्रत्यक्ष ज्ञान में आ जाता है तथा परमात्मतत्त्व के प्रत्यक्ष अनुभव में आने पर संवर प्रगट हो जाता है। शुद्धात्मा की उपलब्धि एवं निराकुल आनन्द की प्राप्ति एक भेदविज्ञान से ही होती है। यहाँ 'ही' शब्द एकान्त का प्रतीक नहीं, बल्कि दृढ़ता का सूचक है। यदि इसे एकान्त ही कहें तो यह

सम्यक्-एकान्त है, मिथ्या-एकान्त नहीं। "भेदज्ञान से भी संवर होता है व शुभाचरण से भी" ऐसा मानना यह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् अनेकान्त यह है कि "संवर भेदज्ञान से ही होता है, शुभभाव आदि अन्य से नहीं।

अरे भाई! एकान्त व अनेकान्त भी सम्यक् व मिथ्या के भेद से दो-दो तरह के होते हैं। इनमें सम्यक्-एकान्त व सम्यक्-अनेकान्त ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, अतः इनका ज्ञान करना भी आवश्यक है।

अब कहते हैं कि "इसलिए वह भेदविज्ञान ही निरन्तर भाने योग्य है।" देखो, यह उपदेश ! राग से भिन्नता व स्वभाव की एकाग्रता जिसमें होती है– ऐसा भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है, अर्थात् भेदविज्ञान से सच्चिदानंदमय भगवान आत्मा के निराकुल आनन्द का स्वाद बारंबार लेने योग्य है।

परमार्थ वचनिका मे आया है कि आगम-अंग जो बाह्य क्रियारूप स्थूल रागरूप होने से प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं, इसकारण अज्ञानियों को उनका साधन करना सुगम-सरल लगता है। इससे वे आत्मज्ञान या भेदज्ञान बिना ही इन दया, दान, महाव्रत, तप आदि बाह्य क्रियाओं का साधन करने लगते हैं तथा अपने को मोक्षमार्गी मानने लगते हैं; परन्तु अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रियायें हैं, वे अन्तर्दृष्टि ग्राह्य ही हैं, इसकारण अज्ञानी उन्हें जान नहीं पाते। त्रिकाली शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो निर्मल दशायें प्रगट होती हैं, वह अध्यात्म का व्यवहार है, जिसे अज्ञानी नहीं जानते। इससे वे मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ रहते हैं। जो इसतरह बाह्य क्रिया में रचते हैं, उनका संसार परिभ्रमण नहीं मिटता।

प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के १७वें बोल में कहा गया है कि यति की शुभक्रिया के विकल्पों का जिसमें अभाव है–ऐसा आत्मा अलिंगग्रहण है। वहां इस अलिंगग्रहण के बोल में शुद्धात्मा की अपेक्षा से ही बात कही गई है। तथा यहाँ संवर की अपेक्षा से बात की गई है कि पर से अर्थात् शुभाचरण से शुद्धात्मतत्त्व को भिन्न जानते ही जो सच्चिदानंदस्वरूप शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति हुई या शुद्ध आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, वही संवर है : यति की बाह्य क्रिया व्रतादि संवर या संवर का कारण नहीं है।

प्रश्न :– शास्त्रों में जो पुण्य परिणामरूप शुभ क्रियाओं को धर्म कहा है, उस कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– उस कथन का अभिप्राय यह है कि जिसे स्वभाव के आश्रय मे धर्म प्रगट हुआ है, उस धर्मी जीव को उस समय जो व्रतादि का राग होता है, उसे सहचर व निमित्त जानकर उपचार से धर्म कहा है। वस्तुतः ये क्रियायें धर्म नहीं हैं। परन्तु जिसे निश्चयधर्म प्रगट हुआ है, उसके शुभराग में व्यवहारधर्म का आरोप करके उसकी शुभ क्रियाओं को व्यवहारधर्म कहा गया है। अज्ञानी के व्यवहारधर्म नहीं है, क्योंकि उसे निश्चयधर्म प्रगट नहीं हुआ है। अतः उसका तो सब व्यवहाराभास है।

अनादि मे वर्तमान वर्तती ज्ञान पर्याय पर्यायबुद्धि में रम रही है। वह (ज्ञान की पर्याय) रागादि मे जुड़ी है, इसकारण वह अंतर आत्मा में नहीं जुड़ सकती, परन्तु राग के झुकाव के त्यागरूप भेदज्ञान द्वारा जब वह अन्तर में–ध्रुव में–शुद्ध चैतन्य में झुकती है, तब धर्म या संवर प्रगट होता है। इसतरह भेदज्ञान ही एकमात्र धर्म करने का कारण है।

कलश १२९ के भावार्थ पर प्रवचन

"जब जीव को भेदविज्ञान होता है अर्थात जब जीव, आत्मा और कर्म को यथार्थतया भिन्न जानता है, तब वह शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।"

देखो, जब जीव आत्मा और कर्म को या राग को यथार्थतया भिन्न जानता है, यथार्थतया अर्थात् 'मैं राग से भिन्न हूँ' इतनी क्षयोपशम ज्ञान की धारणा मात्र नहीं, बल्कि अंतरंग में अन्तर्दृष्टि करके भिन्न जानता है, तब वह शुद्धात्मा का अनुभव करता है अर्थात् तब वह अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद को प्राप्त होता है।

प्रश्न :– स्वाद तो रसना इन्द्रिय से प्राप्त सुखानुभवरूप ज्ञान को कहते हैं, जो कि हलुआ, रावड़ी, मलाई, मैसूरपाक आदि सरस भोजन से प्राप्त होता है। इसके अलावा यह अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद क्या वस्तु है? और यह स्वाद कैसा होता है?

उत्तर :– अरे भाई! ये भोज्यपदार्थो का रस – स्वाद तो जड पुद्गल की वस्तु है। यह पुद्गल का स्वाद जीव में नहीं होता। जड़ परवस्तु का स्वाद चेतन को कभी आ ही नहीं सकता। अज्ञानी जब मिष्ठान की ओर लक्ष्य करके –यह ठीक है– ऐसा राग करता है, तब उस राग का वेदन (स्वाद) होता है और उससे उसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि मुझे मिष्ठान का स्वाद आया है, जबकि वह तो कषाय का– दुख का

स्वाद है। इसीलिए धर्मी जीव उससे भेदज्ञान करके तथा स्वभाव की ओर अन्तर्दृष्टि करके पर्याय में शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति करके अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद लेता है। आत्मानुभव के काल में जो निराकुल आनन्दरस प्रगट होता है, धर्मीजीव को उसका स्वाद आता है।

आत्मा अनन्तगुण की लक्ष्मी का भंडार है। अज्ञानी जीव उन्हें नहीं जानता है, इसकारण बाह्य धन-सम्पत्ति में आशक्त होकर दु:खी रहता है। अरे भाई! ये करोड़पति-अरबपति बहुत दु:खी हैं। ऐसी सम्पत्ति का संयोग तो इन्हें अनेकबार मिला है, पर सुख नहीं हुआ; क्योंकि इसमें सुख है ही कहाँ, जो सुख मिलता। सुख का भंडार तो भगवान आत्मा है ऐसा जानकर जो धनादि परद्रव्य से एवं राग से भेदज्ञान कर सम्पूर्ण सुख स्वरूप अन्तर आत्मा में झुकता है, उसे आत्मानुभव पूर्वक सुख का लाभ होता है।

आगे कहते हैं– "शुद्धात्मा के अनुभव से आस्रवभाव रुकता है और अनुक्रम से सर्वप्रकार से संवर होता है। इसलिए भेदविज्ञान को अत्यन्त भाने का उपदेश दिया है।"

शुद्धात्मा के अनुभव से आस्रवभाव रुकता है अर्थात् शुभाशुभ भाव रुक जाता है। रुक जाने का अर्थ आते हुए कर्मो के रोकने या रुकने से नहीं है, बल्कि शुद्धात्मा का लक्ष्य होने पर आस्रव उत्पन्न ही नहीं होते– इसे ही रोकना या रुकना कहा जाता है। इसप्रकार अनुक्रम से सभी प्रकार का संवर होता है। इसलिए भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

परम्परा मोक्षका कारण
(अडिल्ल छन्द)

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है।
संवरसौं निर्जरा, अनुक्रम मोष है।।
भेदग्यान सिवमूल, जगतमहि मानिये।
जदपि हेय है तदपि, उपादेय जानिये।। ६।।

संवर द्वार.

कलश १३०

(अनुष्टुप्)

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।१३०।।

अब काव्य द्वारा यह बतलाते हैं कि भेदविज्ञान कबतक भाना चाहिए।

श्लोकार्थः–[इदम् भेदविज्ञानम्] यह भेदविज्ञान [अच्छिन्न-धारया] अच्छिन्न-धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप मे) [तवात्] तबतक [भावयेत्] भाना चाहिये [यावत्] जबतक (ज्ञान)[परात् च्युत्वा] परभावों से छूटकर [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञाने] ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) [प्रतिष्ठते] स्थिर न हो जाये ।

भावार्थः– यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए । एक तो, मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है । जबतक ज्ञान दोनों प्रकार मे ज्ञान में स्थिर न हो जाये, तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिये ।।१३०।।

कलश १३० एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अध्यात्म में द्रव्य निश्चय है और उसकी निर्मलपरिणति व्यवहार है । अन्तर्गर्भित अध्यात्म की क्रिया अर्थात् राग से भिन्न आत्मा की स्वभावपरिणतिरूप निर्मलक्रिया अध्यात्म का व्यवहार है । अन्तर्दृष्टि के अभाव में अर्थात् भेदविज्ञान के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितनी बाह्यक्रियायें करे, तो भी मोक्षमार्ग नहीं साध सकता । इसलिए बाह्यक्रिया की दृष्टि छोड़कर जबतक ज्ञान, ज्ञान में ही – आत्मा में ही पर्णरूप से स्थित न हो जाय, तबतक भेदज्ञान निरन्तर भाने योग्य है ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है ।

इस कलश के भावार्थ में पण्डित जयचंदजी कहते हैं कि "यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए । एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये, तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है ।"

आत्मा ज्ञानानन्द व सहजानन्द स्वरूप है । इसे राग से भिन्न

जानते हुए जो भेदज्ञान प्रगट होता है, वह अखण्ड धारा रूप से रहता है। बीच में मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं होता। पुनः मिथ्यात्व उत्पन्न न हो, तभी ज्ञान, ज्ञान में ठहरा कहलाता है। यह तो प्रथम प्रकार से ज्ञान का ज्ञान में ठहरना हुआ।

अब द्वितीय प्रकार बताते हुए पण्डित जयचंदजी कहते हैं कि "दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोग रूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है।"

देखो, जब ध्यान-ध्याता-ध्येय के विकल्प को छोड़कर उपयोग अकेला अन्दर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाये तथा फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो – अन्य-अन्य ज्ञेयों में भ्रमित न हो अथवा विकल्परूप न हो, तब ज्ञान ज्ञान में स्थित हो गया, ठहर गया–ऐसा कहा जाता है।

भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु ज्ञानमात्र वस्तु है। जो व्यक्ति अपने ऐसे चैतन्य चमत्कारस्वरूप आत्मतत्त्व की तो प्रतीति न करे, उसकी तो सुध न ले और बाह्य की विविध क्रियायें करे तो वैसी कहावत चरितार्थ होगी कि "घर का छोकरा तो चक्की चाटे और पड़ौसी को भर-भर झोली आटा बाटे" अर्थात् अपना भूखा बेटा तो चक्की चाट-चाट कर पेट भरे और हम पड़ौसी को झोली भर-भर कर आटा बाँटते फिरें। अहा ! अपना आत्मकल्याण कैसे हो? इसकी तो खबर नहीं की, तथा दूसरों के उपकार में अटक गया। भाई! पर से या राग से भेदज्ञान किए बिना आत्मकल्याण नहीं होता।

इसलिये कहते हैं कि "जबतक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये, तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए।"

श्रीमद् रायचन्द्र गृहस्थाश्रम में होते हुए भी ज्ञानी थे। बाह्य में लाखों रुपयों के जेवरात का धंधा था, परन्तु अंतरंग में वे ज्ञान में उसे भिन्न जानते थे। जिसतरह नारियल में गोला नरेटी से भिन्न होकर पृथक् हो जाता है, उसीतरह आत्मा का चैतन्यगोला राग से भिन्न होकर अपने आनंदरस में मग्न रहता है

श्रीमद् रायचन्द्र ने कहा भी है कि –

शुद्धबुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम।
बीजुं कहिए केटलुं, कर विचार तो पाम॥

भगवान आत्मा शुद्ध – पवित्र चिदानंदमय ज्ञान का पिण्ड है,

चैतन्यघन, असंख्यप्रदेशी, स्वयं ज्योति-चैतन्यबिम्ब भगवान स्वयं सिद्ध वस्तु है तथा आनन्द का धाम – सुख का धाम प्रभु है। ऐसा आत्मा भेदज्ञान से ही उपलब्ध होता है।

अहा! आत्मा स्वयं सुख का धाम होते हुए भी लोक सुख के लिए बाहर में झांकता फिरता है। परन्तु भाई! अज्ञानी जीव जहाँ सुख है, वहाँ तो खोजता नहीं है और जहाँ नहीं हैं, वहाँ खोजता है – यही तो इसकी भूल है।

इसलिये तो कहा है कि जबतक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए।

अहाहा-----! जबतक उपयोग उपयोग में – स्वरूप में सम्पूर्णतया ठहर न जाये, तबतक अखण्ड धारा से भेदविज्ञान भाना चाहिए।

अब पुनः भेदविज्ञान की महिमा बतलाते हैं :–

(अनुष्टुप्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

श्लोकार्थः– [**ये केचन किल सिद्धाः**] जो कोई सिद्ध हुए हैं [**भेदविज्ञानतः सिद्धाः**] वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और [**ये केचन किल बद्धा**] जो कोई बँधे हैं [**अस्य एव अभावतः बद्धा**] वे उसी के (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।

भावार्थः–अनादिकाल से लेकर जबतक जीव को भेदविज्ञान नहीं है, तबतक वह कर्म से बँधता ही रहता है – संसार में परिभ्रमण ही करता रहता है; जिस जीव को भेदविज्ञान होता है, वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है – मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। इसलिये कर्म बंध का – संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञान के बिना कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ ऐसा भी समझना चाहिये कि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तु को अद्वैत कहते हैं और अद्वैत के अनुभव से ही सिद्धि कहते हैं उनका, 'भेदविज्ञान से ही सिद्धि कहने से' निषेध हो गया; क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं,

उनके किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते, वहाँ भेदविज्ञान कैसा? यदि जीव और अजीव–दो वस्तुऐं मानी जायें और उनका संयोग माना जाये, तभी भेदविज्ञान हो सकता है और सिद्धि हो सकती है । इसलिये स्याद्वादियों को ही सबकुछ निर्बाधतया सिद्ध होता है ।१३१।

कलश १३१ पर प्रवचन

अरे भाई! रागरूप व्यवहार से अपने को सर्वथा भिन्न जानकर उससे भेदज्ञान करना ही मुक्ति का प्रथम सोपान है ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पहले निमित्त या व्यवहार होता है और बाद में निश्चय ; परन्तु यह मान्यता मिथ्या है, अयथार्थ है । इसी कलश के भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छावड़ा ने आगे कहा है कि मोक्ष का प्रथम कारण भेदविज्ञान ही है । पुण्य-पाप के भावों से भिन्न चेतनस्वरूप भगवान आत्मा में एकता करना मुक्ति का प्रथम कारण है ।

तथा इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो भी आज तक बन्धन को प्राप्त हुए हैं, वे सब इसी भेदविज्ञान के अभाव से हुए हैं । यह जीव आस्रव परिणाम के एकत्व की मान्यता से ही बँधा है, कर्म के उदय के कारण नहीं ।

प्रश्नः– मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि शास्त्रों में जो ऐसा आता है कि "आस्रवभाव से ज्ञानावरण-आदि द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है, तथा उनका उदय आने पर ज्ञान-दर्शनादि गुणों में हीनपना होता है, इस कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तरः–हाँ, आता तो है; परन्तु यह सब तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की मुख्यता से किया गया कथन है । वास्तव में तो उस समय स्वयं की योग्यता ही हीनदशा की है, अतः हीनदशा होती है, कर्म से या निमित्त से हीनदशा नहीं होती ।

अतएव यहाँ कहते हैं कि जो कोई कर्मबन्धन से बद्ध हैं, वे भेदज्ञान के अभाव से ही बन्धनबद्ध हुए हैं । आत्मा को पुण्य-पाप के भावों से पर्याय में बन्धन होता है । दया, दान, भक्ति एवं हिंसा, झूठ, चोरी आदि के सभी भाव रागभाव हैं, आस्रवभाव हैं, विकार हैं, विभाव हैं तथा ये ही बन्ध हैं । एक आत्मज्ञान ही मात्र अबंध है ।

इस कलश में संक्षेप में यह बताया गया है कि जीव संसार में क्यों

भटकता है और इसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? केवल भेदज्ञान के अभाव से अर्थात् राग की एकताबुद्धि सहित परिणमन करने से जीव अनादि से बंधा है तथा जो भी आज तक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं । "किल" शब्द पढ़ा है न? जिसका अर्थ है – निश्चय से बन्धन में व मुक्त होने में क्रमशः भेदज्ञान का अभाव व भेदज्ञान का सद्भाव ही कारण है । जो भी निगोदादि के जीव आजतक निश्चय से बन्धनबद्ध हैं वे सब भेदज्ञान के अभाव से ही बंधे हैं, कर्म से नहीं । गोम्मटसार की १९७वीं गाथा में आया है कि निगोदिया जीव भावकर्म कलंक की प्रचुरता से निगोदवास नहीं छोड़ते ।

भाई! निमित्त है तो अवश्य, पर निमित्त पर में कुछ करता नहीं है । यदि निमित्त कुछ करने लगे तो वह निमित्त निमित्त न रहकर उपादान बन जायेगा । निगोद के जीवों की विकाररूप परिणमन करने की प्रवृत्ति स्वयं उसके क्रम में ही है तथा निमित्त की उपस्थिति भी उसके अपने क्रम में निश्चित है, कोई किसी पर के कारण नहीं ।

भाई! जिस काल में द्रव्य की जो पर्याय होनी हो, वह अपने क्रमबद्ध परिणमन के अनुसार उसीकाल में होती है, निमित्त के कारण नहीं होती । जो ऐसा नहीं मानता, उसका निर्णय यथार्थ नहीं है । उसके निर्णय मे भेदज्ञान का अभाव है । क्योंकि उसे राग व निमित्तों में एकत्वबुद्धि है । जिसकी निमित्तों में एकत्वबुद्धि है, वह तो राग में ही बंधा है, और जबतक वह राग में बंधा है तबतक उसकी मुक्ति नहीं हो सकती । जिसतरह निमित्ताधीन दृष्टिवाले के मुक्ति संभव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है – इस मान्यतावालों के भी राग में एकत्वबुद्धि होने से, राग व आत्मा में भेदविज्ञान न होने से बन्धन ही होना है, मुक्ति नहीं ।

कुछ लोग ऐसा तो कहते हैं कि "जब काललब्धि आयेगी तभी कार्य होगा" परन्तु उन्हें काललब्धि का यथार्थज्ञान नहीं है । भाई! काललब्धि का यथार्थज्ञान उन्हें होता है, जो जीव आस्रव से भिन्न होकर व अपने स्वभाव में अन्तःसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं । केवल शास्त्र पढ़कर बाह्य व्यवहार में काललब्धि की अच्छी चर्चा करले, तो भी वह काललब्धि का यथार्थज्ञान नहीं है ।

प्रश्नः—समयसार कलश टीका में पाण्डे राजमलजी ने जो यह लिखा है कि "काललब्धि बिना करोड़ उपाय करे तो भी जीव सम्यक्त्वरूप

परिणमन के योग्य नहीं है – ऐसा नियम है ।" – इस कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर:–भाई! कार्य होने में तो एक साथ पाँच कारण होते हैं, परन्तु कथन में विवक्षा के अनुसार किसी एक कारण की मुख्यता से कथन किया जाता है । इसी दृष्टि से वहाँ कलश टीका में काललब्धि की मुख्यता से कथन किया गया है; परन्तु जहाँ एक कारण होता है, वहाँ पाँचों ही कारण होते हैं– यह सम्यक् अभिप्राय समझना चाहिए ।

देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक के नवमें अधिकार में तो यह कहा है कि काललब्धि व भवितव्य तो कोई वस्तु नहीं है । जिस काल में कार्य हुआ, वही उसकी काललब्धि है तथा जो होने योग्य था, वही हुआ –यह भवितव्य है । तथा कर्मों का जो उपशमादि है, वह पुद्गल की शक्ति है, उसका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है । तथा जो पुरुषार्थपूर्वक उद्यम किया जाता है, वह आत्मा का कार्य है । इसलिए पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने का उपदेश दिया जाता है ।

वहीं मोक्षमार्ग प्रकाशक में आगे कहा है कि जो जीव श्री जिनेश्वर के उपदेश अनुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उनके काललब्धि व भवितव्य तो हो ही चुका है तथा कर्म का उपशमादि भी है ही, तभी तो वह उपाय कर रहा है । इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसके तो सर्व कारण मिलते ही मिलते हैं और मोक्ष की प्राप्ति भी होती ही है – ऐसा निश्चय करना ।

अहा! जो लोग अपने हठाग्रह को रखकर शास्त्र पढ़ते हैं, वे शास्त्र के अभिप्राय को यथार्थ नहीं समझ पाते; परन्तु भाई! यह कोई हित का मार्ग नहीं है । अपना हठाग्रह छोड़कर शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए, तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की यही रीति है ।

देखो, आत्मा में जिसप्रकार ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनन्द आदि शक्तियाँ हैं, उसीप्रकार उसमें एक "अकार्यकारणत्व" नामक शक्ति भी है । इस शक्ति का कार्य यह है कि आत्मा राग का कारण भी नहीं है और कार्य भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि "राग कार्य व आत्मा उसका कर्ता"– ऐसा नहीं है । तथा राग कारण (कर्ता) व वीतरागी परिणाम उसका कार्य – ऐसा भी नहीं है ।

कलश १३१ के भावार्थ पर प्रवचन

"अनादिकाल से लेकर जबतक जीव को भेदविज्ञान नहीं है, तब तक वह कर्म से बंधता ही रहता है । संसार में रखड़ता ही रहता है ।"

देखो, यह नहीं कहा कि व्यवहार का आचरण नहीं है, – इस कारण जीव अनादिकाल से संसार में रखड़ता है, बल्कि यह कहा कि जबतक भेदविज्ञान नहीं हुआ, तबतक कर्म से बंधता ही रहता है ।

अब कहते हैं कि जिसे भेदज्ञान प्रगट हो जाता है, वह कर्मों से नियम से छूटता ही है ।

अहाहा---! जिसे स्वाश्रय से राग से भिन्न निज चैतन्य तत्त्व का भान हो जाता है, वह अवश्य ही कर्म से छूट कर मोक्ष प्राप्त करता है । अब इसी का और विशेष स्पष्टीकरण करते हैं ।

"इसलिए कर्मबन्धन का मूल – संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है तथा मोक्ष का प्रथम कारण भेदविज्ञान ही है । भेदविज्ञान विना कोई सिद्धि नहीं पा सकता ।"

दूसरे प्रकार से कहें तो स्वाश्रय (स्वरूप के आश्रय) विना मुक्ति नहीं होती तथा जब मुक्ति होती है तब स्वाश्रय से ही होती है ।

अहा! आस्रव का यथार्थज्ञान भी उसे ही होता है, जिसे शुद्ध चैतन्यघन निजस्वरूप के आश्रय से आत्मज्ञान होता है । उस ज्ञान में आस्रव आत्मा से भिन्न हैं– ऐसा यथार्थ प्रतिभासित होता है । शुद्ध ज्ञायक के आश्रय से ज्ञायक भगवान का अस्तिरूप से ज्ञान होने पर आस्रव मेरा नहीं है, ऐसा नास्तिरूप से आस्रव का ज्ञान भी स्थापित हो जाता है, क्योंकि आत्मा का ऐसा ही स्व-परप्रकाशक स्वभाव है ।

'जिस जीव को भेदज्ञान होता है, वह कर्म से छूटता ही है'– ऐसा जो कहा है, इसमें समयसार की ११वीं गाथा का वह कथन भी आ गया, जिसमें कहा गया है कि व्यवहार अभूतार्थ है और भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ।

प्रश्न:– 'भूतार्थ त्रिकाली के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ' – ऐसा जो कहा गया है, वह कथन व्यवहारनय का विषय है या नहीं? अथवा क्या इसे केवल निश्चय का कथन माना जाये?

उत्तर:– इसका स्पष्टीकरण इसी ग्रन्थ की १२वीं गाथा में किया गया है। वहाँ कहा है कि उसके जो वर्तमान में अपूर्णज्ञान, अशुद्धता एवं प्रगट हुई आंशिक शुद्धता है– वे सब व्यवहारनय के विषय हैं, परन्तु वे अपने-अपने स्वकाल में मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान हैं, आचरण के लिए प्रयोजनभूत नहीं है। प्रयोजनवश ज्ञानी को उस समय की भूमिका में हुए उस जाति के व्यवहार का ज्ञान होता है, बस यही उस व्यवहार का प्रयोजन है।

प्रथम समय में जो व्यवहार है, द्वितीय समय में अस्थिरता व अशुद्धि घटते एवं स्थिरता और विशुद्धि बढ़ते ही व्यवहार बदल जाता है। यथा-अवसर अपने-अपने स्वकाल में जैसा-जैसा व्यवहार बदलता है, उस सबका ज्ञान ज्ञानी को यथासमय होता रहता है, बस यही व्यवहार की प्रयोजनभूतता है।

अब प्रश्न होता है कि वह ज्ञान जानता किसप्रकार है? उत्तर में कहते हैं कि उस काल में ज्ञानी की इसीप्रकार की स्वयं स्व-पर को प्रकाशित करती हुई पर्याय प्रगट होती है। उसमें स्व को जानते हुए पर का ज्ञान सहज हो ही जाता है। 'पर को जानता है'– ऐसा कहना ही वस्तुतः व्यवहार है। राग के कारण उसका ज्ञान नहीं हुआ। 'स्व' का ज्ञान होते ही व्यवहार पक्ष का भी यथार्थज्ञान हो जाता है। इसीकारण व्यवहार को जाना हुआ प्रयोजनवान कहा जाता है।

यहाँ यह कहते हैं कि जो व्रत, तप, भक्ति आदि राग के परिणाम से भेदज्ञान करता है वह कर्म से अवश्य छूटता ही है। भाई! भगवान आत्मा तो सदा अबद्धस्वरूप – मुक्तस्वरूप ही है। उस अबद्धस्वरूप आत्मा के आश्रय से अबन्ध परिणाम होता है तथा बन्धभाव के आश्रय से बन्ध परिणाम होता है। बापू! मार्ग तो यही है, इसे अन्तर में अच्छी तरह समझपूर्वक बिठाना चाहिए। तू चाहे जैसा मानता रहे और सच्चा पुरुषार्थ हो जाये– ऐसा कभी नहीं हो सकता। समयसार की १५वीं गाथा में कहा भी है कि आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, भेदादिरहित जानना ही जिनशासन है। शुद्धोपयोगरूप धर्म ही जिनशासन है, शुभोपयोगरूप राग जिनशासन नहीं है। शुभोपयोग तो पर की ओर झुकने वाला परिणाम है। जब इसमें आत्मा ज्ञात ही नहीं होता, तो इससे आत्मानुभवरूप धर्म की उपलब्धि कैसे हो सकती है?

यहाँ यह भी जान लेना कि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध, वेदान्ती तथा जो

भी वस्तु को अद्वैत कहते हैं तथा अद्वैत के अनुभव से ही सिद्धि कहते हैं, भेदविज्ञान से ही आत्मा की सिद्धि होती है – यह कहकर उनका निषेध किया है ।

देखो, विज्ञान-अद्वैतवादी बौद्ध जगत को केवल विज्ञानस्वरूप कहते हैं तथा उसके अनुभव को ही मात्र मुक्ति कहते हैं तथा वेदांती एक ही आत्मा है – ऐसा मानते हैं, उन्हें तो भेदविज्ञान हो ही नहीं सकता; क्योंकि एक में भेदविज्ञान कैसा? दो भिन्न वस्तुओं में ही तो भेदविज्ञान संभव है । पर से हटकर स्वयं में आने का नाम ही तो भेदविज्ञान है ।

देखो, जो अद्वैत कहते हैं और अद्वैत के अनुभव से सिद्धि कहते हैं उनके मत में भेदविज्ञान ही नहीं है और भेदविज्ञान न होने से आत्मा की सिद्धि भी नहीं है ।

जो ऐसा कहता है कि 'तू मुक्त हो जा ' उसके ऐसा कहने से क्या यह स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि वह वर्तमान में दु:खी है, जिससे मुक्त होना चाहता है । यदि दु:खी नहीं है तो मुक्त होने की आवश्यकता ही नही रहती । मुक्त होने की भावना से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं– एक तो यह कि वर्तमान में दु:ख है और दूसरी यह कि आत्मा आनंदस्वरूप है ।

स्वरूप को नहीं समझा, इस कारण दु:ख हैं– इसका अर्थ ही यह है आत्मा के सिवाय कोई अन्य वस्तु है, ज़िसके लक्ष्य से दु:ख उत्पन्न होता है ।

रस्सी में जो सर्प का भ्रम होता है, उससे भी द्वैत की सिद्धि होती है, क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते है, उनके किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते, वहाँ भेदविज्ञान कैसा? जब जीव और अजीव– दो वस्तुए मानी जायें और उनका संयोग माना जाये तभी भेदविज्ञान हो सकता है और सिद्धि हो सकती है ।

अरे भाई! यदि भूल ही नहीं हो तो फिर आत्मा भटके ही क्यों? यदि भूल ही न हो तो भूल मिटाने का उपदेश भी किसलिए दिया जाता? 'दु:ख से मुक्त हो जाओ'– इस उपदेश का अर्थ ही यह है कि दु:ख है तथा उसके नाश होने पर सुख प्रगट होता है । भेद है और उस पर से दृष्टि उठाने की बात कही जाती है, इसी से सिद्ध है कि आत्मा में भेदकृत मलिनता है और स्वभाव पवित्र है । इसप्रकार द्रव्य व पर्याय दोनों सिद्ध हो जाते हैं ।

जहाँ द्वैत ही स्वीकार न किया गया हो, वहाँ भेदज्ञान किससे किया जायेगा? जो जीव व अजीव– ऐसी दो वस्तुओं को मानेगा, उसे ही भेदज्ञान होना संभव है । दूसरी वस्तु भी लोक में है तथा उसके लक्ष्य से होने वाला औपाधिकभाव है– ऐसा माने तो औपाधिकभावों से रहित होकर संवर प्रगट किया जा सकता है । इसलिए स्याद्वादियों के ही निर्बाध रूप से वस्तुस्वरूप की सिद्धि हो सकती है ।

संसार व मोक्ष– ये भी दो दशायें हैं । यदि संसार दशा न हो तो मोक्षदशा कहाँ से प्रगट होगी? मोक्षदशा संसार दशा का अभाव होकर प्रगट होती है । देखो, इसमें भी संसार व मोक्ष – दो पदार्थों की सिद्धि हुई ।

अहा---! संसार में श्रीमंत लोग भी दुःखी ही हैं । जगत के प्राणी तो इन श्रीमंतों को सुखी व चतर मानते हैं, परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो राग से भेदज्ञान करते हैं, वे ज्ञानी ही एकमात्र लोक में सुखी व चतुर हैं । अरे! अधिकांश जीवों का बहुभाग समय तो स्त्री-पुत्रादि के लालन-पालन एवं व्यापार-धंधा की प्रवृत्ति में ही व्यतीत हो जाता है । इसतरह बहुभाग जीवन तो अशुभभाव में– पापभाव में ही व्यतीत होता है । सत्य को सुनने व समझने का जो भाव है, वह सब शुभभाव है । जिसे ऐसे शुभभाव में प्रवृत्ति करने का भी समय नहीं मिलता तथा केवल पाप में ही रचे-पचे रहते हैं, उसे पुण्य-पाप से रहित अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप को समझना बहुत कठिन है । अरे! भेदज्ञान के अभाव में बेचारे संसार में कहाँ-कहाँ भटकेंगे? कुछ कहा नहीं जा सकता । भेदज्ञान ही मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है ।

कलश १३२

(मन्दाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।।१३२।।

अब, संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होने से जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं:–

श्लोकार्थः– [**भेदज्ञान-उच्छलन-कलनात्**] भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से [**शुद्धतत्त्वउपलम्भात्**] शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हुई, शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से [**रागग्रामप्रलयकरणात्**] राग समूह का विलय हुआ, राग समूह के लिए विलय करने से [**कर्मणां संवरेण**] कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से; [**ज्ञाने नियतम् एतत् ज्ञानं उदितं**] ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ– [**बिभत् परमम् तोषं**] कि जो ज्ञान परम संतोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है, [**अमल-आलोकम्**] जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादिक के कारण जो मलिनता थी वह अब नहीं है), [**अम्लानम्**] जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ– निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोक को जाननेवाला है), [**एकं**] जो एक है (अर्थात् क्षयोपशम से जो भेद था वह अब नहीं है) और [**शाश्वत-उद्योतम्**] जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है) ।।१३२।।

कलश १३२ पर प्रवचन

देखो, जिसे धर्म प्रगट करना है, संवर प्रगट करना है या मोक्षमार्ग प्रगट करना है, उसे भेदज्ञान प्रगट करने का अभ्यास करना ही इष्ट है; क्योंकि भेदज्ञान प्रगट करने से ही शुद्धतत्त्व की प्राप्ति — अनुभव होता है । मैं राग से भिन्न हूँ— ऐसे अभ्यास से जब अपने आत्मा को राग से व निमित्त से भिन्न अनुभव करे, तब ही भेदज्ञान प्रगट होता है तथा तभी उसे आत्मा की उपलब्धि रूप संवर प्रगट होता है ।

प्रश्नः— क्या राग से संवर प्रगट होता है?

उत्तरः— नहीं, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति आदि के राग से संवर नहीं होता; क्योंकि राग तो आस्रवतत्त्व है । यदि कोई राग से संवर प्रगट होना माने तो यह तो उसकी आस्रव व संवर— दोनों तत्त्वों के समझने में भूल है । उसने तो दोनों को एक मान लिया है । उसकी यह मान्यता तो मिथ्यात्व है ।

यहाँ तो यह एक ही सिद्धान्त है कि सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा जो कि क्षेत्र से असंख्यप्रदेशी है तथा भाव से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य आदि अनन्तगुणों से अभिन्न है, उसे निमित्तों व रागादि से भिन्न करके भेदज्ञान की दृष्टि से देखने पर संवर प्रगट होता है ।

यद्यपि निमित्त निमित्त की जगह यथावत् रहते हैं, व्यवहार रत्नत्रय का राग भी अपनी जगह रहता है, इनसे भेदज्ञान करने से ही संवर प्रगट होता है । निमित्त व व्यवहार रत्नत्रय अपने-अपने अस्तित्व में सत्य हैं; परन्तु उनसे धर्म नहीं होता, संवर नहीं होता ।

यह संवर अधिकार का अन्तिम कलश है, इस कारण इसमें सारभूत बात कही है । कहते हैं कि शरीर-मन-वाणी, देव-गुरु-शास्त्र आदि तो सब परद्रव्य हैं । भले ये हों, परन्तु चैतन्य महाप्रभु इन सबसे भिन्न है । तथा दया-दान-भक्ति आदि के भाव भी हैं, पर वे सब रागरूप हैं । सच्चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा इन सबसे भिन्न है । इसप्रकार पर से, निमित्त से एवं राग से भगवान आत्मा को भिन्न करके अन्तर स्व में एकाग्र होना ही भेदज्ञान है । इस भेदज्ञान के प्रगट होने से ही संवर धर्म प्रगट होता है । ऐसा कहने से निमित्त व व्यवहार से धर्म प्रगट होने की बात स्वतः अप्रभावी हो जाती है । लोग जहाँ-तहाँ से बार-बार

व्यवहार को तूल देते रहते हैं; अभी कुछ दिन पहले एक लेख छपा था, जिसमें लिखा था कि जो अकालमृत्यु को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी मान्यता मिथ्या है । परन्तु भाई! अकालमृत्यु तो निमित्त की अपेक्षा से किया गया कथन है । शस्त्रादि से अकस्मात मरनेवाले जीवों के नामकर्म व आयुकर्म के रजकण ही ऐसे बंधते हैं कि जिनकी योग्यता एक ही समय में खिर जाने या समाप्त हो जाने की होती है । वस्तुतः निश्चय से तो जब देह के छूटने का समय होता है, वह उसी समय छूटती है । अकाल में या भिन्नकाल में नहीं छूटती । अकालमृत्यु में काल की मुख्यता न करके अन्य निमित्त आदि की मुख्यता करके कथन किया जाता है । अकाल का अर्थ काल को गौण करके अन्य निमित्त आदि की अपेक्षा कथन करना होता है, न कि स्वकाल के पूर्व ही मरण हो जाना । मृत्युरूप कार्य तो अपने– स्वसमय में ही होता है, वह अकाल – असमय में कैसे हो सकता है?

तथा यदि कोई यह कहे कि उपादान का कार्य तो उपादान में ही होता है, परन्तु निमित्त के बिना नहीं होता; तो उनकी यह बात यथार्थ नहीं है । कार्य तो उपादान से ही होता है तथा निमित्त से नहीं होता – यही बात यथार्थ है । निमित्त की अपेक्षा निमित्त सत्य है, परन्तु उपादान में ये निमित्त कुछ विशेषता कर देते हैं– ऐसा मानना मिथ्या है । निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी होना मानना या उपादान के कार्य होने में निमित्त की अपेक्षा मानना, सहकार मानना ही वस्तुस्वरूप से विपरीत है ।

अब कहते हैं कि शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से राग के समूह का विलय हुआ । तात्पर्य यह है कि जब आत्मा की ओर ढलने से विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती तो ऐसा कहा जाता है कि 'राग का नाश हो गया ।' राग के समूह का नाश होने से संवर हुआ तथा संवर होने से ज्ञान में ही निश्चल हुआ । इसे ही ज्ञान का उदय कहा जाता है । यह ज्ञान का उदय ही वस्तुतः संवर व धर्म है ।

अबतक राग में एकाग्र था, उससे अशुद्धता प्रगट हो रही थी; अब जब वह ज्ञान राग से भिन्न हो ज्ञान में स्थिर हुआ तो उससे शुद्धता प्रगट हो गई । बस, यही संवर है, यही धर्म है ।

अब यह कहते हैं कि आत्मा में निश्चल हुआ उदय को प्राप्त ज्ञान का स्वरूप परम संतोष को प्राप्त करता है, अतीन्द्रिय आनन्द को धारण

करता है । तथा उस ज्ञान का प्रकाश अति निर्मल है, उसमे रागांश नहीं है।

ज्ञान की लक्ष्मी प्रगट होने के साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है । अहाहा---! ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने पर प्रगट हुआ ज्ञान अतीन्द्रिय आनन्द को धारण करता है । राग से भिन्न हुआ अर्थात् दुःख से भिन्न हुआ तथा दुःख से भिन्न होने का अर्थ है पर्याय में परम आनन्द की उपलब्धि । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी की पर्याय में सुख उछलता है ।

ज़िसने ऐसी बात कभी सुनी नहीं है, वे ऐसा कह कर उपेक्षा करते, हैं कि यह तो निश्चय की बात है । परन्तु भाई! यही एकमात्र सत्य है त्रिकाल सत्यस्वरूप निश्चल-ध्रुव आत्मा का ही शरण लेने जैसा है । व्यवहार है वह अपनी जगह सत्यार्थ है, पर वह शरण लेने के लिए प्रयोजनभूत नहीं है । इसीप्रकार निमित्त भी हैं, परन्तु वह भी शरणभूत नहीं है ।

भाई! ज्ञान को ज्ञान में (आत्मा में) ही स्थित करना है । ज्ञान को ज्ञान में स्थिर करने का उपाय यह है कि पर से खस, स्व में बस अर्थात् पर से भेदविज्ञान करके स्वरूप में समा जा ।

जन्म-मरण से रहित होने का एकमात्र यही उपाय है, बाकी सब व्यर्थ है । परमात्मप्रकाश में आया है कि जो राग को उपादेय मानता है, वह अपने शुद्धात्मा को हेय माननेवाला मिथ्यादृष्टि है तथा जो शुद्ध आत्मस्वभाव को उपादेय मानता हे, उसकी दृष्टि में राग हेय है ।

अरे भाई! देखो, महापुण्य के योग से यह उत्तम मनुष्यजन्म मिला है, उसमें भी यथार्थ धर्म को समझने का अवसर मिल गया है । इस अवसर में भी यदि तत्त्व को नहीं समझा तो चौरासी के अवतार में कहाँ जाकर पड़ेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता ।

दुनिया माने या न माने, मानकर प्रशंसा करे या न मानकर निन्दा करे तुझे इससे क्या?

जो लोग अपनी किंचित् प्रशंसा से, अपनी शिष्य मंडली से, अपने अनुयायियों से अथवा अपने द्वारा लिखित पुस्तकों के प्रकाशन से अपना बड़प्पन मानते हैं, उसमें संतुष्ट होते हैं, हर्षित होते हैं, उनसे कहते हैं कि भाई! ये शिष्य, अनुयायी या पुस्तकें क्या तेरे हैं? ये सब तो प्रगट परद्रव्य

हैं। शिष्य व साहित्य आदि परद्रव्य से गौरवान्वित होता है, परन्तु पर से गौरवान्वित होना तो चैतन्य आत्मा के लिए लज्जास्पद है, कलंक है। यदि पर से भिन्न होकर– भेदज्ञान करके स्व का आश्रय करके आनंद में नहीं आया तो ये सब उपाधियाँ तुझे दुःख का ही कारण हैं। आत्मा में स्थिर हुआ ज्ञान ही सुख का– आनन्द का कारण है।

अब आगे कहते हैं तथा वह ज्ञान अम्लान है, क्षायोपशमिक ज्ञान की तरह निर्बल नहीं है। केवलज्ञान निर्बल नहीं है, किन्तु सर्व लोकालोक को जाननेवाला है। तथा वह एक है अर्थात् क्षयोपशमज्ञान में जो भेद थे, वैसे क्षायिकज्ञान में भेद नहीं है। तथा वह शाश्वत है, अविनश्वर है।

देखो, यह संवर का क्रम! पर के भेदाभ्यास से आत्मा की जो प्राप्ति हुई, वह प्रथम संवर हुआ और आत्मलीनता क्रमशः बढ़कर परिपूर्ण रूप से लीनता होने पर पूर्ण शुद्धता सहित केवलज्ञान प्रगट हुआ।

मोक्षका मूल भेदविज्ञान है (छप्पय छन्द)

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानैं।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानैं॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासैं।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासैं॥
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर,
परम अतींद्रिय सुख लहै॥ ११॥

इति संवरो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽङ्कः ।

टीकाः— इसप्रकार संवर (रंगभूमि में से) वाहर निकल गया ।

भावार्थः—रंगभूमि में संवर का स्वांग आया था, उसे ज्ञान ने जान लिया, इसलिए वह नृत्य करके वाहर निकल गया ।

(सवैया तेईसा)

भेदविज्ञानकला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही ।
उज्जवल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाहीं,
यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं ।।

इस काव्य में पण्डित श्री जयचंदजी ने सम्पूर्ण संवर अधिकार को संक्षेप में कह दिया है । चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के भेदविज्ञान की कला प्रगट हो जाती है । पर से भिन्न पड़ने पर — भेदविज्ञान होने पर पवित्र स्वभाव की प्राप्ति होती है । राग-द्वेष व मिथ्यात्व का नाश हो जाता है, दुष्ट कर्म रुक जाते हैं तथा उज्जवल ज्ञान प्रकाश होने पर आत्मा में प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है । इसप्रकार मुनिराज भेदविज्ञान की भावना के द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द को धारण करके क्रम-क्रम से केवलज्ञान उत्पन्न करके परमसुखमय मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

रंगभूमि में जो ज्ञान संवर का भेष धरकर आया था, वह ज्ञान प्रगट हो गया है । इस रीति से अब आत्मा द्वारा संवर की पहचान हो गई तो संवर अपना स्वांग त्याग कर आत्मतत्त्व को स्वीकार करके रंगभूमि के बाहर निकल गया ।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में संवर का प्ररूपक पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ।

(इति संवर अधिकार समाप्त)

निर्जरा अधिकार

कलश १३३

अथ प्रविशति निर्जरा ।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ।।१३३।।

दोहा

रागादिक कूं मेटि करि, नवे बंध हति संत ।
पूर्व उदय में सम रहे, नमूं निर्जरा वंत ।।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब निर्जरा प्रवेश करती है ।' यहाँ तत्त्वों का नृत्य है; अतः जैसे नृत्यमंच पर नृत्य करने वाला स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ रंगभूमि में निर्जरा का स्वाँग प्रवेश करता है ।

अब, सर्व स्वाँग को यथार्थ जानने वाले सम्यक्ज्ञान को मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगल के लिये, प्रथम उसी निर्मल ज्ञानज्योति को ही प्रगट करते हैं :—

श्लोकार्थ:-[परः संवरः] परम संवर, [रागादि-आस्रव-रोधतः] रागादि आस्रवों को रोकने से [निज धुरां धृत्वा] अपनी कार्य-धुरा को धारण करके (अपने कार्य को यथार्थतया सँभालकर) [समस्तम् आगामि कर्म] समस्त आगामी कर्म को [भरतः दूरात् एव] अत्यन्ततया दूर से

ही [**निरुन्धन् स्थितः**] रोकता हुआ खडा है; [**तु**] और [**प्राग्बद्धं**] (संवर होने के पहले बँधे हुए) [**तत् एव दग्धुम्**] कर्म को जलाने के लिये [**अधुना**] अब [**निर्जरा व्याजृम्भते**] निर्जरा (निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है [**यतः**] जिससे [**ज्ञानज्योतिः**] ज्ञानज्योति [**अपावृतं**] निरावरण होती हुई (पुनः) [**रागादिभिः न हि मूर्छति**] रागादिभावों के द्वारा मूर्च्छित नहीं होती—सदा अमूर्च्छित रहती है ।

भावार्थः— संवर होने के बाद नवीन कर्म तो नहीं बंधते । और जो कर्म पहले बँधे हुए थे, उनकी जब निर्जरा होती है; तब ज्ञान का आवरण दूर होने से वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप परिणमित नहीं होता— सदा प्रकाशरूप ही रहता है ।।१३३।।

कलश १३३ एवं उस के भावार्थ पर प्रवचन

अब निर्जरा अधिकार कहते हैं । आत्मा की अशुद्धता के नाश, शुद्धता की वृद्धि एवं उसी समय द्रव्यकर्म के निर्जीर्ण होने या खिर जाने को निर्जरा कहते हैं

यह निर्जरा तीन प्रकार की है:—

(१) आत्मज्ञान होने पर स्वरूप में रमणता होने से जो द्रव्यकर्म का नाश होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं ।

(२) अशुद्धता का नाश होना भावनिर्जरा है । यह नास्ति से निर्जरा का स्वरूप है ।

(३) आत्मा में जो शुद्धता की वृद्धि होती है, वह अस्ति से भावनिर्जरा है । शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है ।

कर्मों का नाश होता है, वह स्वयं कर्म के कारण होता है तथा वह वास्तविक निर्जरा नहीं है । पर्याय में अशुद्धता का नाश होकर शुद्धि की वृद्धि हुई, वह वास्तविक निर्जरा है । संवर अर्थात् आत्मा में शुद्धि की उत्पत्ति होना और निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होना । आत्मा में शुद्धि की उत्पत्ति संवर, शुद्धि की वृद्धि निर्जरा एवं शुद्धि की पूर्णता मोक्ष है ।

यहाँ पण्डित जयचंदजी छावड़ा मंगलाचरण कहते हैं—

रागादिक के रोध से, नवो बंध हनि संत ।
पूर्व उदय में सम रहें, नमूं निर्जरा वंत ।।

पुण्य-पाप के भाव में अटकने से नया बन्ध होता है । संत अर्थात्

साधुपुरुष शुभाशुभ भाव का निरोध करके नवीन कर्मबन्ध का हनन कर देते हैं तथा पूर्व के उदय में सम अर्थात् समताभाव से रहते हैं । इसी का नाम निर्जरा है । पण्डित जयचंदजी छावड़ा कहते हैं कि ऐसे निर्जरावंत संत पुरुषों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

अव प्रथम टीकाकार अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि 'अब निर्जरातत्त्व प्रवेश करता है ।' यहाँ तत्त्वों का नृत्य बताना है न? आत्मा का शुद्धरूप परिणमन करना निर्जरातत्त्व का नृत्य है । इसीकारण कहा है कि जिसप्रकार नृत्य के मंच पर नृत्य करने वाला स्वांग धारण करके प्रवेश करता है, उसीतरह यहाँ रंगभूमि में निर्जरा का स्वांग प्रवेश करता है, भाई! ये जितनी पर्यायें हैं, वे सब जुदे-जुदे स्वांग हैं । पर्याय द्रव्य का स्वांग है ।

"अव सर्व स्वांग को यथार्थ जाननेवाले सम्यग्ज्ञान को ही मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगल के लिए प्रथम उस सम्यग्ज्ञान को ही— निर्मल ज्ञानज्योति को ही प्रगट करते हैं ।"

आचार्य यहाँ कहते हैं कि आत्मा में राग का अभाव होकर वीतरागी परिणति का होना ही परम संवर है । भाई! यह वीतरागी मार्ग है । इसमें आत्मा के आश्रय से जितनी वीतराग परिणति प्रगट होती है, उस परिणति को संवर धर्म कहते हैं । आस्रव को रोकने पर संवर प्रगट होता है । कोई पंच महाव्रत के परिणाम को संवर-धर्म कहते हैं, जो कि ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो आस्रवभाव है । पुण्य के सम्पूर्ण परिणाम आस्रव हैं तथा सभी रागादि आस्रवों को रोकने से संवर होता है

यह संवर अपनी कार्यधुरी को धारण करता है । इसका यह फर्ज है, ड्यूटी है कि यह शुद्ध चैतन्य स्वभाव की दृष्टिपूर्वक पुण्य-पाप के भावों को रोककर निर्मल वीतराग परिणति प्रगट करे । यह संवर अपनी ड्यूटी को बराबर संभालता है । इसलिए कहा जाता है कि समस्त आगामी कर्मों को पूर्णरूप से दूर से ही रोकता हुआ संवर प्रगट हुआ है । यह संवर की विशेषता है कि वह मिथ्यात्व के परिणाम को तथा नये कर्मों को समीप नहीं आने देता । अहाहा.....! जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान की निर्मल परिणति प्रगट हुई है, वह संवर महान है, महिमावन्त है । कलशटीका में इसे ही संवर की विशेषता कही है । अपनी इस सम्यग्दर्शन ज्ञान की निर्मल परिणति की विशेषता को प्रगट करता हुआ और समस्त नवीन कर्मों को रोकता हुआ संवर प्रगट हुआ है ।

अहाहा---! शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि होने पर अर्थात् राग से भेद करके शुद्ध चैतन्य की जागृत दशा रूप अनुभव करते हुए जो संवर प्रगट हुआ, वह अपनी कार्यधुरा को सावधानी से सम्हालते हुए प्रगट होता है, इसी से उस स्थिति में नवीन कर्मास्रव नहीं होता । जो आस्रव व मिथ्यात्व को नहीं होने दे, उसका नाम संवर है

अरे! लोग तो ऐसा मानते हैं कि राग कर्मों के कारण होता है ; परन्तु भाई! रागभाव तो आत्मा के विपरीत पुरुषार्थ से होता है । तथा राग का न होना, आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ से होता है । और सम्यक् पुरुषार्थ राग व कर्म से भेदज्ञान होने पर होता है । अरे भाई! यदि राग कर्म के कारण होता हो तो जब कर्म खिसकें– हटें तब ही संवर होगा; परन्तु ऐसा नहीं है । वस्तुतः बात यह है कि जब जीव राग से भेदज्ञान करके अन्तःपुरुषार्थ करता है, तब संवर प्रगट होता है ।

इस तरह यह संवर की बात कही। अब निर्जरा की बात करते हैं।

यह निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है अर्थात् जिसे संवर होता है, उसे ही निर्जरा होती है; अज्ञानी के तो निर्जरा होती ही नहीं है। जिसको राग के विकल्प से भेदज्ञान होने पर शुद्धता की प्राप्ति हुई है, उसे ही संवर होता है एवं उसे ही निर्जरा होती है।

यहाँ कहते हैं कि पूर्वबद्ध कर्मों को दग्ध करती हुई निर्जरा प्रसरित होती है। यहाँ दग्ध करने का अर्थ यह है कि जो पुद्गल की कर्मरूप पर्यायें थीं, वे निर्जरित होकर अकर्मरूप हो जाती हैं। कर्म का जो अकर्मरूप होना है, वह तो पुद्गल का कार्य पुद्गल में हुआ और जो केवलज्ञानादि रूप आत्मा की शुद्धता प्रगट हुई, वह चैतन्य का कार्य है। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि घातियाकर्मों का नाश हुआ, इसलिये हुआ अथवा केवलज्ञान कर्मों का कार्य है; क्योंकि वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। दोनों का ही अपना-अपना स्वतंत्र परिणमन है।

देखो, यहाँ निर्जरा की यह व्याख्या की है कि संवर होने के पूर्व बंधे हुए कर्मों का नाश करके निर्जरा होती है अर्थात् आत्मा की शुद्धता में वृद्धि होती है। अहाहा ---- ! आत्मा चैतन्यप्रकाश का पुंज या अनंतज्ञान का सागर है। उसमें पूर्वकर्मों का नाश करके या पर्याय में रहनेवाली अशुद्धता का नाश करके पूर्ण शुद्धता का प्रकाश प्रगट होता है।

पहले मिथ्यात्वदशा में जो ज्ञानज्योति राग में मूर्छित थी, संवर- प्रगट होने पर वही अब मूर्छित नहीं होती, अस्थिर भी नहीं होती,

राग – विकल्प नहीं होते। वृत्ति का पर की ओर झुकाव होना ही राग है तथा पर की ओर झुकनेवाली वृत्ति का नाश होने पर ज्ञान का निश्चल होकर अन्तरोन्मुख होना – स्वभाव में ठहर जाना, स्थित हो जाना ही संवर व निर्जरा है।

पुण्य व पाप भाव से भिन्न भगवान आत्मा का अवलम्बन लेने पर जो शुद्धि प्रगट होती है तथा जिसके द्वारा आते हुए नवीन कर्म रुक जाते हैं, वह संवर है। ऐसे संवर होने के बाद नवीन कर्म नहीं बंधते तथा जो पहले कर्म बंधे थे, उनकी निर्जरा हो जाती है तथा जब कर्म खिर जाते हैं, तब ज्ञानज्योति निरावरण हो जाती है अर्थात् ज्ञान का आवरण दूर हो जाता है; व्यवहार की भाषा तो ऐसी है कि ज्ञानस्वरूपी चैतन्य भगवान आत्मा का आवरण दूर हो जाता है; परन्तु वास्तव में तो ज्ञान का ज्ञेयपने या रागादिपने से परिणमना ही इसका वास्तविक आवरण है। ज्ञान का विपरीत परिणमन ही इसका भाव-आवरण है। जड़कर्मों का द्रव्य-आवरण तो इसमें निमित्तमात्र है। जब ज्ञान (आत्मा) में स्थित होकर ज्ञानभाव से परिणमित होता है, तब भाव-आवरण दूर हो जाता है तथा भाव-आवरण के दूर होते द्रव्य-आवरण भी स्वतः दूर हो जाता है।

'ज्ञानज्योति निरावरण होने से अर्थात् ज्ञान का आवरण दूर होने से' – ऐसा शास्त्रों में लिखा है, इसे पढ़कर अज्ञानी कुतर्क करतें हैं कि देखो यह स्पष्ट लिखा है कि पूर्व बंधे हुए कर्मों के खिरने पर ही ज्ञान का आवरण दूर होता है।

पर, भाई ! यह तो निमित्त की प्रधानता से किया गया कथन है, संक्षेप कथन में निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग जिनवाणी में किया गया है। वास्तव में तो परिणमन की अशुद्धता (भाव-आवरण) का नाश होकर ही शुद्धता प्रगट हुई है और निमित्त की मुख्यता से 'आवरण दूर हुआ' – ऐसा कहा गया है।

अहाहा ! आचार्य कहते हैं कि ज्ञानज्योति निरावरण होने से आत्मा ऐसा प्रगट हुआ कि पुनः रागादिभाव से परिणमित नहीं होता। परिणमन एक बार निर्मल हुआ तो फिर सदैव निर्मल ही रहता है,पुनः रागमय नहीं होता। यह तो पूर्णता की बात है, पर यहाँ शैली तो ऐसी है कि अधूरे परिणमन के काल में भी ऐसा ही होता है अर्थात् आत्मा को जो शुद्धस्वरूप की प्राप्ति रूप निर्मल परिणमन हुआ, वह पुनः रागरूप परिणमित नहीं होता। अहो ! यह इस कलश में अद्भुत बात है। ऐसे

निकृष्ट काल में भी जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, उसे पुनः मिथ्यादर्शन-ज्ञान नहीं होगा। ऐसे अप्रतिहत पुरुषार्थ की शैली से यहाँ यह बात कही गई है कि जो आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव से परिणमित हुआ है, वह सदैव ऐसा का ऐसा ही रहता है। सदैव चैतन्य के निर्मल प्रकाशरूप ही रहता है, फिर वह रागादिभावों के साथ मूर्छित नहीं होता।

वस्तुस्थिति ऐसी है, तथापि राग से लाभ व धर्म माननेवाले अज्ञानीजन ऐसा कहते हैं कि व्यवहार को हेय तो नहीं कहना चाहिए ?

उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! पण्डित टोडरमलजी ने स्थान-स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि यदि तुझे राग से लाभ व धर्म होने का श्रद्धान है तो यह तेरी मान्यता वस्तुस्वरूप के विपरीत होने से मिथ्या है। राग हो भले, परन्तु भाई ! तू श्रद्धान तो ऐसा ही कर कि यह भी बन्ध का — दुःख का ही कारण है और इस कारण हेय ही है। जहाँ तक राग है, वहाँ तक वह हेय ही है। केवल एक भगवान आत्मा ही उपादेय है। परमात्मप्रकाश में भी राग को हेय व एक आत्मा को ही उपादेय कहा है।

भावार्थ यह है कि संवर होने के पश्चात् नवीन कर्म तो बंधते ही नहीं हैं। जो पूर्व में बंधे थे जब वे कर्म निर्जरित होते हैं, तब ज्ञान का आवरण दूर होने से अर्थात् अशुद्धता का नाश होने से ज्ञान ऐसा हो जाता है कि वह पुनः रागादिरूप परिणमित नहीं होता। सदा प्रकाशरूप ही रहता है।

समयसार गाथा १९३

अथ द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदयति–

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम्।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम्।।१९३।।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव । रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात्। स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टे निर्जरानिमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम्।

अब द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं :–

चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग इन्द्रिसमूह से।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब निर्जराकारण बने।।१९३।।

गाथार्थ:– [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**यत्**] जो [**इन्द्रियैः**] इन्द्रियों के द्वारा [**अचेतनानाम्**] अचेतन तथा [**इतरेषाम्**] चेतन [**द्रव्याणाम्**] द्रव्यों का [**उपभोगम्**] उपभोग [**करोति**] करता है [**तत् सर्वं**] वह सर्व [**निर्जरानिमित्तम्**] निर्जरा का निमित्त है।

टीका:– विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये ही है (वह निर्जरा का कारण होता है)। रागादि भावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि के अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग बंध का निमित्त होता है; वही (उपभोग), रागादिभावों के अभाव से सम्यक्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त होता है। इसप्रकार द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा।

भावार्थः– सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है; इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी है । यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखाई देता है, तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है । वह जानता है कि "यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है ।" जबतक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता तबतक जैसे रोगी रोग की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है, इसीप्रकार भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता । और निश्चय से तो, ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मो को मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है । इसप्रकार राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता । कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं, क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती । इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई । इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है । पूर्वकर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया, सो वह द्रव्यनिर्जरा है ।

गाथा १९३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं – "विरागी का भोगोपभोग निर्जरा का ही कारण है" यह जो कहा गया है, इसका वास्तविक कारण यह है कि अपने सिवाय पर व रागादि पदार्थों के प्रति ज्ञानी को जो उदासीनता या वैराग्य होता है, उसकी वह उदासीनता व वैराग्य परिणति ही निर्जरा की हेतु है। इस गाथा में मूलतः द्रव्यनिर्जरा की बात है । ज्ञानी के उदासीनता पूर्वक उस भोगोपभोग के काल में जो द्रव्यकर्म खिर जाते हैं, यहाँ उन द्रव्यकर्मो के खिरने की अपेक्षा कथन है । अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भगवान आत्मा की रुचि का जिसे परिणमन हुआ है, उस ज्ञानी को इन्द्रियों के भोगों में रुचि नहीं होती ।

अहाहा ......! जिसे निर्मल निज ज्ञायकभाव में सुखबुद्धि प्रगट हुई है, ऐसे ज्ञानियों को राग में सुखबुद्धि नहीं है। बात बहुत सूक्ष्म है। भाई! ज्ञानियों को भी शुभाशुभ भाव होते हैं, परन्तु उनके हृदय में राग का आदर नहीं है, राग में रुचि नहीं है। यद्यपि अन्तर में शुद्ध ज्ञायक में दृष्टि मिल जाने से उसे राग किंचित् भी नहीं रुचता, फिर भी वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण उन्हें किंचित् राग होता है; परंतु दृष्टि की प्रधानता से उन्हें मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होते। इस कारण उनका उपभोग नवीन कर्मबन्ध का कारण नहीं बनता तथा द्रव्यकर्म तो अपने स्वकाल में खिर ही जाते हैं। इसी से ज्ञानी के उपभोग को निर्जरा का कारण कहा है। शास्त्रों में जिस अपेक्षा से जो कथन हो, उसे उसी अपेक्षा यथार्थ समझना चाहिए।

"रागादिभावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि के अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग बन्ध का निमित्त होता है।"

देखो, यहाँ कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के रागादिभावों का सद्भाव होता है। उनको न केवल परपदार्थों के प्रति राग है, बल्कि उन्हें परपदार्थों के राग के प्रति राग है, प्रेम है; इस कारण उनमें राग-द्वेषादि के भावों का अस्तित्व है। जिनकी दृष्टि शुद्धचैतन्य पर नहीं है, उन पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टियों की दृष्टि राग पर है, पर्याय पर है। इस कारण उनके रागादिभावों का सद्भाव होता है। रागादिभावों का सद्भाव होने से मिथ्यादृष्टि के चेतन तथा अचेतन द्रव्यों का उपभोग बंध का निमित्त ही होता है। अचेतन (शरीरादि) व चेतन(स्त्री का आत्मा) आदि द्रव्यों का उपभोग रागादि की उपस्थिति में बंध का ही निमित्त होता है। मूल कलश में भी चेतन व अचेतन – दोनों प्रकार लिए गये हैं।

अहाहा ......! चैतन्यमूर्ति अतीन्द्रिय आनंद का रसकंद सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा अनाकुल आनन्द का सत्व है। जिसे ऐसे निज स्वरूप की रुचि – श्रद्धा नहीं है, उसके प्रति जिसका झुकाव नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे पुण्य-पाप के भावों में एवं वर्तमान पर्याय में रुचि होने से रागादिभाव विद्यमान हैं। रागादिभावों की सत्ता विद्यमान होने से अज्ञानीजनों को चेतन व अचेतन – दोनों ही प्रकार के परद्रव्यों का उपभोग करने का परिणाम नवीन कर्मबन्ध का निमित होता है। और ज्ञानी को राग की अरुचि है एवं चैतन्यरस की रुचि प्रधान है, इस कारण राग की रुचि के परिणमन के अभाव से राग-द्वेष नहीं होने से परपदार्थों को भोगते हुए भी कर्म खिर जाते हैं, बंध के निमित्त नहीं होते।

देखो, वस्तुतः कोई पर का उपभोग तो कर ही नहीं सकता । यह जो चेतन-अचेतन के उपभोग की बात कही है, वह तो बाह्य निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कही है ।

वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो परद्रव्य का उपभोग करने की तो किसी में भी सामर्थ्य नहीं है । यहाँ परद्रव्य के उपभोग का अर्थ यह है कि परद्रव्य की ओर के लक्ष्य से जो राग-द्वेष भाव होते हैं, उनका उपभोग । ऐसे राग-द्वेष के भावों का उपभोग अज्ञानी मिथ्यादृष्टि करते हैं । अज्ञानी को परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि है । इससे उसे अनुकूल पदार्थों में राग व प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष हुआ करता है । इस प्रकार राग-द्वेष के अस्तित्व के कारण उसे चेतन व अचेतन द्रव्यों का उपभोग नये बंध का निमित्त है – ऐसा कहा है ।

अव कहते कि "वही (उपभोग) रागादिभावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त होता है ।"

देखो, जो चेतन-अचेतन का उपभोग अज्ञानी को बन्ध का निमित्त होता है, वही चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग ज्ञानी को निर्जरा का निमित्त होता है; क्योंकि ज्ञानी के रागादिभावों का अभाव है, ज्ञानी के मिथ्यात्व सम्वन्धी राग-द्वेष का अभाव है । उसे राग की रुचि भी नहीं है तथा राग की रुचि का परिणमन भी नहीं है, इससे उसके रागादिभावों का अभाव है । वस, इसीकारण सम्यग्दृष्टि के चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग निर्जरा का निमित्त होता है । उसके पुराने कर्म उपभोग के काल में खिर जाते हैं ।

अहा ! गजव बात है, देखो अज्ञानी के उपभोग में तो नवीन कर्म वंधते हैं और ज्ञानी के उपभोग में पुराने कर्म खिर जाते हैं । अहो ! सम्यग्दर्शन की कोई अचिन्त्य– अलौकिक महिमा है । जगत को उसके अलौकिक माहात्म्य की खवर नहीं है । शुद्धदृष्टि के वल से ज्ञानी को परद्रव्य के उपभोग में राग-द्वेष नहीं होते । सम्यग्दर्शन की ऐसी अलौकिक महिमा है ।

वही उपभोग कहकर सम्यग्दर्शन की महिमा दर्शाते हुए कहा है– कि जो उपभोग मिथ्यादृष्टि के लिए बंध का हेतु है, वही उपभोग रागादि भावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि को निर्जरा का निमित्त है ।

सम्यग्दृष्टि के उपभोग को जो निर्जरा का निमित्त कहा है, उसमें

दृष्टि का ही बल है। अहाहा ..... ! ज्ञानी का चैतन्य स्वभाव में स्वामित्व वर्तता है, इसी से उसका द्रव्येन्द्रियों द्वारा चेतन-अचेतन का उपभोग निर्जरा का निमित्त है। तात्पर्य यह है कि द्रव्येन्द्रियों द्वारा ज्ञानी के जो उपभोग होता है, वह निर्जरा का निमित्त है।

प्रश्न :– द्रव्येन्द्रियों के द्वारा तो जीव उपभोग कर ही नहीं सकता, फिर उससे बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं होना चाहिए ?

समाधान :– हाँ, यह बात तो ठीक है कि द्रव्येन्द्रियाँ अचेतन हैं, जड़ हैं, उनसे जीव का कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु यहाँ तो निमित्त का यह ज्ञान कराया है कि द्रव्येन्द्रियाँ उपभोग में बाह्य निमित्त हैं। अज्ञानी के राग-द्वेष विद्यमान हैं, इसकारण उसे इन्द्रियों के द्वारा जो उपभोग होता है वह बन्ध का निमित्त है और वही उपभोग ज्ञानी के निर्जरा का निमित्त है, क्योंकि उसके राग-द्वेष का अभाव है।

ज्ञानी के रागादिभाव नहीं होने से उसका उपभोग निर्जरा का निमित्त ही है। 'निमित्त ही है' ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि जो द्रव्यकर्म खिर जाते हैं, वे स्वयं अपने कारण से ही खिरते हैं। ज्ञानी के जो रागादि का अभाव व विरागता है, वह उस द्रव्यनिर्जरा में निमित्तमात्र है।

अब कहते हैं कि "इसप्रकार द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा।"

इस कथन से यह समझना चाहिए कि ज्ञानी के जो कर्मरजकण स्वयं खिर जाते हैं, यह उनकी बात की है।

अरे ! जनसामान्य को तो सम्यग्दर्शन की महिमा की खबर ही नहीं है। वे तो दया, दान, व्रत, तप एवं भक्ति आदि धार्मिक क्रियाओं में संतुष्ट हो जाते हैं। इन क्रियाओं में ही धर्म होना मान लेते हैं, किंतु वस्तुतः आत्मज्ञानशून्य मात्र इन बाह्य क्रियाओं से धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है। यद्यपि धर्मात्माओं के ये सब क्रियायें होती हैं, पर मात्र इन्हें करके ही अपने को धर्मात्मा नहीं समझ लेना चाहिए; क्योंकि ये दया, दान आदि तो राग की क्रियायें हैं तथा राग का आश्रय व रुचि स्पष्ट मिथ्यादर्शन है। भाई ! मिथ्यादृष्टि के व्रत व तप को तो आचार्यों ने बालव्रत व बालतप कहा है तथा ये बालव्रत व बालतप बन्ध के निमित्त कहे गये हैं। अतः आचार्य यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि जो अज्ञानी का उपभोग बन्ध का निमित्त है, वही या वैसा ही ज्ञानी का उपभोग निर्जरा

का निमित्त होता है; क्योंकि ज्ञानी के राग की रुचि का अभाव है। अल्पराग होता है, उसमें थोड़ा उपयोग भी चला जाता है; परंतु वह यहाँ गोण है। यथार्थ में ज्ञानी पर व पर्याय में जुड़ता सा दिखते हुए भी जुड़ता नहीं है। ज्ञानी के आत्मा की दृष्टि है, राग की दृष्टि नहीं है। अज्ञानी के राग की दृष्टि है, आत्मा की दृष्टि नहीं है। आत्मा की दृष्टि व राग की दृष्टि – इन दोनों में जमीन व आसमान का अन्तर है।

अहा ..... ! जिसकी दृष्टि निज ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य पर पड़ी है, उसे द्रव्येन्द्रियों द्वारा चेतन-अचेतन के उपभोग में राग-द्वेष का अस्तित्व नहीं है। इसकारण उसका उपभोग निर्जरा का निमित्त है।

गाथा १९३ के भावार्थ पर प्रवचन

"सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है तथा ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है, इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है।"

सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में भी ज्ञानी है। उसे अन्य अप्रयोजन-भूत ज्ञान भले ही थोड़ा हो या न हो, परन्तु उसे आत्मज्ञान है।

जिसे आत्मज्ञान है, वह वस्तुतः ज्ञानी है। उस ज्ञानी के राग-द्वेष मोह का अभाव कहा है; क्योंकि उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह हैं ही नहीं। इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है।

भरतचक्रवर्ती छहखण्ड के अधिपति थे, उनके ९६ हजार रानियाँ थीं, ९६ करोड़ पैदल सेना, ९६ करोड़ ग्राम एवं अपार वैभव था। तथापि वे विरागी थे; क्योंकि किसी भी परवस्तु में उन्हें एकत्व-ममत्व नहीं था। वे ऐसा नहीं मानते थे कि ये सम्पूर्ण बाह्य वस्तुयें मेरी हैं, बल्कि वे तो ऐसा मानते थे कि मैं तो चिदानन्दघन ज्ञान व आनंद का कंद प्रभु आत्मा हूँ। उन्हें ऐसा अनुभवमंडित दृढ़श्रद्धान था। सम्यग्दृष्टि को पर में व राग में एकत्व नहीं है, इस कारण वह विरागी है।

"यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखाई देता है, तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि "यह (भोग सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग होता है।"

देखो, शरीर इन्द्रियाँ व भोग के विषयरूप पदार्थ, इन सभी के प्रति सम्यग्दृष्टि को राग नहीं है। वह तो इन सबको परद्रव्य जानता है। इन

सबको अपने से भिन्न जानता हुआ, वह ऐसा मानता है कि मुझमें और इन सर्व परद्रव्यों में परस्पर कोई भी नाता – सम्बन्ध नहीं है।

अहाहा ...... ! इन इन्द्रियों व शरीर का मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अरे, ये खण्ड-खण्ड रूप जो भावेन्द्रियाँ हैं, वे भी मेरा स्वभाव नहीं हैं; अतः उनके साथ भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा ज्ञानी मानता है।

भाई ! यह धर्म का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। जिससे जन्म-मरण का नाश हो, उसका नाम धर्म है। जगत इस सूक्ष्म धर्म से परिचित नहीं है; अतः बाह्य क्रियाओं को ही धर्म मान लेता है, जबकि वे बाह्य क्रियायें धर्म नहीं, बल्कि वे तो धर्म के बाह्य साधन मात्र हैं।

धर्मी जीव तो ऐसा जानते हैं कि यह शरीर, इन्द्रियाँ एवं अन्य धनादि पदार्थ तो कर्मोदय के निमित्त से मिलते हैं। सामग्री के संयोग-वियोग में कर्म का निमित्त है, इसमें मैं निमित्त नहीं हूँ।

आचार्य आगे कहते हैं कि "जबतक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तबतक उसका औषधि आदि के द्वारा उपचार करता है; भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है।"

ज्ञानी को भी चारित्रमोह का उदय पीड़ित करता है, जैसा कि छहढाला में भी लिखा है–"चारित्र मोह वश, लेश न संयम"

इसका तात्पर्य तो यह है कि ज्ञानी के चारित्र की अस्थिरता का राग उत्पन्न होता है। उससे उसे पीड़ा है। चारित्रमोह तो जड़ कर्म है, वह क्या पीड़ा करेगा? स्वयं आत्मा को जो अस्थिरता जनित राग है, वह पीड़ा करता है।

प्रश्न :– "कर्म का उदय आकर पीड़ा करता है" -- ऐसा जो जिनागम में लिखा मिलता है, उसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :– भाई ! यह तो निमित्तपरक भाषा है। वास्तव में तो कर्म के उदय के लक्ष्य से ज्ञानी को जो राग होता है, वह राग पीड़ा करता है। कर्म के उदय का व तत्समय जीव को होने वाले विकाररूप पीड़ा के परिणामों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु इनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न :– ऐसा अर्थ करने से क्या शब्दों का अर्थ नहीं बदल जायेगा?

समाधान :– भाई! शब्दों का सही अर्थ करने की यही रीति है। इस शैली से शब्दों का यथार्थ अर्थ समझ में आता है।

देखो जिनागम में ४७ नयों से कथन किया है। उनमें एक ईश्वर व एक अनीश्वर नय भी आये हैं। "आत्मद्रव्य ईश्वर नय से परतंत्रता को भोगने वाला है" – इसका अर्थ यह है कि निमित्त के आधीन होने वाली अपनी पर्याय की ही ऐसी योग्यता है, उसके कारण ही राग होता है, निमित्त के कारण नहीं। ज्ञानी को भी जो राग होता है, वह राग भी जब जीव स्वयं निमित्त के आधीन होता है तब होता है, निमित्त के कारण नहीं होता।

ज्ञानी को चारित्रमोह का उदय पीड़ा करता है अर्थात् उसे जो राग होता है, उससे उसे पीड़ा – दुःख है। तथा स्वयं बलहीन या पुरुषार्थ हीन होने से वह राग की पीड़ा सही नहीं जाती। स्वयं बलहीन है, इस कारण विशेष पुरुषार्थ नहीं कर पाने से राग में जुड़ जाता है और वह रागजनित पीड़ा सही नहीं जाती, इससे वह दुःखी होता है।

अहा ...... ! इसलिए जिसप्रकार जब रोगी रोग की पीड़ा नहीं सह सकता तो न चाहते हुए भी वह उस रोग का औषधि द्वारा उपचार (इलाज) करता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी जब राग की पीड़ा को सह नहीं पाता तो न चाहते हुए भी भोगोपभोग सामग्री द्वारा विषयरूप रोग का इलाज करता है। देखो, यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है कि परद्रव्य से आत्मा का इलाज होता है; ऐसा है भी नहीं, परन्तु यहाँ तो यह बताया गया है कि ज्ञानी को परवशपने से राग होता है, उस राग की उसे पीड़ा है; तथा पुरुषार्थ की कमजोरी से वह सही नहीं जाती, इसकारण वह परद्रव्य (भोग सामग्री) के संयोग में जाता है। इसी से यहाँ कहा है कि ज्ञानी भोगोपभोग सामग्री से विषयरूप रोग का इलाज करता है।

ज्ञानी की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप पर ठहरी है, उसे आंशिक शुद्ध रूप परिणमन भी है, फिर भी अपनी आंशिक कमजोरी के कारण उसे राग हो जाता है और उससे वह राग की पीड़ा सही नहीं जाती। इससे वह विषयरूपी रोग का भोग सामग्री से उपचार करता है।

देखो, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, उसी भव से मोक्ष जाने वाले तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर को भी गृहस्थ दशा में भोगोपभोग सम्बन्धी राग होता

है। तथा जब उसकी पीड़ा सही नहीं जाती तो भोगोपभोग सामग्री से वे भी उसका इलाज करते हैं।

प्रश्न :– शास्त्रों में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि परद्रव्य से आत्मा को कुछ भी लाभ-हानि नहीं होती। ज्ञानी ऐसा मानते भी हैं, उनकी ऐसी दृढ़ श्रद्धा है, फिर भी वे परद्रव्य से रागजनित पीड़ा का इलाज करते हैं यह बात समझ में नहीं आती?

समाधान :– ऊपर जो रोगी का दृष्टान्त दिया है, यदि उस पर गौर किया जाय और गंभीरता से उसका विचार किया जाय तो बात समझ में आ सकती है।

देखो, रोगी जिस रोग का इलाज करता है, तो क्या वह उस रोग को भला जानता है ? तथा वह जिस औषधि से उस रोग का इलाज करता है, क्या उस औषधि को भी भला जानता-मानता है ? उसीप्रकार जिसको आत्मदृष्टि हुई है, वह ज्ञानी चारित्रमोह के उदय को या उस जनित रागरूप रोग को व उसके इलाजरूप भोगोपभोग सामग्री को भला जानता भी नहीं है व भला मानता भी नहीं है। ज्ञानी के राग की या राग रूप रोग के बाह्य इलाजरूप भोग सामग्री की होंश नहीं है। ज्ञानी को भोगोपभोग में व उसकी सामग्री में हर्ष नहीं है, परन्तु उपायान्तर के अभाव में वह उसे मजबूरी से भोगता है।

'सम्यग्ज्ञान दीपिका' में भी क्षुल्लक धर्मदासजी ने कहा है कि जिस तरह पति के मौजूद रहते हुए कदाचित् मजबूरी में किसी स्त्री के द्वारा पर पुरुष से गर्भधारण जैसी संयोग की भयंकर भूल भी हो गई हो, तो भी पति की उपस्थिति के कारण उसका वह दोष प्रगट नहीं होता।

इस दृष्टान्त का अर्थ ऐसा नहीं समझ लेना कि उसे पाप नहीं लगता, पाप तो लगता है, परन्तु पति की मौजूदगी में उसे कोई लांछित या बदनाम नहीं कर पाता। बस, इतना ही उपर्युक्त दृष्टांत का अर्थ समझना।

उसीप्रकार जिसे चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का स्वामीपने से सहारा या आश्रय प्राप्त हो गया है, उसे कदाचित् अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से रागादिभाव आ भी जावे तो भी वह रागादिभाव रूप दोष अनन्त अहित का कारण नहीं बनता।

यहाँ गाथा में तो दृष्टि पर जोर देते हुए यह कहा है कि ज्ञानी के

भोगों को भोगते हुए भी निर्जरा ही होती है। ज्ञानी के राग है तथा उसके इलाज रूप भोगोपभोग भी हैं, तथापि उसे निर्जरा का हेतु कहा है; क्योंकि उसकी भोगों पर दृष्टि नहीं है। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। जिसकी भोगों में इष्टबुद्धि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है। यहाँ तो यह कहा है कि जिसकी दृष्टि भोगों पर नहीं है, परन्तु ज्ञानस्वभाव पर है, उन सम्यग्दृष्टियों के उपभोग के काल में मोह का भाव नहीं है, भोगों में आशक्ति नहीं है।

अज्ञानी दयावान हो तो भी उसके मिथ्यात्व का बन्धन होता है, क्योंकि वह ऐसा मानता है कि "मैं पर की दया पालता हूँ" भाई! दृष्टि के फेर से बहुत फेर पड़ जाता है। आत्मदृष्टिवंतों का वीर्य भोगोपभोग में उल्लिसित नहीं होता तथा मिथ्यादृष्टियों का वीर्य भोगों में ही रचा-पचा रहता है।

प्रश्न :– गाथा में तो ऐसा कहा है कि "उवभोगमिंदियेहिं ज कुणदि सम्मदिट्ठी" अर्थात् सम्यग्दृष्टि द्रव्येन्द्रियों से चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है – इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान :– भाई ! पर का कर्ता तो आत्मा है ही नहीं, द्रव्येन्द्रियों को चला सके – ऐसी कोई भी शक्ति आत्मा में नहीं है। द्रव्येन्द्रियों का परिणमन तो जड़ का परिणमन है, वह आत्मा की क्रिया नहीं है तथा आत्मा उसमें कुछ कर भी नहीं सकता, परंतु अज्ञानी उस जड़ के परिणमन को अपनी क्रिया मानता है। जबकि ज्ञानी जड़ की क्रिया को जड़ के कारण जड़ में हुई मानता है। देखो, यह है दृष्टि का फेर। ज्ञानी अपनी सम्यक् श्रद्धा के बल से द्रव्येन्द्रियों की क्रिया के काल में उसके निमित्तमात्रपने से अपने में हुए विकल्प व राग का कर्तृत्व व स्वामित्व भी नहीं स्वीकारता, जबकि अज्ञानी उसी में अपना स्वामित्व व कर्तृत्व स्थापित कर लेता है।

भगवन ! तूने अज्ञानता के कारण अपने को अनंतकाल से दुःख में डाल रखा है। दुःख से घबड़ाकर तू अनेकबार हजारों स्त्रियों का संग छोड़-छोड़कर नग्न दिगम्बर साधु भी हुआ और कठोरता से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन भी किया, पर आत्मज्ञान बिना उस सबसे कुछ लाभ नहीं हुआ। यही छहढ़ाला में पंडित दौलतरामजी ने भी कहा है –

> **"मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायौ।**
> **पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ।।"**

तात्पर्य यह है कि राग से भिन्न भगवान आत्मा के ज्ञान एवं भान बिना अज्ञानी को सच्चे सुख की कणिका भी नहीं जागी या अतीन्द्रिय आनंद के अंश का भी वेदन – अनुभव नहीं हुआ। हो भी कहाँ से ? जो बाह्य क्रिया में स्वयं जड़रूप है, रागरूप है, दुःखरूप है, वह सुख की अनुभूति कैसे करा सकता है ? ज्ञानी को भी ऐसा राग तो होता है, परंतु वह उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता।

यहाँ कहते हैं कि जिसको स्वरूप के आश्रय रूप परिणति में ऐसा भान हुआ है कि "मैं चिदानन्दमय वीतरागस्वभावी परमात्मद्रव्य हूँ, स्वयं भगवान स्वरूप हूँ, वह ज्ञानी है। उसे चारित्रमोह के उदय के निमित्त से किंचित राग तो होता है, परंतु वह उस राग को रोगवत् जानता है तथा वह भोगसामग्री को भोगता है, पर उसे औषधि की तरह हेय मानता है। देखो, यहाँ "चारित्रमोह के उदय के निमित्त से" जो ऐसा कहा है, उसमें उपादान तो अपना ही है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

आगे कहते हैं कि "निश्चय से तो ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जानता ही है, उनके प्रति उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है।

अहाहा ......! जो राग आता है, ज्ञानी उसे केवल जानता ही है, कर्ता बनकर उसे करता नहीं है। १२ वीं गाथा में भी कहा है कि भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से जिसको समकित प्रगट हुआ है, वह ज्ञानी पर्याय में आते हुये अस्थिरता के राग को उस काल में केवल जानता ही है तथा वह राग केवल जानने के लिए ही प्रयोजनवान है, आदरणीय नहीं है।

ज्ञातास्वरूप होने के कारण सम्यग्दृष्टि निश्चय से उदयागत कर्मो को मात्र जानता ही है। देखो, यहाँ जो यह कहा है कि 'मात्र जानता ही है'। इसका तात्पर्य यह हैं कि भोगोपभोग में रहते हुए भी ज्ञानी राग की व शरीरादि की सब क्रियायें पर है – ऐसा जानता है।

भाई ! ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि तत्-तत् समय अपने को जानता हुआ ज्ञान उस-उस प्रकार की राग की व शरीरादि की क्रिया को भी जानता हुआ प्रगट होता है।

आचार्य कहते हैं कि उदय में आते हुए कर्मो के प्रति ज्ञानी को राग-द्वेष नहीं अर्थात् ज्ञानी को राग का राग नहीं है। ज्ञानी को किंचित राग आता है, परन्तु उसे राग का राग नहीं है। राग की रुचि का

परिणमन नहीं है, उसे राग का कर्त्तृत्व-स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी ऐसा नहीं मानता कि राग मेरी वस्तु है या कर्तव्य है। कहा भी है –

"चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सारिखे भोग।
काग बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग।।

अहाहा ......! पुण्य के फल में प्राप्त चक्रवर्ती पद और इन्द्र जैसे भोगोपभोगों को भी सम्यग्दृष्टि जीव काग की बीट के समान तुच्छ गिनते हैं। उन्हें आत्मा में रुचि उत्पन्न हो गई है, उन्हें संसार के किसी भी पद में रुचि नहीं रहती। वे जानते हैं कि स्त्री एवं बाल-बच्चों के संभालने, उनके लालन-पालन करने तथा धन कमाने आदि का भाव तो निरा पाप भाव है। अतः अनावश्यक रूप से वह इनमें नहीं अटकता। निरंकुश पाप करने वालों को नरक-निगोद जाना पड़ता है, क्योंकि तीव्र पाप का फल तो नरक-निगोद ही है।

शुद्ध चैतन्य स्वभाव का अनुभव करने वाला एवं ज्ञानभाव से परिणमन करने वाला ज्ञानी, कर्म के उदय को एवं अपने रागभाव को मात्र जानता ही है तथा उस राग का जो इलाज करता है, उसे भी मात्र जानता ही है। उस काल में जो शरीरादि की क्रियायें होती हैं, उसे भी अपने ज्ञानस्वभाव में रहकर उसका स्पर्श किये बिना – उसमें तन्मय हुए बिना मात्र जानता ही है। उसे कर्म में, राग में व शरीरादि क्रियाओं में राग-द्वेष-मोह नहीं होता।

अब कहते हैं कि "इसप्रकार राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता। कर्मास्राव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं, क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती।

देखो, जो कर्म उदय में आते हैं वे तो खिर जाते हैं, राग करता है तो भी खिर जाते हैं तथा राग न करे तो भी खिर जाते हैं। ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव है, इसकारण उसके उदय काल में (भोगकाल में) नवीन कर्म का आस्रव नहीं होता और आस्रव के अभाव में नवीन बन्ध नहीं होता। इससे उदयागत कर्म निःसन्तान ही खिर जाता है।

यद्यपि यह चमत्कारिक बात है, तथापि अभ्यास करे तो समझ में अवश्य आ सकती है, परंतु जगत को लौकिक अध्ययन की ही अधिक

महिमा है, अतः उसी का अभ्यास करता है। एम. ए. एल.एल.बी. तथा डाक्टरी इन्जीनियरिंग की पढ़ाई में वर्षों बिता देता है। जब तत्त्वाभ्यास करने की बात आती है तो 'फुरसत नहीं है' – ऐसा कहकर बच निकलता है। अरे भाई ! यह लौकिक अभ्यास तो केवल पाप का ही अभ्यास है। भगवान ! ये तो तुझे जन्म-मरण के समुद्र में ही डुबोने वाला है। केवल तत्त्वाभ्यास में ही तेरा हित है, अतः उसी में पुरुषार्थ कर।

देख, आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी के जो जड़ कर्म उदय में आते हैं, वे नवीन कर्मबंध किये बिना ही खिर जाते हैं, क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती। इसप्रकार उसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। धर्मी की दृष्टि का जोर शुद्धज्ञायक पर है।

अहाहा ...... ! अनाकुल शान्ति का रसकंद चिदानन्द चैतन्यमूर्ति परमानंदमय प्रभु मैं परमात्मद्रव्य हूँ – ऐसी दृष्टि के जोर से उसे राग आते हुए भी उससे केवल निर्जरा ही होती है। जबकि अज्ञानी मिथ्यात्व का जोर होने से – 'महाव्रत के परिणाम मैं करता हूँ तथा उनसे मुझे लाभ होता है' – ऐसी मिथ्यामान्यता के कारण अनन्त संसार बढ़ लेता है। ज्ञानी के आत्मा की रुचि का जोर है तथा अज्ञानी के राग की रुचि का जोर है। दोनों में अन्तर है न; बस, इसी अन्तर से ज्ञानी के निर्जरा और अज्ञानी के बन्ध होता है।

"इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। पूर्वकर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया, सो वह द्रव्यनिर्जरा है।"

देखो भाई ! सम्यग्दृष्टि का भोगोपभोग निर्जरा का ही निमित्त कहा है; क्योंकि जो द्रव्यनिर्जरा होती है, वह उसके स्वतः के कारण होती है। कर्मपरमाणुओं की स्वतंत्र योग्यता से ही होती है। ज्ञानी रागभाव को अपना नहीं मानता, इसलिए उसका विरागभाव निर्जरा का निमित्त होता है तथा पूर्व का जो कर्म उदय में आया, वह उस समय अपनी योग्यता से खिर गया, वह द्रव्यनिर्जरा है।

समयसार गाथा १९४

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति–

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि ।।१९४।।

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा ।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ।।१९४।।

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो वा दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्णः सन् बंध एव स्यात्; सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात् ।

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं:–

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है ।
इन उदित सुख-दुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है ।।१९४।।

गाथार्थः–[**द्रव्ये उपभुज्यमाने**] वस्तु भोगने में आने पर, [**सुखं वा दुःखं वा**] सुख अथवा दुःख [**नियमात्**] नियम से [**जायते**] उत्पन्न होता है; [**उदीर्णं**] उदय को प्राप्त (उत्पन्न हुए) [**तत् सुखदुःखम्**] उस सुख-दुःख का [**वेदयते**] अनुभव करता है, [**अथ**] पश्चात् [**निर्जरां याति**] वह (सुख-दुःखस्वरूप भाव) निर्जरा को प्राप्त होता है.।

टीकाः–परद्रव्य भोगने में आने पर, उसके निमित्त से जीव का सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से ही उदय होता है अर्थात् उत्पन्न होता है क्योंकि वेदन साता और असाता– इन दो प्रकारों का अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकार का ही है – सातारूप और

असातारूप)। जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भाव का वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टि को, रागादिभावों के सद्भाव से बंध का निमित्त होकर (वह भाव) निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी (वास्तव में) निर्जरित न होता हुआ, बन्ध ही होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि के, रागादिभावों के अभाव से बन्ध का निमित्त हुए बिना केवलमात्र निर्जरित होने से (वास्तव में) निर्जरित होता हुआ निर्जरा ही होती है ।

भावार्थः—परद्रव्य भोगने में आने पर, कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उत्पन्न होता है । मिथ्यादृष्टि के रागादि के कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है, इसलिये उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अतः मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य के भोगते हुए बन्ध ही होना है । सम्यग्दृष्टि के रागादिक न होने से आगामी बन्ध किये बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है, इसलिये उसे निर्जरित कहा जा सकता है; अतः सम्यग्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर निर्जरा ही होती है । इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के भावनिर्जरा होती है ।

गाथा १९४ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैंः—

देखो, निर्जरा तीन प्रकार की है । कर्म का खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है, अशुद्धता का नाश (अभाव) होना नास्ति से भावनिर्जरा है तथा शुद्धता की वृद्धि होना अस्ति से भावनिर्जरा है; इनमें द्रव्यनिर्जरा की बात तो १९३वीं गाथा में आ चुकी है, अशुद्धता के अभावरूप निर्जरा की बात इस गाथा में कहते हैं—

"परद्रव्य भोगने में आने पर, उसके निमित्त से जीव का सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से ही उदय होता है, अर्थात् उत्पन्न होता है, क्योंकि वेदन साता और असाता — इन दोनों प्रकार का अतिक्रम नहीं करता ।"

देखो, वस्तुतः तो परद्रव्य को कोई भोग नहीं सकता, परन्तु यहाँ टीका में जो 'परद्रव्य भोगने में आने पर' ऐसा जो परद्रव्य को भोगने का कथन किया है, वह निमित्त का कथन है । दाल, भात, शाक आदि खाद्य पदार्थों को अथवा स्त्री-पुत्रादि को जड़ शरीर तथा वस्त्रादि परद्रव्यरूप बोगोपभोग सामग्री को, कोई जीव भोग नहीं सकता; क्योंकि आत्मा चैतन्य स्वरूपी एवं अरूपी है । इसकारण जब वह पर का स्पर्श भी नहीं

करता, तो भोगने की बात ही कहाँ रही? तीसरी गाथा की टीका में कहा है न कि द्रव्य अपने अनन्तधर्मों के चक्र का ही चुम्बन करता है, परद्रव्य का चुम्बन नहीं करता या स्पर्श नहीं करता। भाई! ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।' प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों का ही स्पर्श करता है, परद्रव्य के गुण-पर्यायों का स्पर्श नहीं करता।

प्रश्नः—जीव, मौसम्मी का रस पीते हुए, मैसूर पाक को खाते हुए तथा स्त्री-पुत्रादि के साथ क्रीड़ा, रंग-रेलियाँ करते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देता है न! फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि वह इन भोगोपभोग सामग्री को नहीं भोगता?

समाधानः—भाई, ये पदार्थ तो सब जड़ हैं, रूपी हैं, स्पर्श-रस-गंध वर्ण वाली वस्तुयें हैं, इनसे यह आत्मा सर्वथा भिन्न है, आत्मा तो अरूपी व चैतन्यस्वरूप है— यह तो इन पदार्थों का स्पर्श भी नहीं कर सकता, केवल संयोग देखकर अज्ञानी जीव ऐसा मान लेते हैं कि मैं खा-पी सकता हूँ, मैंने इनका उपभोग किया। वास्तव में तो यह कथन केवल निमित्त का कथन है।

यहाँ आचार्य यह कहते हैं कि परद्रव्य भोगने में आने पर उसके निमित्त से जीव का भाव सुखरूप या दुःखरूप नियम से होता है। शरीर, मन, वाणी, धन, भोजन, स्त्री आदि पर लक्ष्य जाने से यह कहने में आता है कि अमुक वस्तु को जीव ने भोगा है तथा उसके निमित्त से जीव को सुख या दुःख की कल्पना होती ही है, हुए बिना रहती ही नहीं है। ज्ञानी को भी उनके निमित्त से सुख-दुःखरूप भाव हुए बिना नहीं रहते अर्थात् उस समय उन्हें सुख या दुःख की पर्याय हो ही जाती है।

देखो, १९३वीं गाथा में यह कहा है कि उपभोग में ज्ञानी के द्रव्यकर्म खिर जाते हैं तथा यहाँ इस गाथा में यह कहा है कि उसके अशुद्धता खिर जाती है।

प्रश्नः— हम तो ऐसा मानते हैं कि उपवास करने से तप होता है और तप से निर्जरा होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी "तपसा निर्जरा च" यह कहा है।

उत्तरः— भाई! तू जिसे उपवास कहता है, उससे निर्जरा नहीं होती। वह तो रागभाव है और राग से निर्जरा नहीं, बन्ध होता है। यथार्थ उपवास तो आत्मा में बसने को कहते हैं। उप अर्थात् समीप,

वास अर्थात् रहना । आत्मा के समीप रहना ही सच्चा उपवास है । अज्ञानी तो केवल खाना-पीना के छोड़ने को उपवास मान लेता है । खाना-पीना छोड़कर आत्मा का उपयोग आत्मा में जावे तो ही सच्चा उपवास है । खाना-पीना छोड़कर भी उपयोग बाहर ही रहता है, तो वह उपवास नाम नहीं पा सकता ।

अहा---! परद्रव्य को तो आत्मा भोग ही नहीं सकता, परन्तु जीव को तत्सम्बन्धी राग व सुखदुःख की कल्पना होती है तथा उसीसमय परद्रव्य में जो क्रिया या चेष्टा होने योग्य होती है, वह होती है; उसको ही व्यवहार से 'परद्रव्य को भोगना' कहा जाता है । जिस धर्मीजीव को ज्ञानानन्द स्वभावी निज चैतन्यमय वस्तु की प्रतीति हुई है, उसे भी किंचित् राग आता है, फिर भी दृष्टि की अपेक्षा वह उसे भोगता नहीं है ; क्योंकि उसकी दृष्टि का विषय तो परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य परमात्मा है तथा ऐसे आत्मद्रव्य का जिसे आश्रय हुआ है, वह ज्ञानी तो आत्मा के आनन्द को ही भोगता है । दृष्टि भी निर्विकल्प है और उसका विषय भी ध्रुव निर्विकल्प चैतन्य ही है । इस कारण दृष्टि की अपेक्षा ज्ञानी आत्मा राग जनित सुख-दुःख की कल्पना करता एवं भोगता ही नहीं है अर्थात् ज्ञानी के राग-द्वेष होते ही नहीं हैं ।

यह दृष्टि की अपेक्षा किया गया कथन है । अस्थिरता सम्बन्धी जो रागादि होते हैं, वे यहाँ अत्यंत गौण हैं ।

परन्तु यहाँ इस गाथा में यह सिद्धान्त निरूपित किया है कि परद्रव्य को भोगने में आने पर, उसके निमित्त से सुख-दुःखरूप जीव का भाव नियम से उत्पन्न होता है, अर्थात् पर्याय में किंचित् सुख-दुःख की कल्पना— अशुद्धता उत्पन्न होती ही है; क्योंकि वेदन साता और असाता इन दोनों प्रकारों का अतिक्रम नहीं करता । यद्यपि वेदन में वस्तुतः साता व असाता के उदय की निमित्तता है — यहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है । अहा ... ! साता के उदय में सुखरूप कल्पना व असाता के उदय में दुःखरूप कल्पना ज्ञानी के भी पर्याय में होती है— ऐसा यहाँ कहा है ।

अब कहते हैं कि "जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भाव का वेदन होता है, तब मिथ्यादृष्टि को, रागादिभावों के सद्भाव से बंध का निमित्त होकर (वह भाव) निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी (वास्तव में) निर्जरित न होता हुआ, बंध ही होता है ।".......

यहाँ 'वेदन होता है' – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ 'भोगता है' होता है। यद्यपि 'वेदन होता है' का एक अर्थ 'जानता है' भी होता है, पर यहाँ यह अर्थ नहीं है; यहाँ तो 'भोगता है' अर्थ ही उपयुक्त है। परद्रव्य भोगते हुए पर्याय में किंचित् सुख-दु:ख की क्षणिक अशुद्ध परिणति होती है। तथा उससे सुख-दु:खरूप भाव का वेदन होता है– ऐसा कहा है। जब भाव का वेदन होता है, तब जिसकी दृष्टि राग पर ही पड़ी है– ऐसे मिथ्यादृष्टि के रागादिभावों के सद्भाव के कारण बंध ही होता है।

भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, जिसे शुभाशुभ राग में इष्टानिष्ट बुद्धि है तथा शुभराग में मिठास व सुखबुद्धि है, वह अज्ञानी है। ऐसा अज्ञानी जीव परपदार्थों को भोगते हुए सुख-दु:ख की कल्पना के समय उसमें से मिठास मानता हुआ रागादिभावों का सद्भाव होने से बंधता है। मिथ्यादृष्टि को स्वरूप में आत्मभाव प्रगट नहीं हुआ, इसकारण उसको राग-द्वेष-मोह का अस्तित्व है। इससे उसे उपभोग में होते हुए सुख-दु:ख की कल्पना का भाव नवीन कर्मबन्ध का निमित्त होता है। अर्थात् उसे सुख-दु:ख की कल्पना के काल में जो राग-द्वेष होता है, वह नवीन कर्मबन्ध में निमित्त होता है। इससे मिथ्यादृष्टि को, वह सुख-दु:ख का भाव खिरते हुए भी निर्जरित नहीं होता हुआ बन्ध ही होता है। सत्ता में से जिस कर्म का उदय आता है, वह तो खिर ही जाता है। ज्ञानी हो या अज्ञानी – सभी के खिर ही जाते हैं; परन्तु अज्ञानी के मिथ्यात्व व राग-द्वेष अस्तित्व में रहने से वह परिणाम नवीन कर्मबन्ध का निमित्त होता है।

साता या असाता कर्म का उदय जिस समय आता है, उस समय जीव को सुख-दु:खरूप अवस्था होती है तथा उसका उसे वेदन भी होता है। परन्तु इस वेदन के समय अज्ञानी को उसमें सुखबुद्धि व मिठास है। इस कारण उसके राग-द्वेष होते हैं, राग-द्वेष के परिणाम उसके नवीन कर्मबध के निमित्त वर्तते है।

यदि वह अन्दर देखे तो संपूर्ण वीतरागता का पिण्ड प्रभु आत्मा उसके ज्ञान में आ सकता है और आत्मदर्शन होते ही वीतराग परिणति प्रगट हो जाती है। बस, यही सर्व कथन का तात्पर्य है। पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में कहा है कि चारों अनुयोगों का तात्पर्य एक वीतरागता है। पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है

कि जो वीतरागता का प्रयोजन प्रगट करें, वे ही जैनशास्त्र हैं। चारों ही अनुयोग एक मात्र वीतरागता को ही पुष्ट करते हैं। चरणानुयोग में व्रतादि की बात आती है, परन्तु उसमें भी राग के पोषण की बात नहीं हैं, बल्कि वहाँ भी क्रमशः राग के अभाव की ही बात कही गई है। पर अज्ञानी जीव तो शास्त्रों में भी राग की बात ही खोजता है– ग्रहण करता है। इसकी ऐसी ही अनादिकाल से आदत चली आ रही है। जबतक यह आदत नहीं जाती, तबतक शास्त्रों का सच्चा सार ग्रहण नहीं हो सकता; अतः शास्त्रों का सच्चा तात्पर्य ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी को जब भी सुखदुःख की कल्पना होती है, उस समय उसको उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होने से मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबंधी राग-द्वेष के परिणाम होते है और वे परिणाम नवीन दर्शन मोहनीय आदि कर्म के बंध के निमित्त होते हैं। जो कर्म का उदय आया था, वह तो उसी समय खिर गया था। परन्तु उस अज्ञानी को वह उदय, नवीन कर्मबंध का निमित्त हो जाता है– इस कारण अज्ञानी के उन कर्मों का खिरना निर्जरा नहीं कहलाता है।

यहाँ कहते हैं कि राग की रुचि का परिणमन विद्यमान होने से अज्ञानी जीव को उदय में आया कर्म खिर जाने पर भी वह नवीन कर्म बंधन में निमित्त होता है। बस, इसी कारण अज्ञानी के निर्जरा नहीं, बल्कि बंध ही होता है।

परन्तु सम्यग्दृष्टि को रागादिभावों के अभाव से बंध का निमित्त हुए बिना केवल खिर जाने के कारण उसे निर्जरा ही होती है। देखो, ज्ञानानंद स्वरूप भगवान आत्मा में सुखबुद्धि होने से धर्मी (सम्यग्दृष्टि) जीवों को रागादिभावों का अभाव होता है, उनके राग में रुचि नहीं रहती। इस कारण उनके पुराना कर्म उदय में आकर खिर जाता है और नया बंधता नहीं है।

आत्मा तो अकेला अमृतसागर सच्चिदानंद स्वरूप भगवान है। उस आनंद की अनुभूति जिसे हुई, उनके साता-असाता के उदयकाल में किंचित् अस्थिरता का परिणाम एक समय मात्र को होता है; किंतु उस काल में उसे जो साता-असाता का वेदन है, उसका भी वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। इसकारण यद्यपि ज्ञानी के किंचित् साता-असातारूप वेदन है, तथापि उसे उसमें सुखबुद्धि – मिठास नहीं होने से, वह बंध का निमित्त हुए बिना निर्जरित हो जाता है। अहो! ऐसी अलौकिक बात तो सुनना भी

आज सुलभ नहीं है, जिसे यह सुनने-समझने का अवसर मिल गया है, उसे अपना सोभाग्य समझकर तुरंत कल्याण के मार्ग में लग जाना चाहिए ।

प्रश्न:– स्वयं भोगों को भोगते हुए भी ज्ञानी के उस संबंधी राग का सद्भाव नहीं है – यह बात समझ में नहीं आती?

उत्तर:– अरे भाई! ज्ञानी के उस राग में एकत्व व स्वामित्व नहीं है, इसकारण राग की रुचि नहीं है । इसमें समझ में न आने की क्या वात है? जिस तरह धाय (दासी) राजपुत्र को स्तन-पान कराती है, परन्तु उसे उसमें अनुराग नहीं होता । जिसतरह स्वर्ण कीचड़ में रहता है, पर कीचड़ का उसमें प्रवेश नहीं होता । सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय नहीं है । इस कारण उसे रागादिभावों का अभाव है । किंचित् राग होता है, पर वह उस राग को भी श्रद्धान में हेय मानता है, अतः उसे वह भोग का भाव कर्मबंधन का कारण नहीं होता और उदय में आकर खिर जाता है । अतः उसे निर्जरा ही होती है, बंधन नहीं । बस, इन्हीं सब कारणों से ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु कहे गये हैं ।

वैसे देखा जाए तो भोग तो बंधन के ही कारण है, पर यहाँ तो ज्ञानी के अंतदृष्टि के जोर की मुख्यता से कथन है न! उसकी आत्मानुभुति और सम्यग्दर्शन की महिमा दर्शाई गई है न! उस अपेक्षा जो किंचित् राग व रागजनित बंध होता है, उसे गौण करके जितने बंध के अभाव पूर्वक निर्जरा हुई है, उस अपेक्षा यह कहा है । यह बात भोग की पुष्टि के लिए नहीं कही गई है, जो ऐसा उल्टा अर्थ ग्रहण करके जरा भी राग की या भोगों की पुष्टि करेगा– वह तो पापी ही है, वह जिनवाणी के कथन के अभिप्राय को समझा ही नहीं है– ऐसा माना जायेगा ।

अहाहा ... ! जहाँ निराकुल आनन्द के निधान, अतीन्द्रिय आनन्द के धाम भगवान आत्मा के स्वरूप का अनुभव हुआ, वहाँ ज्ञानी के पर व राग में से रुचि व सुखबुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है । ऐसी स्थिति में उसे राग का किंचित् वेदन होता भी है, तो भी वह उसमें सर्वथा निर्भय ही हैं ।

भाई! ऐसा कथन सुनकर यदि कोई स्वछंदी होता है तो वह निश्चय ही मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसने जिनवाणी के इस नयविभाग से किए गए कथन का सत्य अर्थ ग्रहण नहीं किया ।

यहाँ तो यह कहा गया है कि ज्ञानी को भोग के भाव का वेदन तो है, परंतु उसे भोग के भाव की रुचि नहीं है, इसकारण वह एक समय का वेदन नवीन कर्मबंध किये बिना ही खिर जाता है । इसके पूर्व की गाथा में द्रव्यनिर्जरा की बात कही थी और इस गाथा में अशुद्धता (भावकर्म) नष्ट हो जाने की बात कही है । यहाँ समकिती के श्रद्धान-ज्ञान व विरागता की महिमा प्रसिद्ध की गई है ।

कहते हैं कि जिसप्रकार जीव, अजीव का स्वामी नहीं है, उसीतरह ज्ञानी राग का भी स्वामी नहीं होता । यद्यपि ज्ञानी के दया, दान आदि के भाव होते हैं, भूमिकानुसार होना भी चाहिए, परंतु उसे उनमें से अहंबुद्धि उड़ गई; उसीप्रकार राग के वेदन के काल में राग के वेदन की बुद्धि भी उड़ गई है ।

ज्ञानी के छह खंड का परिग्रह (वैभव) नहीं है, पर अपनी वीतराग परिणति का परिग्रह (वैभव) है । अहाहा---! अंदर आत्मा नित्य चिदानंद मय भगवान है । उसकी आनंदमय परिणति का होना ही उसका परिग्रह (वैभव) है । उसके पैसा, पुण्य व राग का परिग्रह नहीं है । ज्ञानी के अंतर में ऐसी अलौकिक ज्ञान-वैराग्य दशा होती है कि जिसके कारण वह चक्रवर्ती जैसे वैभव और इंद्रसरीखे भोगों को भी जीर्णतृण की तरह समझता है और उसका चित्त उनसे सदा उदास रहता है ।

लोक में अज्ञानी तो ऐसा मानते हैं कि मैं धनादि का दान वगैरह कर सकता हूँ । परंतु भाई! धनादि परद्रव्य की आने व जाने की क्रिया जीव की नहीं है, वह तो जड़ की क्रिया है और जड़ में ही उसका परिणमन होता है । उसमें जीव कुछ नहीं कर सकता है ।

प्रश्नः— यहाँ इस गाथा में तो ऐसा कहा है कि ज्ञानी व अज्ञानी दोनों परद्रव्य को भोगते हैं तथा पीछे गाथा ३ की टीका में तो ऐसा कहा है कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का चुम्बन या स्पर्श नहीं करता । इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तरः— कहाँ किस अपेक्षा से कौन-सा कथन किया गया है? इस बात को अच्छी तरह समझना चाहिए । गाथा ३ में तो वस्तु की स्थिति दर्शाई है और यहाँ जीव के सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध को स्वीकृत करते हुए यह कहा गया है कि जब जीव को स्वयं की तत्समय की पर्याय की योग्यता से भोगने की इच्छा होती है, उसी समय उसके निमित्त से शरीरादि परद्रव्यों में भी उनकी स्वतंत्र योग्यता से वैसी ही क्रिया होती

है। इस कारण निमित्त की मुख्यता से यह कहा जाता है कि जीव परद्रव्य को भोगता है वस्तुतः तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव परद्रव्य को भोगता ही नहीं है, वह तो केवल राग के वेदन को भोगता है। तथा शुद्धनिश्चय से तो राग भी परद्रव्य है । राग का भी आत्मा में प्रवेश नहीं है, वह भी पानी में तेल की तरह ऊपर-ऊपर ही तैरता है ।

गाथा १९४ के भावार्थ पर प्रवचन

"परद्रव्य भोगने में आने पर, कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उत्पन्न होता है।

सुखरूप या दुःखरूप जो अवस्था होती है, वह तो अपनी पर्याय– अपने अशुद्ध उपादान से होती है। कर्म के उदय के निमित्त से होने की बात जो जिनागम में कही गई है, वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कही गई है।

"मिथ्यादृष्टि के रागादिक के कारण वह भाव आगामी बंध करके निर्जरित होता है, इसलिए उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता, इसलिए मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य के भोगते हुए बन्ध ही होता है।"

मिथ्यादृष्टि को राग की रुचि है, प्रेम है। उसे राग-द्वेष-मोह का परिणाम है, इसकारण कर्म के उदय के निमित्त से जो भोग का भाव होता है, सुख-दुःख का परिणाम होता है, वह आगामी बंध करके निर्जरता है। अज्ञानी को जो सुख-दुःख का वेदन होता है, उसमें वह स्वामित्वभाव से प्रवर्तता है; इसकारण उसे राग-द्वेष होता है और इसीकारण उसे नवीन बंध होता है तथा इसी वजह से कर्म निर्जरित होते हुए भी उन्हें निर्जरा नहीं कह सकते। इसलिए मिथ्यादृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर बन्ध ही होता है, निर्जरा नहीं।

अब कहते हैं कि "सम्यग्दृष्टि के रागादिक न होने से आगामी बन्ध किए बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है। इसलिए उसे निर्जरित कहा जाता है, अतः सम्यग्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर निर्जरा ही होती है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के भावनिर्जरा होती है।"

धर्मीजीव की दृष्टि आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा पर होती है। इससे यद्यपि कर्म के उदय के निमित्त से थोड़ा सा सुख-दुःख का वेदन एक समय के लिए होता है, तथापि उसे राग-द्वेष-मोह का अभाव है, इससे वह वेदन का भाव वन्ध किए बिना ही निर्जरित हो जाता है। अतः यह वास्तविक निर्जरा है। अज्ञानी के भी वह भाव निर्जरित तो हुआ है, परन्तु वह नवीन बन्ध करके निर्जरित हुआ है, इसकारण निर्जरित हुआ

नहीं कहलाता तथा ज्ञानी के वही भाव बन्ध किए बिना निर्जरित हो जाता है, इससे उसे उस भाव की निर्जरा हो गई– ऐसा कहा जाता है।

प्रश्नः– आत्मा प्रत्यक्ष बोलता दिखाई देता है और कहा यह जाता है कि आत्मा बोलता नहीं है? यदि आत्मा नहीं बोलता तो क्या दीवालें बोलती हैं?

उत्तरः– बापू! तुम्हें आध्यात्मिक तत्त्व की कुछ खबर नहीं है, इसकारण ऐसा प्रश्न करते हो। यह जो आवाज निकलती है, यह शब्दवर्गणा या भाषावर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का कार्य है। अरे! आवाज निकलते समय यह जो होंठ हिलते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो इनके कारण भी वह आवाज नहीं निकलती। जब होठों का हिलना भी आवाज का असली का कारण नहीं है तो वह जीव का कार्य कैसे हो सकता है? अज्ञानी तो मात्र संयोग को ही देखता है; बस, इसीकारण वह यह कहता है कि जीव बोलता है; परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। भाई! वीतराग शासन की तो बात ही अलौकिक है। उसकी तो बात-बात में लौकिक बातों से विशेषता दिखाई देगी। लौकिक मार्ग और लोकोत्तर मार्ग एक जैसे कैसे हो सकते है? जब जीव व अजीव – दोनों तत्त्व स्वरूप से ही भिन्न-भिन्न हैं तो फिर जीवतत्त्व अजीवतत्त्व का क्या कर सकता है। वस्तुतः जीव, अजीव में कुछ फेर-बदल कर सके – ऐसा जीव का स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्नः– जीव अजीव में कुछ नहीं करता, यह तो ठीक; परन्तु जीवतत्त्व आस्रवतत्त्व व बन्धतत्त्व को तो करता है न?

उत्तरः– यह बात जुदी है। यह तो जीव की पर्याय की बात है। आस्रवतत्त्व के परिणाम जीव की पर्याय में होते हैं। इसलिए ऐसा कहा है कि इन्हें जीव करता है। ज्ञानी के भी जो आस्रवभाव है, वह भी जीव का ही परिणाम है; परन्तु कर्म के उदय के निमित्त से होता है, इसलिए उसे पर कहा है। तथा राग में जीव स्वयं अटका है, इसकारण बन्धतत्त्व भी जीव का है– ऐसा कहा है। बन्ध से भिन्न करके अबन्धतत्त्व में ले जाने के लिए बन्ध को जीवतत्त्व कहा है। जिसप्रकार मोक्षतत्त्व है, संवर-निर्जरातत्त्व है, उसीप्रकार आस्रव-बंध भी यद्यपि क्षणिक है; तथापि तत्त्व हैं– ऐसा बताना है। उनमें एक त्रिकाली ध्रुव चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा उपादेय है, शेष सातों ही तत्त्व क्षणिक – विनाशीक होने से आश्रय करने योग्य नहीं हैं, अतः हेय है। जिसे ऐसा सम्यक् श्रद्धान हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है तथा रागादिभाव नहीं होने से आगामी बन्ध किये बिना ही वेदन में आते हुए वे सुखदुःखादि भोग के भाव निर्जर जाते हैं,

वही यथार्थ निर्जरा है। इसलिए सम्यग्दृष्टि के परद्रव्य को भोगते हुए भी निर्जरा ही होती है।

(अनुष्टुप)

अब आगामी गाथाओं की सूचना के रूप में श्लोक कहते हैं:—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते।।१३४।।

श्लोकार्थः—[किल] वास्तव में [तत् सामर्थ्यं] वह (आश्चर्य-कारक) सामर्थ्य [ज्ञानस्य एव] ज्ञान की ही है [वा] अथवा [विरागस्य एव] विराग की ही है [यत्] कि [कः अपि] कोई (सम्यग्दृष्टि जीव)[कर्म भुञ्जानः अपि] कर्मों को भोगता हुआ भी [कर्मभिः न बध्यते] कर्मों से नहीं बँधता। (वह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।)।।१३४।।

कलश १३४ पर प्रवचन

इस कलश में यही कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव कर्मफल को भोगते हुए भी कर्मों से बंधता नहीं है। ज्ञानी को अंतर में जो शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा के आश्रय से ज्ञान व वैराग्य प्रगट हुआ है, उसकी कोई ऐसी ही आश्चर्यकारी सामर्थ्य है कि वह कर्म को भोगते हुए भी उसमें मोहित नहीं होता और इसीकारण वह नवीन कर्म से बंधता नहीं है।

यहाँ क्षयोपशम ज्ञान की बात नहीं; बल्कि आत्मज्ञान या भेदज्ञान की बात है। इसीतरह स्त्री-पुत्रादि को छोड़कर बाहर से त्यागी होना वैराग्य नहीं, बल्कि अशुद्धता का अभाव – राग का अभाव ही वास्तविक वैराग्य है।

सम्यग्दृष्टि को ऐसा ज्ञान व वैराग्य प्रगट हुआ है, जिस कारण वह कर्म को भोगते हुए भी कर्म से बंधता नहीं है। जिसप्रकार रोगी औषधि लेता है, पर उसे उस औषधि से प्रेम नहीं होता; उसीतरह ज्ञानी को कमजोरी के कारण भोग का परिणाम आता है और उसे उसका वेदन भी होता है; परंतु उसे उसमें रुचि नहीं है, स्वामित्व का भाव नहीं है, इस कारण वह कर्म को भोगते हुए भी नवीन कर्मों से बंधता नहीं है।

समयसार गाथा १९५

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति–

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी।।१९५।।

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी।।१९५।।

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघ-ज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी।

अव ज्ञान की सामर्थ्य वतलाते हैं:–

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्यजन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं।।१९५।

गाथार्थः– [यथा] जिसप्रकार [वैद्यः पुरुषः] वैद्य पुरुष [विषम् उपभुंजानः] विष को भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [मरणम् न उपयाति] मरण को प्राप्त नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [पुद्गलकर्मणः] पुद्गलकर्म के [उदयं] उदय को [भुंक्ते] भोगता है तथापि [न एव बध्यते] वँधता नहीं है।

टीकाः– जिसप्रकार कोई विषवैद्य, दूसरों को मरण के कारणभूत विष को भोगता हुआ भी अमोघ (रामवाण) विद्या की सामर्थ्य-से – विष की शक्ति रुक गई होने से, नहीं मरता; उसीप्रकार अज्ञानियों को, रागादिभावों का सद्भाव होने बन्ध का कारण जो पुद्गलकर्म का उदय, उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से– कर्मोदय शक्ति रुक गई होने से, बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः– जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र औषधि इत्यादि अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की घातकशक्ति का अभाव कर देता है, जिससे विष के

खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी के ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है कि वह कर्मोदय की वन्ध करने की शक्ति का अभाव करता है और ऐसा होने से कर्मोदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के आगामी कर्मवन्ध नहीं होता। इसप्रकार सम्यक्ज्ञान की सामर्थ्य कही गई है।

गाथा १९५ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

"जिसप्रकार कोई विषवैद्य, दूसरों के मरण के कारणभूत विष को भोगता हुआ भी, अमोघ (रामवाण) विद्या की सामर्थ्य से विष की शक्ति, रुक गई होने से मरता नहीं है.......।"

देखो, आचार्य कहते हैं कि विष सामान्यतया मरण का ही कारण है, जो भी विष का सेवन करता है, वह अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होता है। परन्तु विषवैद्य विष का सेवन करते हुए भी नहीं मरता, क्योंकि उसके पास कोई ऐसी अमोघ विद्या की सामर्थ्य है, जिससे वह विष की शक्ति नष्ट कर देता है अतः विष का सेवन करता हुआ भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता – यह तो दृष्टान्त है।

अव इसी दृष्टान्त से सिद्धान्त समझाते हुए कहते हैं कि—

"इसीप्रकार अज्ञानियों को रागादिभावों का सद्भाव होने से वन्ध का कारण जो पुद्गल कर्म का उदय, उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से कर्मोदय शक्ति रुक गई होने से, वन्ध को प्राप्त नहीं होता।"

देखो, पुद्गलकर्म का उदय अज्ञानियों को वन्ध का ही कारण है, क्योंकि उनके राग-द्वेष-मोह का सद्भाव है; किन्तु ज्ञानी कर्म के उदय को भोगते हुए भी उस कर्म से वंधता नहीं है, क्योंकि जिसतरह वैद्यजन विष को निर्विष करने की शक्ति सम्पन्न होने से विष का उपभोग करते हुए भी मरते नहीं हैं; उसीप्रकार ज्ञानी के अन्तर्ज्ञान – भेदविज्ञान प्रगट हो जाने के कारण राग-द्वेष-मोह के भाव का सद्भाव नहीं रहा। उसे कर्मोदयजन्य भोगों में उपादेय वुद्धि नहीं रही, सुखबुद्धि नहीं रही। अतः वह कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त भोगों को भोगते हुए भी कर्म से वंधता नहीं है।

जिन्हें भोगों में रुचि है, वे तो अज्ञानी हैं; वे रुचिपूर्वक भोग भोगने के कारण नियम से वंधते हैं, क्योंकि उनके राग-द्वेष-मोह का सद्भाव है। यहाँ तो कह रहे हैं कि जिसे भोगों में रुचि नहीं रही, जो भोगों को अभिप्रायपूर्वक नहीं भोगता; वह ज्ञानी कर्मोदय के निमित्त से अन्य भोगों को भोगते हुए भी राग-द्वेष-मोह का अभाव हो जाने से कर्मवन्धन को प्राप्त नहीं होता; भोगों को भोगता दिखाई देता है. तो भी वंधता नहीं है।

गाथा १९५ के भावार्थ पर प्रवचन

"जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र, औषधि आदि अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की घातक शक्ति का अभाव कर देता है, जिससे विष के खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी के ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है कि वह कर्मोदय की बन्ध करने की शक्ति का अभाव करता है और ऐसा होने से कर्मोदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के आगामी कर्मबंध नहीं होता।"

अहाहा---! देखो, यह कैसा दृष्टान्त दिया है। कहते हैं कि जिसप्रकार वैद्य अपने मंत्र-तंत्र आदि सिद्धियों की सामर्थ्य से विष में रहनेवाली मारणशक्ति का नाश करके विष को निर्विष कर देता है और इसकारण वह उस मृत्युकारक शक्ति से हीन विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। इस बात का ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए कि विष से कोई भी व्यक्ति मरता ही नहीं है। यह बात केवल उन वैद्यों पर ही लागू पड़ती है, जिन्होंने अपने अनुभव और तजुर्बे से विष को निर्विष कर दिया है।

प्रश्न :– यदि भोग भोगने से बंध नहीं होता तो फिर किसी भी व्यक्ति को भोगों का त्यागकर मुनि होने की क्या जरूरत है? फिर कोई मुनिधर्म को धारण करके कष्ट क्यों उठाये?

समाधान :–भाई! यहाँ टीकाकार का अभिप्राय ज्ञानी की सामर्थ्य विशेष को सिद्ध करने का है। भोगने का भाव तो अशुभभाव है तथा वह बंध का ही कारण है। जहाँ शुभभाव भी बन्ध का कारण है, वहाँ अशुभभाव अबन्ध का या निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है?

यह सब बात ठीक है, पर यहाँ तो ऐसा ही कहा है न कि 'ज्ञानी के भोग निर्जरा हेतु हैं' इस कथन का क्या अभिप्राय है?

इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं ज्ञानी के भोग की रुचि नहीं है, उसके तो अन्दर में भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न निर्मल आनन्द की रुचि उत्पन्न हो गई है; इसकारण बाहर में वर्तमान क्षणिक कमजोरी से भोग का जो भाव आता है, वह तो उदय में आकर समाप्त हो जाता है, खिर जाता है और उसमें अरुचि होने से वह आगामी कर्मबन्ध का कारण नहीं बनता। ज्ञानी के राग की रुचि का अभाव तथा स्वरूप की रुचि का सद्भाव है, इसकारण उसके बंध की शक्ति क्षीण हो गई है। इसकारण कहा है कि ज्ञानी कर्मोदय को भोगते हुए भी रागादि का अभाव होने से बंधता नहीं है।

जिसप्रकार यहाँ वैद्यों का उदाहरण देकर ज्ञानी की उस चतुर सामर्थ्य को दिखाया है, जिसके बल पर वह कर्मोदय की नवीन बंध करने की शक्ति का नाश कर देता है। उससे कर्म के उदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव हो जाने से नवीन कर्मबन्ध नहीं होता।

इस कथन को सुनकर कुछ अज्ञानीजन शंका करते हैं कि ज्ञानी के भोगों को निर्जरा के कारण कहा है, यह कैसे निरंकुश भोगों की पुष्टि की है, क्या ऐसा कहना उचित है?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह कथन जो जिनागम है, उसकी अपेक्षा समझना चाहिए। अपेक्षा जाने बिना जिनागम में आशंका करना ठीक नहीं है। यहाँ भोगों की छूट देना या पुष्टि करने का प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो यह कहा गया है कि ज्ञानी को भी भोग का विकल्प आता है; परन्तु उसे भोगों में उपादेयबुद्धि नहीं है, उसकी भोगों में से सुखबुद्धि व हितबुद्धि नष्ट हो गई है। धर्मी – ज्ञानी को राग में रुचि नहीं है, राग में एकत्व नहीं है। उसके भेदज्ञान में ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है, जिससे वह कर्मोदय की बन्ध करने की शक्ति का नाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को भोगों का भाव नवीन बन्ध किए बिना ही खिर जाता है – नष्ट हो जाता है। जबकि वही कर्मोदय अज्ञानी को भोगो में उपादेयबुद्धि से भोगने के कारण नवीन कर्मबन्ध का कारण बनता है।

देखो भाई! पकड़-पकड़ में फेर है। बिल्ली अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है। दोनों के पकड़ने में कितना फर्क है। बच्चे के पकड़ने में उसकी रक्षा का भाव है, लालन-पालन का भाव है और चूहा को पकड़ने में उसे मारकर खा जाने का भाव है; अतः चूहा को ऐसे जोर से पकड़ती है कि बेचारा चूहा फड़-फड़ाकर तत्काल मर जाता है। इसीप्रकार अज्ञानी की राग में उपादेयबुद्धि है, राग में रुचि है; अतः वह बन्ध करने की शक्ति से युक्त है, इसी से वह कर्मोदय को भोगते हुए बंधता ही है। तथा जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ गया है, उस धर्मी को राग के स्वाद की रुचि नहीं है; बल्कि उसे तो वह राग जहर जैसा लगता है। यद्यपि ज्ञानी के राग होता है, परन्तु उसे वह राग हेयबुद्धि से होता है। ज्ञानी राग को आदरणीय व कर्तव्य नहीं मानता; पर जो राग है, उसे हेय मानता है। इससे कर्मोदय को भोगते हुए भी उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

देखो, जिसे ब्रह्म अर्थात् निर्मलानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आनन्द का रंग लगा है, उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारियों को विषय के राग का स्वाद जहर जैसा दुःखमय लगता है। जिसतरह काले नाग को देखकर लोग दूर भागते हैं, उसीतरह ज्ञानी रागादिक विकल्पों से दूर भागता है। आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष विषय का स्वाद उसे अत्यन्त बे-स्वाद लगता है, फीका लगता है; जबकि अज्ञानी विपरीत श्रद्धा के कारण राग को उपादेय मानता है। तथा उसकी कषाय शक्ति विद्यमान होने से बन्ध करने की शक्ति यथावत् प्रगट बनी रहती है। इसी कारण अज्ञानी भोग भोगते हुए बन्धन को प्राप्त होता है। इसके विपरीत ज्ञानी को अन्तर आत्मानुभव के आनन्द का स्वाद आ गया है और उसी अनुभवन में राग का– विषयसुख का स्वाद फीका पड़ गया है, उसमें ज्ञानी की हेयबुद्धि हो गई है, उसमें से रुचि टूट गई है; इसी से कषायाशक्ति भी क्षीण हो गई है। कषायशक्ति का अभाव होने से कर्मबंध की शक्ति भी घट जाती है। इसकारण कर्मोदय को भोगते हुए भी ज्ञानी बंधता नहीं है।

भाई! जिसे व्यवहार की या राग की रुचि है, उसे परम वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा की अरुचि है – उसे भगवान आत्मा के प्रति द्वेष है। कहा भी है – 'द्वेष अरोचक भाव'। जिसे अनाकुल आनंदकन्द प्रभु आत्मा नहीं रुचता तथा राग रुचता है, उसे प्रभु आत्मा के प्रति अरुचि है, द्वेष है। अज्ञानी को मूल आत्मा की तो रुचि नहीं है, दर्शनविशुद्धि नहीं है और बाहर में व्रत, तप आदि अंगीकार करके अपने को धर्मात्मा मानने लगता है; परन्तु भाई! सम्यग्दर्शन बिना कषाय शक्ति विद्यमान रहने से सभी व्रतादि निरर्थक ही सिद्ध होते हैं; संसार मे जन्म-मरण के ही निमित्त बनते हैं, उनसे किसी का मोक्ष व मोक्षमार्ग नहीं बनता।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा की रुचि प्रगट हो गई है, उसे राग की रुचि नहीं है। कोई सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर या चक्रवर्ती हो तथा गृहस्थ दशा में अनेक रानियों के समूह में रहता हो तो भी उसे भोग की – राग की अरुचि है, आत्मा के आनन्द के सामने उसे राग-रंग के सभी रस नीरस लगते हैं; इसकारण भोग के परिणाम होते हुए भी उसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता और पूर्व में बंधे कर्मों की निर्जरा हो जाती हे। इसीकारण ज्ञानी के भोगों को निर्जरा का हेतु कहा गया है।

भाई! भोग का परिणाम है तो पाप-परिणाम ही, परन्तु ज्ञानी को उसमें रुचि नहीं रही; इसकारण वह उन भोगों को रोगवत् जानकर भोगता है, इससे वह नवीन कर्मों का बन्ध करने में समर्थ नहीं है; इसलिए उसे निर्जरा का कारण कहा है । वेदन-वेदन में फर्क होता है । अज्ञानी को राग (भोग) के वेदन में एकत्व की चिकनाहट है तथा ज्ञानी को उसमें भिन्नपने की अरुचिरूप फीकापन है । अज्ञानी अपने उस राग भाव के कारण बन्धन में पड़ता है और ज्ञानी के नवीन बन्ध हुए बिना पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है ।

भाई! आकाश के अनंत प्रदेशों से भी अनन्त गुणे गुण जिसमें हैं, ऐसा अनन्त गुणों का धाम भगवान आत्मा जिसकी दृष्टि में तथा रुचि में आ गया है, उसके राग का या क्षणिक विकृत दशा का रस उड़ जाता है । इसी से उसके भोगों को निर्जरा का हेतु कहा है । ज्ञानियों के जितना अल्पराग होता है, उतना अल्परस होने से स्थितिबन्ध होता तो है; परन्तु उसे यहाँ गौण करके गिनती में नहीं लिया । इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि ज्ञानी के बन्ध नहीं होता । यदि सूक्ष्मदृष्टि से यह देखा जाये तो जितने अंश में राग है, उतने अंश में अल्पस्थिति बंध है, पर वह अनंत संसार का कारण नहीं है और ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी के आगामी नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता । यह हमारे-तुम्हारे मन की बात नहीं है, बल्कि यह आचार्यों का कथन है, भगवान की वाणी है । अतः प्रत्येक कथन की अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर उसका यथार्थ अभिप्राय समझकर अपना समाधान करना चाहिए

इसप्रकार सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य का प्रतिपादन किया । सम्यग्ज्ञान अर्थात् त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का ज्ञान । जिसे ज्ञान की पर्याय में परिपूर्ण आत्मवस्तु का ज्ञान आ जाता है, उस ज्ञानपर्याय को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । इस ज्ञान की ऐसी परम अद्भुत सामर्थ्य है कि ज्ञानी राग को भोगते हुए भी उसमें रस – रुचि नहीं होने से बंधता नहीं है ।

समयसार गाथा १९६

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति–

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदितहेव।।१९६।।
यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव।।१९६।।

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति, तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ।

अब वैराग्य का सामर्थ्य वतलाते हैं :–

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं ।
द्रव्योपभोग विषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं ।।१९६।।

गाथार्थः– [यथा] जैसे [पुरुषः] कोई पुरुष [मद्यं] मदिरा को [अरतिभावेन] अरतिभाव से (अप्रीति से) [पिबन्] पीता हुआ [न माद्यति] मतवाला नहीं होता, [तथा एव] इसीप्रकार [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [द्रव्योपभोगे] द्रव्य के उपभोग के प्रति [अरतः] अरत (वैराग्यभाव में) वर्तता हुआ [न बध्यते] बन्ध को प्राप्त नहीं होता ।

टीकाः–जैसे कोई पुरुष, मदिरा के प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है – ऐसा वर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी, तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी, रागादिभावों के अभाव से सर्वद्रव्यों के उपभोग के प्रति जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, विषयों को भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण (कर्मों से) बन्ध को प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः–यह वैराग्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मो से नहीं बँधता ।

गाथा १९६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ इस गाथा में आचार्य वैराग्य की सामर्थ्य बता रहे हैं। इसके पहले अस्ति से यह कह आये हैं कि भगवान आत्मा की स्वभावसन्मुख

अन्तदृष्टि होने पर जो आत्मज्ञान प्रगट होता है तथा उसके साथ जो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है, उसके सामर्थ्य से ज्ञानी के कर्म का उदय नवीन कर्मबन्ध किये बिना ही खिर जाता है । अब यहाँ ज्ञान–वैराग्य की सामर्थ्य कहते हैं । वैराग्य से तात्पर्य केवल कपड़े उतार फेंकने या नग्न हो जाने से नहीं हैं; किंतु अनादि से जो राग में रक्त था, विषयों में आसक्त था, उनमें ही सुखबुद्धि थी, उन्हें निःसार समझकर, उन्हें दुःखस्वरूप, दुःख के कारण मानकर उनसे उदास होना, उनमें से रुचि का टूट जाना ही वैराग्य है । अपनी पूर्ण अस्ति की रुचि होने पर ज्ञानी का राग से विरक्त हो जाना ही यथार्थ वैराग्य है । ऐसे वैराग्य की चर्चा ही प्रस्तुत गाथा में की गई है ।

जिसप्रकार कोई पुरुष, जिसको मदिरा के प्रति अरतिभाव प्रवर्तता है, वह मदिरा को पीकर भी तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी भी रागादिभावों के अभाव से सर्वद्रव्यों के उपभोग के प्रति जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है, वह विषयों को भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण कर्मों से बन्ध को प्राप्त नहीं होता ।

देखो, जिसे मदिरापान में तीव्ररुचि या रतिभाव होता है, वह मदिरा पीकर अवश्य ही पागल की भाँति उन्मत्त हो जाता है तथा जिसको मदिरा के प्रति अत्यन्त अरतिभाव होता है, वह परिस्थिति वश मदिरापान कर भी ले तो उसे नशा नहीं चढ़ता । यह तो दृष्टांत है, यहाँ कहने को मूल प्रयोजन तो यह है कि इसीप्रकार ज्ञानी को स्वरूप के रस की अधिकता होने से विषयकषाय के राग-रंग की रुचि ही नहीं रही, उत्साह ही नहीं रहा, उमंग नहीं रही – इसकारण अरतिभाव से किए गए मदिरापान की भाँति सर्व परद्रव्यों का उपभोग करते हुए ज्ञानी के कर्मबन्ध नहीं होता ।

अहा---! ज्ञानी के जो आजतक प्रगट नहीं हुआ था, वह ज्ञानरस परम अद्भुत वैराग्यरस प्रगट हुआ है । ज्ञानी आत्मा के आनन्दरस का रसिया आत्मरसी हुआ है, इसकारण उसके रागादिभावों का अभाव है, राग के रस का अभाव है । इसी ग्रन्थ की ३८वीं गाथा के भावार्थ में रस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब ज्ञान किसी एक ज्ञेय में तदाकार – एकाकार होकर उसी में लीन हो जाता है तो उसे 'रस' कहते हैं । ज्ञानी अर्थात् धर्मी जीव वीतराग रस के कन्द स्वरूप भगवान आत्मा

में एकाकार होकर लीन हो जाता है, अतः उसे राग का रस नहीं रहता। इसीकारण वह विषयों को भोगता हुआ भी बंधता नहीं है।

अहा---! धर्मी की तो बात ही अलौकिक है; पर यदि कोई तप, उपवासादि करके अपने को इतने मात्र से धर्मी मान ले तो उसकी बात यहाँ नहीं है। धर्मी तो उसे कहते हैं, जिसके स्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द रस के सामने समस्त प्रकार के राग का रस उड़ गया है, राग का अभाव हो गया है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी के रागभाव के अभाव से 'सर्वद्रव्यों के' उपभोग के प्रति तीव्र वैराग्य होता है। तथा आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के समक्ष उसे सभी रागादिभावजन्य विषयों के रस फीके लगते हैं। अहा---! जिन ज्ञानीजनों को आत्मा के आनन्द का स्वाद आ जाता है, उनका अन्य सभी परद्रव्यों पर से रस – रुचि उठ जाती है। धर्मी का राग मर जाता है, इसकारण विषयों को भोगते हुए भी तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य से वह कर्मों से बंधता नहीं है।

(रथोद्धता)

अब इसी अर्थ का और आगामी 'गाथा' का सूचक काव्य कहते हैं:—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः।।१३५।।

श्लोकार्थः—[**यत्**] क्योंकि [**ना**] यह (ज्ञानी) पुरुष [**विषयसेवने-अपि**] विषय सेवन करता हुआ भी [**ज्ञानवैभव-विरागता बलात्**] ज्ञानवैभव और विरागता के बल से [**विषयसेवनस्य स्वं फलं**] विषयसेवन के निज फल को (रंजित परिणाम को) [**न अश्नुते**] नहीं भोगता– प्राप्त नहीं होता, [**तत्**] इसलिये [**असौ**] यह (पुरुष) [**सेवकः अपि असेवकः**] सेवक होनेपर भी असेवक है (अर्थात् विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता)।

भावार्थः— ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विषयसेवन का फल जो रंजित परिणाम है, उसे ज्ञानी नहीं भोगता – प्राप्त नहीं करता।।१३५।।

कलश १३५ पर प्रवचन

इस कलश में उपर्युक्त गाथा का उपसंहार एवं अगली गाथा की सूचना दी गई है। यहाँ ज्ञानी पुरुष का अर्थ आत्मा है, भले ही वह लिंग की अपेक्षा स्त्री हो या पुरुष, देह तो आत्मा है नहीं, देह तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न है, आत्मा तो देह से भिन्न चैतन्यमय वस्तु है; जिसे अन्तर में ऐसा भान हुआ, वह ज्ञानी पुरुष है। अधिक शास्त्र जाननेवाले को ज्ञानी नहीं कहा, बल्कि जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ है, वह ज्ञानी है। जिसने अन्दर में अपने ज्ञानानंदस्वभावी आत्मतत्त्व का स्पर्श करके अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव किया तथा अपनी परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति की वह ज्ञानी है, समकिती है, धर्मी है। ऐसा ज्ञानी पुरुष विषयों का सेवन करते हुए भी अपने ज्ञान के वैभव से तथा विरागता के बल से विषयसेवन के निजफल को नहीं भोगता।

अहाहा---! जिसे अन्तर में अपने शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का भान हुआ है, उसे ज्ञान वैभव का बल होता है, गर्व होता है; क्योंकि उसे अपने शुद्ध चैतन्य की प्रतीति तथा अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हुआ है। वही उसका ज्ञानवैभव है। तथा उसे सर्व परद्रव्यों के प्रति उदासीनता भावरूप विरागता का बल होता है। इसप्रकार ज्ञानवैभव व विरागता के बल से ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी विषयसेवन के निजफल को अर्थात् रंजित परिणाम को भोगता नहीं है।

प्रश्नः— यहाँ विषयसेवन के फल को निजफल कहने का क्या अभिप्राय है?

उत्तरः— राग से रंजित परिणाम को विषयसेवन का निजफल कहा है। ज्ञानी ऐसे राग से रंजित परिणाम को नहीं भोगता; क्योंकि वह राग के प्रति उदासीन है तथा पूर्ण आनन्दस्वरूप आत्मा के अस्तित्व का उसे वेदन है।

भाई! तू अनादि से दुःख के मार्ग में पड़ा है। राग व निमित्तों को अपना मानकर तू मिथ्यात्वभाव के सेवन में अनादि से लगा हुआ है तथा इसीकारण ८४ लाख योनियों में जा-जा कर अनन्तबार जन्म-मरण कर-कर के भवंसिंधु में गोते खा रहा है। हे भाई! उस भवसिन्धु को पार करने के लिए तू अपने चैतन्यसिन्धु का मन्थन कर। देख कविवर बनारसीदास ने कहा भी है कि "शुद्ध चेतनासिन्धु हमारौ रूप है"। बस उसी चैतन्यसिन्धु में गोते लगा तो भवसिन्धु से अवश्य पार हो जायेगा।

समयसार नाटक का उपर्युक्त छन्द इसप्रकार है–

"कहै विचच्छन पुरुष सदा में एक हों,
अपने रस सौं भर्यो आपनी टेक हों।
मोह कर्म मम नाहिं, नाहिं भ्रम कूप है,
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।।"

संसार में जिन्हें विचच्छण माना जाता है, तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वे तो सब मूर्ख ही हैं। यहाँ लौकिक विचच्छण पुरुषों की बात नहीं है। यहाँ तो जिन्हें आत्मानुभव प्रगट हुआ है, उन समकिती धर्मी जीवों को विचच्छण पुरुष कहा है; ऐसे धर्मी विचच्छण पुरुष ऐसा जानते-मानते हैं कि मैं सदा एक हूँ, ज्ञान व आनंद के रस से भरा हूँ। ये रागादिभावों वाला मैं नहीं हूँ। ये सब तो भ्रमणा है, भ्रम के कुएँ हैं। ये सब मेरे स्वरूप में हैं ही नहीं, मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्यरस से भरा हुआ सिन्धु है। ज्ञानी ऐसे स्वरूप चिन्तन के द्वारा भवसिन्धु से पार हो जाते हैं।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि निमित्तों का भी आत्मा पर कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है। देखो, शास्त्रों में भी कर्मोदय के प्रकरण में स्पष्ट लिखा मिलता है कि मोहनीय कर्म के निमित्त से जीव को रागादिभाव होते हैं, आदि। इसका समाधान यह है कि निमित्तों से कार्य होता है, यह कथन जो शास्त्रों में आता है, वह उपचार का कथन है। वहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है। वस्तुतः तो निमित्तों से या कर्मोदय से आत्मा में कुछ भी विकार या परिवर्तन नहीं होता। जीव में जो भी कार्य या विकार होता है, वह तो स्वयं की वर्तमान उपादान की योग्यता से ही होता है, उसमें कर्मोदय तो निमित्त मात्र है, नियामक कारण नहीं। अरे भाई! कर्म तो जड़ है। जड़पदार्थ आत्मा का स्पर्श भी नहीं करते और आत्मा भी जड़ कर्मों का स्पर्श नहीं करता तो फिर जड़ कर्म चेतन आत्मा का क्या कर सकते हैं? भाई! वास्तविक बात तो यह है कि जब ज्ञानादि गुणों की हीन दशा स्वयं अपने भावकर्म से होती है, तब ज्ञानावरणादि कर्मों को निमित्त कहा जाता है।

भाई! यहाँ कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनंद का रस लग गया है, जो आत्मरसिक हो गया है, उस ज्ञानी को ज्ञानवैभव का और विरागता का पृष्ठबल है; इसकारण उसे अन्यत्र विषयकषाय आदि सांसारिक कार्यों में कहीं भी उत्साह आनन्द नहीं आता। चक्रवर्ती की सम्पदा और इन्द्र जैसे भोगों के बीच में भी वे उदासीन रहते हैं। इस कारण वे उन के सेवक होते हुए भी असेवक हैं। शुद्ध चैतन्य रस से स्वरूप से च्युत नहीं होते।

जैनशासन में तो यह बात ही मिथ्या है, परंतु लोक व्यवहार की भाषा में जहाँ ऐसा कहा गया है कि ज्ञानी पर के कार्य को करते तो हैं, पर उदासीन भाव से करते हैं। उसका तात्पर्य केवल इतना समझना कि ज्ञानी को जो बीच-बीच में शुभभाव रूप दया-दान-भक्ति एवं तत्त्व प्रचार-प्रसार व ग्रन्थ रचना आदि करने के भाव आते हैं; वह सब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात है, पर में कर्ता-कर्म की नहीं। पर का कर्तृत्व तो दूर ही रहो, ज्ञानी के तो राग का कर्तृत्व भी नहीं होता; क्योंकि उसे तो राग में भी रस नहीं है, राग का स्वामित्व भी नहीं है। यहाँ तो कहा गया है कि ज्ञानी राग का भी क़र्ता नहीं है। किंचित् पुरुषार्थ हीनता से परिणाम में कमजोरी के कारण जो रागादिभाव होते हैं, उनमें भी उसका स्वामित्व नहीं है, कर्तृत्वभाव नहीं है। वह तो मात्र उन होने वाले स्व-पर के भावों का ज्ञाता ही है।

भाई! यह जन्म-मरण के अन्त करने का अपूर्व अवसर आया है। यदि इस अवसर में भी यह बात नहीं समझ सके तो फिर कभी नहीं समझ पावोगे, क्योंकि यह अवसर बार-बार नहीं मिलता। अरे देखो! पता नहीं कब-किसका हार्ट फेल हो जायेगा। देह का कोई भरोसा नहीं है, देखते-देखते ही छूट जाती है। यदि तत्त्वज्ञान हुए बिना पापाचरण करते करते ही छूट गई तो पता नहीं ८४ लाख योनियों में कहां जाकर पड़ेंगे? भाई! गंभीर बात है, यों ही बातों-बातों की टालमटोल मत करो, अन्यथा यह अमूल्य जीवन कहीं भव समुद्र में — निगोदादि में खो जायेगा, तब क्या होगा? ऐसा विचार करके आत्मज्ञान करने का प्रयत्न कर!

जब पर में जीव कुछ कर ही नहीं सकता तो अनासक्ति से करने की बात ही कहाँ ठहरती है? पर में कुछ करने का तो अभिप्राय ही मिथ्या है। जहाँ जिनवाणी में अनासक्तिभाव से कार्य करने की बात कही भी गई हो, उसका तात्पर्य तो ज्ञानी का अनासक्तभाव से रहने का है, कुछ करने-कराने का नहीं, क्योंकि ज्ञानी के पर में कर्तृत्वबुद्धि होती ही नहीं है। वस्तुतः जिनागम में करना व होना दो बात ही नहीं है। होने को ही व्यवहार की भाषा में करना कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष सेवक होते हुए भी असेवक हैं। तात्पर्य यह है कि जो विषयसेवन का भाव आया है, वह आया है, इसमें ज्ञानी उसका सेवक है; पर उसमें उसे किंचित् भी उत्साह नहीं है, प्रमोद नहीं है, कर्तृत्व व स्वामित्व नहीं है; अतः वह वस्तुतः तो असेवक ही है। जिसतरह बीमार व्यक्ति को हालाहल जैसी कड़वी दवा लेनी पड़ती है,

पर उस दवा को लेने में उसे कतई रुचि नहीं है, उसीतरह धर्मी को राग में कतई रुचि नहीं है । अज्ञानी को रागादिभावों में रुचि होती है और ज्ञानी को रागादिभावों में रुचि नहीं है; इसकारण उनको सेवते हुए भी वह असेवक है ।

प्रश्नः– ज्ञानी विषयों को भोगते हुए भी उनको भोगता नहीं है, यह बात समझ में बैठती नहीं है, यह कैसे संभव है? इसे थोड़ा स्पष्ट करने की कृपा करें ।

समाधानः– बापू! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है । जिसतरह कोई ४० वर्षीय मां का २० वर्षीय बेटा अपने मां के अंगोपांगों को कभी विकार की दृष्टि से नहीं देख सकता है; आँख तो उसकी भी माँ के अंगोपांग पर पड़ती है, पर वह उन्हें मातृत्वभाव से ही देखता है, विकारभाव से नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टि में ही फेर है, उसे मां में पूज्यभाव के सिवाय अन्य कुछ दिखता ही नहीं है । ठीक इसीप्रकार ज्ञानी पर को देखते हुए भी पर को देखता ही नहीं है । इसकारण धर्मी को विषय सेवते हुए भी असेवक कहा जाता है । उसको आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के सामने विषयरस अत्यन्त फीके लगते हैं ।

१३५वें कलश के भावार्थ पर प्रवचन

"ज्ञान और वैराग्य की ऐसी कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विषयसेवन का फल जो रंजित परिणाम है, उसे ज्ञानी नहीं भोगता; प्राप्त नहीं करता ।"

यहां 'ज्ञान' का अर्थ आत्मज्ञान है, व्यवहार का ज्ञान अथवा शास्त्र का ज्ञान नहीं । यहां तो उस आत्मज्ञान की बात है, जो चिदब्रह्मस्वरूप निज परमात्मद्रव्य का लक्ष्य करने से प्रगट हुआ है तथा विरागता का अर्थ है– अशुद्धता से शुद्धता की ओर बढ़ना । अपने अस्तित्व का ज्ञान होना अस्ति है और अशुद्धता से खिसकना हटना नास्ति है ।

यहां कहते हैं कि इस ज्ञान-वैराग्य की कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन करनेवाला नहीं कहला सकता; क्योंकि विषयसेवन का फल जो भी रंजित परिणाम है, ज्ञानी उस रंजित परिणाम को नहीं भोगता । रागरूप परिणमना विषयसेवन का फल है और ज्ञानी उस राग के रसरूप परिणमता नहीं है । इसकारण भोगों को भोगते हुए भी वह भोगों का भोक्ता नहीं है ।

समयसार गाथा १९७

अथैतदेव दर्शयति–

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ।।१९७।।

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ।।१९७।।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः, तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसंचितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव, मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ।

अब इसी बात को प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं :–

सेता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने ।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहिं हुवे ।।१९७।।

गाथार्थ :– [कश्चित्] कोई तो [सेवमानः अपि] विषयों को सेवन करता हुआ भी [न सेवते] सेवन नहीं करता, और [असेवमानः अपि] कोई सेवन न करता हुआ भी [सेवकः] सेवन करनेवाला है; [कस्य अपि] जैसे किसी पुरुष के [प्रकरणचेष्टा] प्रकरण की चेष्टा (कोई कार्य सम्बन्धी क्रिया) वर्तती है [न च सः प्राकरणः इति भवति] तथापि वह प्राकरणिक नहीं होता ।

टीका:– जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरण की क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त

हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी रागादिभावों के अभाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवन करनेवाला ही है ।

भावार्थ:— जैसे किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा । और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार — खरीदना-बेचना इत्यादि सारा काम-काज करता है तथापि वह सेठ नहीं है; क्योंकि वह उस व्यापार का और उस व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है, वह तो मात्र नौकर है, सेठ के द्वारा कराये गये सब काम-काज को करता है । और जो सेठ है वह व्यापार सम्बन्धी कोई काम-काज नहीं करता, घर ही बैठा रहता है तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का स्वामी होने से वही व्यापारी (सेठ) है । यह दृष्टान्त सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए । जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, इसी-प्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषयसेवन करनेवाला है ।

गाथा १९७ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

"जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से प्राकरणिक नहीं है । और दूसरा पुरुष प्रकरण की क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्म के उदय से प्राप्त हुए विषयों का सेवन करते हुए भी रागादिभावों के अभाव के कारण विषय सेवन के फल का स्वामित्व नहीं होने से असेवक ही है ।"

यहाँ कहते हैं कि जिसप्रकार किसी लड़के की लग्न — शादी के अवसर पर उसके पिता ने अनेक पड़ोसी और रिश्तेदारों को शादी का काम सौंपा हो और वे लोग सौंपे गये काम को बराबर करते भी हों तो भी उन्हें उस काम में अपनत्व या स्वामित्व न होने से उस काम के कर्ता नहीं हैं । वे तो लड़के के पिता के लिहाज में काम कर रहे हैं । तथा लड़के का पिता यद्यपि स्वयं कोई काम नहीं करता तो भी वही उस कार्य का कर्ता कहा जाता है ।

यद्यपि यह बात अज्ञानी के लिए कठिन पड़ती है, परन्तु इसके समझे बिना अन्य कोई उपाय भी तो नहीं है ।

यहां कहते हैं कि जिसे अन्तरंग में निज आनन्दरस का स्वाद आ गया है, उस सम्यग्दृष्टि को विषयों का सेवन होते हुए भी उनमें उसे रुचि नहीं होने से तथा अपने अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष विषयसुख अत्यन्त नीरस होने से वे विषयसुख उसे जहर की तरह लगते हैं। नगर-नारि (वेश्या) के ऊपरी दिखावटी प्रेमप्रसंग की भाँति ही ज्ञानी की विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है, अन्तरात्मा से उसे विषयों से कतई अनुराग नहीं रहा है। धर्मी को विषयसुख में स्वामीपना नहीं होता। स्वामीपना तो उसका एकमात्र अपने चैतन्य के आनंदरस में ही होता है।

देखो, मूल पाठ में ऐसा लिखा है कि "पूर्व-संचित कर्म के उदय से---" इसका अर्थ यह है कि पूर्व में बंधे हुए कर्म के उदय से संयोग मिले हैं तथा उनके सेवन का राग होते हुए भी उसमें रुचि नहीं है। जहाँ अंतरंग में आत्मा के अनुभव का जोरदार परिणमन है, वहाँ विषयानुराग जोरदार नहीं होता। जिसप्रकार मीठे दूधपाक का स्वाद चखने के बाद ज्वार की रोटी फीकी ही लगती है, उसीप्रकार आत्मा के आनन्दरस का स्वाद आने पर ज्ञानी को विषयों का रस नीरस (फीका) ही लगता है।

यद्यपि सातावेदनीय का उदय हो तो ही अनुकूल सामग्री मिलती है, निमित्त की अपेक्षा यह कथन करने में कोई दोष नहीं है; परन्तु भाई! सामग्री तो अपने स्वचतुष्टयरूप उपादान कारण के अनुसार आती हैं तथा कर्मों का उदय उसका निमित्त है। कहीं जड़ कर्मों के कारण सामग्री नहीं मिलती। जड़कर्म के रजकण भिन्न वस्तु हैं और सामग्री के रजकण भिन्न वस्तु हैं। वे तो एक-दूसरे को स्पर्श ही नहीं करतीं।

पुण्य के उदय से लक्ष्मी आती है, यह कथन व्यवहारनय का है, क्योंकि पुण्य के एवं लक्ष्मी के रजकण भिन्न-भिन्न हैं; मात्र दोनों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ताकर्म संबंध नहीं है। वस्तुस्वरूप की तरफ से देखा जाये तो पुण्य का उदय और विषयसामग्री — दोनों अपने-अपने उपादान कारण से स्वतंत्र परिणमन करते हैं।

प्रश्नः—यदि कर्म के उदय से बाह्य संयोग प्राप्त होना नहीं माना जाये तो भगवान के दर्शन से शुभभाव होने की बात भी लोग नहीं मानेंगे ?

उत्तरः— अरे! भगवान के दर्शन से शुभभाव होते हैं — यह कहना भी व्यवहार है। जो भगवान के दर्शन करता है, उसे मंदकषाय होने से स्वतः शुभभाव होते हैं, भगवान थोड़े ही किसी को शुभभाव कराते हैं, वे तो स्वयं वीतराग हैं।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी असेवक है। भाई! ज्ञानी के रागादिभावों का अभाव है। जिसने चिदानन्दरस स्वरूप सच्चिदानन्दमय भगवान आत्मा के आनंद के रस का स्वाद चख लिया है, उस धर्मी जीव को राग के रस की रुचि नहीं है। इसकारण उसको विषयों का स्वाद रूखा एवं बेस्वाद, जहर की भाँति कड़वा लगता है। इसीलिए कहा है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी उनका असेवक है। अज्ञानी जीव अभिप्राय को नहीं समझता। वह यह नहीं जानता है कि यह किस नय का कथन है, इस कारण उसे बात-बात में विरोध प्रतीत होता है। परन्तु भाई! प्रत्येक कथन का शब्दार्थ आगमार्थ, नयार्थ, मतार्थ आदि प्रकार से अर्थ करके उसका रहस्य एवं तात्पर्य निकालना चाहिए।

भगवान आत्मा तीनलोक का नाथ सच्चिदानन्द स्वरूप है। अज्ञानी को राग की रुचि के कारण समझ में नहीं आता। अहाहा! जिसप्रकार जल की अपार राशि से भरा हुआ बड़ा भारी समुद्र भी एक तिनका की आड़ में दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार अज्ञानी जीव को राग की रुचि की आड़ में अपना सच्चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा दिखाई नहीं देता।

अहा! चाहे कोई बड़ा सेठ हो, राजा हो या देव हो यदि उसकी दृष्टि अपने चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को छोड़कर, पूर्वकर्मोदय के निमित्त से प्राप्त वैभव पर है, तो वह मरकर तिर्यंञ्चादि गति में ही जानेवाला है।

परमात्मप्रकाश में आया है कि 'पुण्येण होइ विहवो,' अर्थात् पुण्य के उदय से वैभव मिलता है, वैभव से मद बढ़ता है और मद से मति भ्रष्ट हो जाती है और उससे वह मरकर नरक तिर्यंञ्चादि दुर्गति को ही प्राप्त होता है तथा चार गतियों में रखड़-रखड़कर जन्म-मरण के दुःख भोगता है।

प्रश्न :– जब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करता ही नहीं है, तो फिर वैभव से मद कैसे चढ़ सकता है?

उत्तर :– हाँ, यह तो तुम ठीक कहते हो; परन्तु जब जीव स्वयं अपने उपादान से अपने में मद करता है बाह्य में अहंकार करता है, तब बाह्य वैभव का लक्ष्य करके ही करता है– इसकारण व्यवहार से यह कहा जाता है कि वैभव से मद होता है। वैभव मद नहीं कराता, वैभव से मद होता है – यह तो केवल निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार से कहा जाता है। यदि वैभव मद कराता हो तो वैभव सम्पन्न सम्यग्दृष्टियों

को भी मदवाला होना चाहिए, जबकि उनके ये मद नहीं होते। भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के वैभव के स्वामी थे, परन्तु उनको उस वैभव में किंचित् भी अहंकार नहीं था। सम्यग्दृष्टि तो ऐसा जानते हैं कि जहाँ मैं हूँ वहाँ राग, शरीर अथवा वाह्य विषयों का अभाव है तथा जहाँ राग, शरीर या वाह्य विषय हैं, वहाँ मेरा अभाव है।

देखो, ज्ञानी को किंचित् राग होता है, परन्तु उसका ज्ञानी के स्वामीपना नहीं है; इसलिए वह विषयों का सेवन करते हुए भी उनका असेवक है। ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मा का अनुभव होने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द का वैभव प्रगट हुआ, उसके सामने धर्मी जीव को वाह्य विषय अत्यन्त रसहीन लगने लगते हैं। समकिती जीवों को इन्द्र के इन्द्रासन में अथवा करोड़ों अप्सराओं के बीच में कहीं भी आनन्द नहीं आता। आत्मा के अनाकुल आनन्द के समक्ष आकुलता उत्पादक भोग और भोगसामग्री सभी विषय के रस उसे बेस्वाद लगते हैं। कदाचित् राग की वृत्ति भी हो जावे, तो भी वह विषयों को काले नाग के समान जानता है।

अब कहते हैं कि तथा मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करते हुए भी रागादिभावों के सद्भाव के कारण विषय सेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवक ही है।

अज्ञानी भले ही विषयसामग्री का सेवन नहीं करता हो, तथापि उसे अंतरंग में राग के सद्भाव से विषय की रुचि विद्यमान है। उसके विषयसेवन का अभिप्राय मिटा नहीं है; इसकारण अज्ञानी भोगों का असेवक होते हुए भी सेवक है। ज्ञानी सेवता हुआ भी असेवक है तथा अज्ञानी असेवते हुए भी सेवक है।

अहो! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का धर्म अद्भुत अलौकिक है। यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। अरे! दिगम्बर जैन मतानुयायियों को भी जब इस यथार्थ बात की खबर नहीं है, तो अन्य की तो बात ही क्या है? पर भाई! यह कुन्दकुन्दाचार्य की गाथाएँ हैं तथा इनकी टीका महान समर्थ आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने की है। उन्होंने पाँचवीं गाथा में भी कहा है कि अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान के वैभव का हमारी पर्याय में जन्म हुआ है। यह पाँच-पचास लाख रुपया तो जड़ का — धूल का वैभव है, वह कहीं आत्मा का निजवैभव नहीं है। मुनिराज कहते हैं कि जिसतरह पर्वतीय झरनों से जल झरता है, उसीतरह आत्मा में से अतीन्द्रिय आनन्द

झरता है। वही हमारा निजवैभव है। हमारा निजवैभव अतीन्द्रिय आनन्द की मुद्रा वाला है।

यद्यपि अन्य मतों में भी वैराग्य की बातें आती हैं, परन्तु वहाँ अन्तर्दृष्टि नहीं है। केवल बाह्य सांसारिक असारता व क्षणभंगुरता देखकर क्षणिक श्मसानिया वैराग्य आता है, वह वास्तविक वैराग्य नहीं है; क्योंकि एक गृहस्थी से चित्त हटाकर अन्य नाना प्रकार के राग में रुचि लेने लगते हैं। प्रकारान्तर से वे राग की ही पुष्टि करते हैं, भले ही वह राग मंद हो। तीव्र राग से मंद राग रूप मनस्थिति का होना वास्तविक वैराग्य नहीं है। जिसमें चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान हो तथा अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, वह दशा ही सच्ची अन्तर वैराग्य की दशा है तथा उसके बल से ही यहाँ ज्ञानी को विषयों का सेवन करते हुए भी उनका असेवक कहा है।

जिसप्रकार नाटक में पुरुष स्त्री का वेष धरकर आता है, तो देखनेवाले तो यही समझते हैं कि यह स्त्री है; पर वह पुरुष तो स्वयं यही मानता है कि मैं स्त्री के वेष में पुरुष ही हूँ, वेष धरने से मैं स्त्री नहीं हो गया। ठीक इसीप्रकार धर्मी जीव का शरीरादि वेष चाहे जैसा भी हो, परन्तु वह मानता तो यही है कि मैं आत्मा हूँ। मैं जहाँ रमता हूँ वहाँ विषयों का प्रवेश ही नहीं है। इसप्रकार विषयसेवन के फल के स्वामित्व से रहित ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी असेवक है। बापू! धर्म कोई अलौकिक वस्तु है। दया-दान-भक्ति करके ऐसा माने कि यही धर्म है, तो भाई! इसमें कुछ भी धर्म नहीं हुआ; क्योंकि यह सब तो शुभराग है, इससे पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं होता। धर्म तो रागरहित वीतरागपरिणति का नाम है। राग से धर्म मानना तो मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ भगवान आत्मा के आनन्द का भान हुआ, वहाँ सम्पूर्ण दुनियाँ के प्रति अशुद्धता का त्याग हो जाता है, अभिप्राय में से समस्त शुभाशुभ भावों का त्याग हो जाता है; वही सच्चा वैराग्य है। ऐसा ज्ञान और वैराग्य जिसे प्रगट हुआ, वह विषयों का सेवक होते हुए भी असेवक है।

गाथा १९७ के भावार्थ पर प्रवचन

जैसे किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार खरीदने-बेचने का काम-काज करता है, तथापि वह सेठ नहीं है; क्योंकि वह उस व्यापार का और उस

व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है । वह तो मात्र नौकर है, सेठ के द्वारा कराये गये सब काम-काज करता है । और जो सेठ है वह व्यापार सम्बन्धी कोई काम-काज नहीं करता, घर ही बैठा रहता है, तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का स्वामी होने से वह सेठ है । यह दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है । और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला हैं, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है ।"

देखो, दुकान का सब काम-काज नौकर करता है, तो भी वह व्यापारी (सेठ) नहीं है, क्योंकि वह नफा-नुकशान का स्वामी नहीं है । बस, इसीकारण वह वस्तुतः व्यापारिक कार्य का कर्ता नहीं है ।

अहाहा---! शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अन्तर्मुख होकर अनुभव करने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है तथा वह ऐसा अनुभव करता है कि मैं आनन्दस्वरूप पूर्ण परमात्मा हूँ – ऐसी प्रतीति होना ही सम्यग्दर्शन है ।

भावपाहुड की ८३वीं गाथा में आता है कि पूजा, वन्दन, वैयावृत्त तथा व्रतादि जैनधर्म नहीं है; ये पुण्य परिणाम है । वहाँ शिष्य ने पूछा कि प्रभु ! धर्म का स्वरूप क्या है? उसके उत्तर में उक्त गाथा में कहा है कि "जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि पूजा-आदिक में और व्रतसहित होना तो पुण्य है तथा मोहक्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है ।"

इसी गाथा के भावार्थ में यह कहा है कि "लौकिकजन तथा कई अन्यमती कहते हैं कि पूजा-आदिक शुभक्रियाओं में, व्रतादि क्रियाओं में धर्म है । यदि यही जिनधर्म में भी कहा जाय तो अन्य धर्म से जिनधर्म में क्या विशेषता या अन्तर है । परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । जिनमत में पूजादि कर्म और व्रतादि सहित होना तो पुण्य है तथा इसका फल स्वर्गादिक के भोगों की प्राप्ति है । वहाँ भावार्थ के अन्त में स्पष्ट किया है कि "जो केवल शुभपरिणाम को ही धर्म मानकर संतुष्ट हैं, उनको धर्म की प्राप्ति नहीं है – यह जिनमत का उपदेश है ।"

ज्ञानी के अशुभ से बचने के लिए शुभभाव होते हैं, परन्तु वह पुण्य ही है, धर्म नहीं है । यह सुनकर अज्ञानी चिल्लाने लगते हैं कि तुम हमारे व्रतादि का लोप कर दोगे; परन्तु भाई! अज्ञानी के व्रत हैं ही कहाँ?

किनका लोप करेंगे? जब बाँझ के बच्चा ही नहीं है तो उसके मरने की चिन्ता कैसी? कदाचित् राग की मन्दता होती है, सो वह भी मिथ्यात्व सहित ही है ।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जिसे अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप चैतन्य महाप्रभु भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है, उस समकिती को किसी प्रकार के राग में मिठास नहीं आती । उसके सभी प्रकार के राग में रुचि नहीं रही है ।

अहाहा---! जिसप्रकार नौकर व्यापारी (सेठ) नहीं है, उसीतरह सम्यग्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है । तथा जिसप्रकार सेठ व्यापार करनेवाला है, उसीतरह मिथ्यादृष्टि विषयसेवन करनेवाला है । भाई! आत्मा का स्वभाव भी वीतरागस्वरूप है तथा जैनधर्म भी वीतरागस्वरूप है । जहाँ-जहाँ भी शास्त्रों में कर्तव्य की बातें कही गई हैं, वे सब वीतरागता की ही पुष्टि के रूप में ही कही गई हैं, राग की पुष्टि हेतु नहीं । राग की चर्चा भी जहाँ आई है, वह भी ज्ञानी के प्रगट होती हुई एवं वृद्धिंगत होती हुई वीतरागता के साथ सहकारी रूप में कैसा राग होता है, उसका कथन किया है, वह कथन भी राग की पुष्टि के लिए नहीं है; परन्तु क्रमशः होते हुए राग के अभाव के पोषण करने के लिए ही है। इसीलिए यहाँ कहा है कि सम्यग्दृष्टि विषय का सेवन करनेवाला नहीं है क्योंकि उसे विषयों में रस नहीं है, राग में आत्मबुद्धि नहीं है ।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि जो राग को अपना मानकर सेवन करता है, उसकी दृष्टि में राग उपादेयरूप से वर्तता है तथा जिसे आत्मा उपादेयरूप से वर्तता है, उसे राग हेयरूप वर्तता है ।

प्रवचनसार की गाथा २३६ में आता हैं कि काया और कषाय को जो अपना मानता है, वह बाह्य से छहकाय की हिंसा ना भी करता हो तो भी छहकाय के जीवों की हिंसा का करनेवाला ही है, उसीप्रकार अज्ञानी बाह्य में विषयसेवन न करता हो तो भी काया व कषाय का सेवन करनेवाला ही है ।

कलश १३६

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः ।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ॥
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थः—[सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः भवति] सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; [यस्मात्] क्योंकि [अयं] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या] स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा [स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्] अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये, [इदं स्वं च परं] यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' [व्यतिकरम्] इस भेद को [तत्त्वतः] परमार्थ से [ज्ञात्वा] जानकर [स्वस्मिन् आस्ते] स्व में स्थिर होता है और [परात् रागयोगात्] पर से — राग के योग से [सर्वतः] सर्वतः [विरमति] विरमता (रुकता) है । (यह रीति ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती ।) ॥१३६॥

कलश १३६ पर प्रवचन

"सम्यग्दृष्टेः भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य शक्तिः" अर्थात् सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान-वैराग्य की शक्ति होती है ।

जिसे सम्यक् अर्थात् सत् की दृष्टि हुई है, वह सम्यग्दृष्टि है । जिसको अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की दृष्टि और अनुभव हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है । अहाहा---! जिसे अपने त्रिकाली सत् भगवान आत्मा का आदर-सत्कार और स्वीकृति हुई है, जिसे निजस्वरूप की अंतरंग में महिमा होने से स्वरूप के प्रति झुकाव हुआ है; उस सम्यग्दृष्टि को ज्ञान व वैराग्य — दोनों ही शक्तियाँ

हैं, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि जीव स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा अपने वस्तस्वरूप का अभ्यास करने के लिए 'यह स्व है तथा यह पर है' — परमार्थ से ऐसा भेद जानकर स्व में लीन रहता है और रागादि परभावों से विरक्त रहता है।

यदि सर्वप्रथम कुछ करने लायक है तो एक मात्र यही करने योग्य है कि स्वरूप का ग्रहण करे और पर का त्याग करे। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने संक्षेप में इस बात को इसप्रकार कहा है —

तेरा दोष ही तुझे बन्धन स्वरूप है, तेरा दोष मात्र अन्य को अपना मानना तथा अपने को भूलने का ही है। अपने स्वरूप को भूलकर पर को अपना मानना — यह महा अपराध है और यह स्वयं का ही अपराध है, किसी कर्म आदि का नहीं। कर्म तो निमित्त मात्र है।

संवर अधिकार में तो यह स्पष्ट कहा है कि—

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।"

अर्थात् आजतक जितने जीवों ने भी मुक्तिपद प्राप्त किया है, उन सबने भेदविज्ञान द्वारा पर से व राग से भिन्न निजस्वरूप को जानकर व उसी में जमकर ही प्राप्त किया है। तथा जितने बन्धन में पड़े हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही बंधे हैं, कर्म के कारण नहीं।

भेदविज्ञान से मुक्ति प्राप्त करने का अर्थ यह है कि—निजस्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि द्वारा सम्यग्दृष्टि स्वरूप में स्थिर होता है और पर के राग का त्याग करता है। देखो ! पूर्णानन्दस्वरूप का ग्रहण और दुःखरूप राग का या अशुद्धता का त्याग ही वास्तविक भेदविज्ञान है। केवल बाह्य वस्तु के त्याग से त्यागी नहीं बनते। राग से भिन्न हो स्वरूप की शुद्धता का आदर करने से ही पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है तथा अशुद्धता का अभाव होता है।

कुछ अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि कर्म से विकार होता है, परन्तु इसका अर्थ तो यह होगा कि शुभभाव भी कर्म के ही कारण होगा। तथा वे यह भी कहते हैं कि शुभभाव से शुद्धता प्रगट होती है। इसप्रकार तो उसके मत से धर्म भी कर्म के कारण ही प्रगट होगा जो कि सर्वथा असंभव है।

प्रश्न :— जैनधर्म के अनुसार भी तो सभी कार्य कर्म के कारण ही होते हैं ?

उत्तर :– नहीं भाई, ऐसा नहीं है । सब कर्मों के कारण से नहीं होता । कर्मों के कारण होनेवाली मान्यता जैनधर्म की नहीं है । हाँ, कर्म का अर्थ यदि कार्य करें तो शुद्धोपयोगरूप कार्य से धर्म प्रगट होता है – ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है । परन्तु जड़कर्मों से या पर से आत्मा में शुभभाव या धर्म प्रगट नहीं होता, क्योंकि आत्मा में अनादि से अकार्यकारणत्व नामक गुण पड़ा है । इससे आत्मा राग का कार्य भी नहीं है और कारण भी नहीं है ।

जिसप्रकार हलुवा (सीरा) बनाने की विधि यह है कि पहले आटा घी में सेंके, पश्चात् उसमें शक्कर का पानी डाले, तब हलुवा बनता है; उसीप्रकार स्वरूप के ग्रहण व पर के त्याग की विधि अपनाने से ही धर्म प्रगट होता है ।

प्रश्नः– जहाँ योग्य निमित्त मिलते हैं, वहाँ तो निमित्त से कार्य होना मानना चाहिए न? सभी निमित्तों का सर्वथा निषेध करना तो ठीक नहीं है ।

उत्तरः– अरे भाई! तुम यह क्या कह रहे हो? निमित्त तो पर जड़ तत्त्व है तथा पुण्य का परिणाम तो चैतन्य आत्मा का विकारी परिणाम है । वास्तव में तो वह विकारी परिणाम भी अपने स्वतंत्र षट्कारकरूप परिणमन से हुआ है । उसका अपना स्वतंत्र जन्मकाल है, जिससे वह उत्पन्न होता है । भाई! उस विकारी पर्याय का अपने षट्कारकरूप से परिणमना उस पर्याय का तात्कालिक धर्म या स्वभाव है । वह कहीं निमित्त या कर्म के कारण नहीं होता । कर्म तो अजीवद्रव्य है । जब पूरी वस्तु ही भिन्न है तो फिर सर्वथा भिन्न वस्तु से भी क्या कोई अन्य वस्तु में कार्य होना संभव है? नहीं, कदापि नहीं ।

देखो, यहाँ यही तो स्पष्ट किया जा रहा है कि "स्वरूप के ग्रहण व पर के त्याग करने की विधि द्वारा अपने स्वरूप का अभ्यास करने के लिए ...." अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का बारम्बार अनुभव करने के लिए ज्ञानी परमार्थ से स्व-पर का भेद जानकर 'स्व' में स्थिर होने व पर से विराम पाने का प्रयत्न करता है अर्थात् ज्ञानी राग से हटने व स्व में बसने को प्रयत्नशील रहता है ।

भाई! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि जहाँ स्व का ग्रहण होता है, वहाँ रागादिभावों का व पर का त्याग सहज ही होता जाता है । अज्ञानी के व्रतादि को तो वस्तुतः व्यवहारधर्म भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसके

यथार्थ व्यवहार होता ही कहाँ है? यथार्थ व्यवहार भी स्वरूप के अनुभव करनेवाले ज्ञानी के ही होता है । ज्ञानी के जो भूमिकानुसार व्रतादि पालन करने का शुभराग होता है, उसे व्यवहार कहते हैं । अज्ञानी उस शुभ क्रिया या शुभराग को ही धर्म मान लेता है तथा उसके आत्मा के आश्रय से जो वीतराग परिणति रूप धर्म प्रगट हुआ है, उसे जानता नहीं है ।

प्रश्न:– मोक्षमार्ग प्रकाशक में ऐसा आता है कि जबतक मोहकर्म का तीव्र उदय रहता है, तबतक जीव ऐसे धर्म का स्वरूप नहीं समझ सकता । वह कथन ठीक है न?

उत्तर:– हाँ, कथन तो ठीक ही है, पर उसके कहने का अभिप्राय (तात्पर्य) क्या है? – इस पर भी कभी विचार किया है? अरे भाई! उसका अर्थ तो यह है कि जबतक जीव के तीव्रकषाय का परिणाम होता है, तबतक तो उसे धर्मोपदेश सुनने की भी लायकात नहीं होती, तबतक धर्म प्राप्त करने की तो बात ही कहाँ है? तथा जब मंदकषाय होती है, तब पुरुषार्थ करे तो धर्म प्राप्ति का सु-अवसर अवश्य मिल सकता है । कर्मोदय की बात तो केवल निमित्त का ज्ञान कराने के व्यवहार से कही जाती है । वस्तुतः कर्म साधक-बाधक नहीं होते ।

इसी ग्रन्थ की १३वीं गाथा में जो ये दो बोल आये हैं कि 'आस्रव होने योग्य व आस्रव कराने वाला – दोनों आस्रव हैं, वहाँ पुण्य-पाप के भावरूप होने योग्य तो अपनी स्वयं की पर्याय है तथा उसमें आस्रव करनेवाला द्रव्यास्रव रूप कर्म का निमित्त है । आस्रव होने योग्य अपनी पर्याय तो अपने अशुद्ध उपादान से हुई है और इसमें द्रव्यास्रव कर्म निमित्त मात्र है । वहाँ ऐसा नहीं है कि कर्म का उदय हुआ, इसकारण पर्याय में आस्रव हुआ है । द्रव्यास्रव तो केवल जीव के आस्रवभाव में निमित्तमात्र है, भावास्रव करानेवाला नहीं ।

यद्यपि शास्त्रों में ऐसा लिखा मिलता है कि शुभभाव आदि भावास्रव कर्म के उदय से होते हैं, किन्तु वह कथन तो निमित्त की मुख्यता से निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया गया कथन है । वह कथन यह बताता है कि जिस जीव को ऐसा भाव हुआ है, उस समय उसके अंतरंग निमित्त रूप में किसप्रकार का कर्मोदय था । वह शुभाशुभ भाव तो जीव की अपनी उस भावरूप होने की तत्समय की योग्यता से होते हैं । उस समय पर्याय की वैसी होने की स्वयं की ही योग्यता होती है। उस समय उस भाव के षट्कारक रूप होना उसी पर्याय का स्वयं का

स्वकाल है। ज्ञानी के वह सब हेयरूप से वर्तती हैं।

यहाँ कहा है न कि स्वरूप का ग्रहण व पर का त्याग करने की विधि से ज्ञानी स्व-पर को भिन्न जानकर स्व में रमते हैं एवं पर से विरक्त रहते हैं। अहा! अस्ति से स्व को ग्रहण करना व नास्ति से राग का अभाव करना, राग की उपेक्षा करके उसके अभावरूप वर्तना ही भेदज्ञान की विधि है।

भावपाहुड़ में आया है कि हे जीव! निजभावना भाओ। निज भावना कहो या सम्यग्दर्शन की भावना कहो या वीतरागपने की भावना कहो – सब एक ही बात है। इसके बिना अनन्तवार द्रव्यलिंग धारण किया, परन्तु भाई! भावलिंग बिना द्रव्यलिंग यथार्थ नहीं हो सकता। जिसे भावलिंग अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो गया है, उसे द्रव्यलिंग – पंचमहाव्रतादि का विकल्प और नग्नता आदि तो होते ही हैं। ऐसे अंतरंग परिणामों के साथ बाह्य की व्याप्ति है, किन्तु यदि भावलिंग बिना ही बाहर में द्रव्यलिंग धारण कर लिया हो तो वह व्यवहार से भी वास्तविक द्रव्यलिंग नहीं है।

भगवान आत्मा सदा ही शुद्ध चिदानंदघन स्वरूप है। उस शुद्ध स्वरूप में उपादेयबुद्धि तथा राग में त्यागबुद्धि से अपने वस्तुत्व का अभ्यास करना। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी रागादि पर से भेदज्ञान करके अन्तर में ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान ज्ञायक का अनुभव करके स्व में रमते हैं तथा पर से विरक्त रहते हैं। पर यह सब ज्ञान-वैराग्य की शक्ति बिना संभव नहीं है। ज्ञान-वैराग्य की कोई ऐसी अचिन्त्य शक्ति है, जिससे ज्ञानी स्व में रहता है और राग से निवृत्त हो जाता है।

समयसार गाथा १९८

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को ।।१९८।।

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ।।१९८।।

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एषः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम् ।

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्यतया स्व को और पर इसप्रकार जानता है:—

कर्मों हि के जु अनेक उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ।।१९८।।

गाथार्थः—[कर्मणा] कर्मों के [उदयविपाकः] उदय का विपाक (फल) [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [विविधः] अनेकप्रकार का [वर्णितः] कहा है [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे स्वभाव [न तु] नहीं हैं; [अहम् तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ।

टीकाः— जो कर्मोदय विपाक से उत्पन्न हुए अनेकप्रकार के भाव हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

भावार्थः— इसप्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावों को सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और अपने को एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है।

यहाँ कर्मजन्यभाव का अर्थ है पुण्य व पाप के भाव। ये भाव आत्मा के स्वभाव नहीं है, इसकारण इन्हें कर्मजन्यभाव कहा है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ये कर्मों से हुए हैं, कर्मोदय तो निमित्त मात्र है। जो पुण्य-पाप के भावरूप आत्मा में यह विकार उत्पन्न होता है, वह अपने-अपने स्वतंत्र षट्कारकों के परिणमन से होता है; परन्तु यहाँ ये भाव आत्मजन्य नहीं हैं, इस कारण इन्हें कर्मजन्य कहा जाता है ।

पंचास्तिकाय ग्रंथ की ६२वीं गाथा में जहाँ अस्तिकाय की सिद्धि की है, वहाँ कहा है कि विकार मिथ्यात्व, राग-द्वेष, विषय-वासना के भाव अपनी-अपनी पर्याय के षट्कारकों का स्वतंत्र परिणाम है, उन्हें परकारकों की तो अपेक्षा है ही नहीं, अपने स्वद्रव्य व गुणों की भी अपेक्षा नहीं है । पर्याय में विकार का ऐसा स्वंतत्र अस्तित्व है, जहाँ ऐसा अस्तिकायपना सिद्ध करना हो और स्वभाव का आलबंन कराना हो तो पर्याय का निषेध करके कहा जाता है कि वे रागादिभाव मेरे स्वभाव नहीं है । वे पर के निमित्त से हुए हैं, इस कारण पर के हैं, कर्मजन्य हैं ।

गाथा १९८ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

"जो कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए अनेकप्रकार के भाव हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं है । मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ ।"

देखो, जो भाव स्वभाव से उत्पन्न न होकर कर्मोपाधिनिमित्तक होता है, उसे द्रव्यकर्म के विपाक से हुआ है – ऐसा कहा जाता है । वस्तुतः तो वह कर्म के निमित्त से होनेवाला भाव भी अपने में अपने ही स्वचतुष्टय से उत्पन्न हुआ है, द्रव्यकर्म के कारण नहीं हुआ ।

जब जीव स्वयं विकारभाव से परिणमित होता है, तब उस भाव को अंतरंग निमित्त की अपेक्षा कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ कहा जाता है । यह तो पहले भी आ गया है कि कर्म का उदय आने पर भी जब जीव विकाररूप से परिणमित नहीं होता तो वह कर्म का उदय बिना फल दिए भी खिर जाता है । जिसतरह ज्ञानी के उदय खिर जाता है, अज्ञानी के भी उसीतरह उदय में आया द्रव्यकर्म खिर जाता है; किंतु अज्ञानी उदय के काल में राग का स्वामी बनकर राग करता है; इसकारण उसे नवीन कर्मबंध के साथ उदय खिरता है और ज्ञानी के नवीन कर्मबंध हुए बिना ही पुराना कर्म उदय में आकर खिर जाता है

यहाँ यही बात कही जा रही है कि कर्म के उदय के विपाक से

उत्पन्न हुये अनेक प्रकार के भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है । देखो, कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है; परंतु निमित्त के समय जीव स्वयं उस भावरूप परिणमा है, इसलिए उदय के विपाक से भाव उत्पन्न हुआ है । – ऐसा कहा है ।

'निमित्त से हुए' – ऐसा जो कहा जाता है, शास्त्रों में भी ऐसे कथन मिलते हैं कि मोहनीयादि कर्मों के निमित्त से रागादिभाव होते हैं । उन सबका यह अर्थ है कि निमित्तों पर लक्ष्य करने से या स्वयं निमित्तों के अधीन होकर परिणमन करने से जो परिणति होती है, उसे निमित्त से हुआ है – ऐसा कहा जाता है । वस्तुतः तो वह पर्याय स्वयं अपनी योग्यता से होती है, ऐसा होते हुए भी वह नैमित्तिक परिणमन उस वस्तु का स्वभाव नहीं है ।

अहाहा......! अपनी त्रिकाली आत्मवस्तु तो एक आनंदस्वभावी निधान है । उसे जाननेवाले या उसका अनुभव करनेवाले धर्मी जीव को कर्म के निमित्त में जुड़ने पर या उसके वश होने पर जो विकार होता है; वह कर्म का पाक है, आत्मा का पाक नहीं । दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा आदि अनेक प्रकार के जो विकारीभाव होते हैं, वे मेरे भाव नहीं है, क्योंकि मैं तो प्रत्यक्ष अनुभव गोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ । ऐसा ज्ञानी जानता है । मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हूँ अर्थात् मेरी वर्तमान ज्ञानपर्याय पर की अपेक्षा बिना जिसको प्रत्यक्ष अनुभव करती है. वह मैं हूँ ।

अहाहा......! जो मेरे प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, वह मैं हूँ । प्रवचनसार के अलिंगग्रहण के छठे बोल में आता है कि 'मैं अपने स्वभाव से जानने में आनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ ।'

यहाँ टीका में जो 'मैं तो यह' में 'यह' शब्द पड़ा है, उसका अर्थ है कि मैं प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हूँ । स्वसंवेदन में प्रयत्क्ष ज्ञात होनेवाला हूँ ।

समयसार गाथा १९९

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं जानाति –

पोग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमेक्को।।१९९।।

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।
न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः।।१९९।।

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व-पर को इसप्रकार जानता है:–

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९९।।

गाथार्थ:– [**रागः**] राग [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म है, [**तस्य**] उसका [**विपाकोदयः**] विपाकरूप उदय [**एषः भवति**] यह है, [**एषः**] यह [**मम भावः**] मेरा भाव [**न तु**] नहीं है; [**अहम्**] मैं तो [**खलु**] निश्चय से [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभाव हूँ।

टीका:– वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है, उसके उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। (इसप्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।)

इसीप्रकार 'राग' पद को बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन – ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना और इसी उपदेश से दूसरे भी विचारना ।

गाथा १९९ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो! विकार जो होता है, वह अपने उल्टे पुरुषार्थ से एवं निमित्त के आश्रय से होता है, स्वभाव के आश्रय से नहीं होता तथा स्वभाव बंध-स्वरूप भी नहीं है; इसकारण निमित्त के आश्रय से हुआ विकार निमित्त का कहा जाता है।

अहाहा! वस्तुतः राग अपनी कमजोरी के कारण ही होता है तथा अपनी पर्याय में अपने षट्कारक के परिणमन से ही होता है; परन्तु यह निर्जरा अधिकार का प्रकरण है न! अतः यहाँ दृष्टि की अपेक्षा कथन करते हुए यह कहा है कि दृष्टि व दृष्टि के विषय में राग नहीं है और राग से आत्मा ज्ञात नहीं होता । इसकारण राग को कर्मजन्य कहकर 'पर' कहा है और उसे स्वरूप से भिन्न बतलाकर उससे भेदज्ञान कराया है । इसीकारण यह कहा है कि राग आत्मा का स्वभाव नहीं है– शुद्धचैतन्य का भाव नहीं है ।

ज्ञानी ऐसा जानता है कि मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। प्रत्यक्ष अनुभवगोचर स्वसंवेदन में ज्ञात होनेवाला त्रिकाल शाश्वत चैतन्यमात्र आत्मा हूँ। मैं इन रागादिभावस्वरूप नहीं हूँ। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा विशेष रूप से स्व को व पर को भिन्न-भिन्न जानता है।

देखो, यदि किसी स्वच्छन्दी को ऐसा लगे कि राग तो कर्मजन्य है, इसलिए राग हो तो भले हो, उससे मुझे क्या हानि? उसके के लिए पहले ही यह कह आये हैं कि भाई! राग-द्वेष, विषय-वासना आदि तेरी पर्याय में तेरे से ही होते हैं और वह तेरा ही अपराध है । इसमें कर्म का कोई दोष नहीं है । तथा जो रागादि को अपना स्वभाव मानकर राग में ही सन्तुष्ट रहते हैं, स्वरूप में जाने का पुरुषार्थ ही नहीं करते, उनसे कहते हैं कि राग तेरा स्वभाव नहीं है, किन्तु वह पर के निमित्त से हुआ परभाव होने से पुद्गलजन्य भाव है ।

स्वरूप में उद्यमवन्त ज्ञानी राग को कर्मजन्य पुद्गलजन्य भाव जानता है, क्योंकि वह स्वभाव नहीं है। गाथा ७५-७६ में भी यही कहा

है कि पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होने से पुद्गल परिणाम का अथवा रागादिभावों का कर्ता है। तथा पुद्गल परिणाम अथवा रागादिभाव उनका व्याप्य होने से कर्म है। इसप्रकार राग को कर्मजन्य कहकर उसका स्वभाव व स्वभाव की दृष्टि में निषेध किया है और स्वरूप का आलम्वन कराया है।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने इसी बात का अति सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने लिखा है कि "श्रीगुरु रागादि छुड़ाना चाहते हैं; तथा जो रागादि को पर का मानकर स्वच्छन्दी बनकर निरुद्यमी होते हैं, उन्हें तो उपादानकारण की मुख्यता से 'रागादि आत्मा के हैं' ऐसा श्रद्धान कराया है और जो रागादि को अपना स्वभाव मानकर उसके नाश का उद्यम ही नहीं करते, उन्हें निमित्तकारण की मुख्यता से 'रागादि परभाव हैं' – ऐसा श्रद्धान कराया है।"

यहाँ कहते हैं कि वस्तुतः राग नामक जो पुद्गलकर्म है, उसके उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ रागरूप भाव है। गाथा ७५ में भी यही कहा है – अंतरंग में जो राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भाव होते है, वे पुद्गल परिणाम पुद्गल के कार्य हैं। रागादि को कोई जीव का स्वरूप न समझ ले – यह कथन इस अपेक्षा से किया गया है। यह रागादिभाव स्वभाव से भिन्न हैं, इसलिए भी उन्हें पुद्गलजन्य परिणाम कहा गया है। जबकि वास्तविक पर्याय का परिणाम जीव से जीव का जीव में है। इसप्रकार दोनों ही तरह से शास्त्रों में कथन आता है। उन्हें अपनी-अपनी अपेक्षा से समझ लेना चाहिए।

यह निर्जरा अधिकार है, अतः यहाँ अधिकतर स्वभाव की मुख्यता से ही बात की जाती है। कहते हैं कि जीव की दृष्टि त्रिकाली चैतन्य स्वभाव मात्र निजवस्तु पर होती है। इसकारण उस स्वभाव-दृष्टिवंत को जो रागादिभाव होते है, उनका स्वामित्व नहीं होने से उनकी निर्जरा हो जाती है, वे खिर जाते हैं। वैसे भी ज्ञानी के तो निर्जरा ही विशेष होती है; क्योंकि वह रागादिभाव का स्वामी नहीं होने से उनको पुद्गल के कार्य के रूप में ही जानता-मानता है और स्वभाव के आश्रय से रागादिभावों से निवृत्त हो जाता है।

प्रश्नः– 'निमित्त से विकार होता है' – ऐसा जो शास्त्र में आता है, प्रवचनों में भी आता है, इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तरः– इसका अर्थ केवल यह है कि निमित्त के लक्ष्य से अपने से अपने में विकार होता है। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में तो स्पष्ट

कहा है कि जो राग-द्वेष-मोह के विकारीभाव होते हैं, वह एक समय की पर्याय में अपने षट्कारकों का स्वतंत्र परिणमन है । वहाँ पंचास्तिकाय में यह सिद्ध किया है कि राग की अवस्था जीव की पर्याय की सत्ता में जीव के कारण होती है । अपनी पर्याय में हुआ राग अपना है – ऐसा वहाँ कहा गया है । तथा जिसप्रकार राग की पर्याय निर्पेक्ष है, उसीप्रकार वीतरागी पर्याय भी निरपेक्ष है । निर्मल सम्यग्दर्शन की पर्याय भी अपने षट्कारक से – स्वयं से परिणमी है । वह कर्म के अभाव के कारण नहीं हुई है तथा द्रव्य व गुण के कारण से भी नहीं हुई है ।

पर्याय राग की हो या वीतराग की हो – दोनों ही पूर्ण निर्पेक्ष हैं; परन्तु राग स्वभाव में नहीं है और स्वभाव का कार्य भी नहीं है । इससे पुद्गल के लक्ष्य से हुआ राग पुद्गल का कार्य है – ऐसा कहकर उसका त्याग कराते हैं ।

देखो, यहाँ और ७५वीं गाथा में राग को पुद्गल परिणाम कहा है, इस कथन से यदि कोई ऐसा माने कि राग कर्म के कारण होता है तो उसकी वह मान्यता मिथ्या है । भाई! पुद्गल द्रव्य तो जड़-परद्रव्य है, उससे जीव में विकार कैसे हो सकता है? परन्तु जड़ के निमित्त से हुआ राग स्वभाव में नहीं है, इसलिए स्वभाव दृष्टिवन्त पुरुष उसे पुद्गल का कार्य जानकर पृथक् कर देते हैं, छोड़ देते हैं; धर्मी की दृष्टि निरन्तर स्वभाव पर रहती है । स्वभाव में व स्वभाव की दृष्टि में राग – विकार नहीं है । इससें स्वभाव दृष्टिवंत पुरुष राग को अपने से पृथक् जानकर उसे पुद्गल का कार्य मानकर छोड़ देंते हैं ; परन्तु अज्ञानी को स्त्री-पुत्रों को सँम्हालने एवं धनादि कमाने आदि पाप की प्रवृत्ति में फँसे रहने से यह सब विचार करने की फुरसत कहाँ है? कदाचित् परिस्थितिवश अवसर मिल भी जाय तो जिनवाणी के नयविभाग के न समझने से, जिनवाणी में कहाँ किस अपेक्षा से कथन किया है, उस अभिप्राय को नहीं समझ पाता और कहीं न कहीं उलझ जाता है । इससे यथार्थ बात समझ में नहीं आ पाती । परन्तु भाई! इससे क्या? यदि आत्मकल्याण करना है तो मोक्षमार्ग तो जैसा है वैसा ही समझना पड़ेगा ।

यहाँ यह कहा गया है कि पर्याय में जो विकार होता है, वह चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है । त्रिकाली वस्तु जो सच्चिनन्दानंदमय, अनाकुल, आनन्दस्वरूप, अकषायस्वरूप भगवान आत्मा है, उसमें राग नहीं है । इसकारण राग को पुद्गल का कार्य मानकर उस पर से दृष्टि छुड़ाई है और स्वभाव की दृष्टि कराई है ।

देखो, जड़ पुद्गल कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ रागरूप भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है – यह बताने के लिए ऐसा कहा है। वास्तव में एक समय की विकृत अवस्था स्वभाव कैसे हो सकती है? पर क्या करें? किसी को समझ में आवे या न आवे, या अपनी नासमझ से उल्टा समझ जाये, तो कोई क्या कर सकता है। स्वभाव से तो सभी भगवान आत्मा हैं। अतः किसी से भी विरोधभाव रखना उचित नहीं है।

भाई! पापभाव तो राग है ही, पुण्यभाव – शुभभाव भी राग है, ज्ञानी पुरुष उन्हें हेय मानकर आत्मा के आश्रय से छोड़ने की भावना रखते हैं।

यदि कोई स्वयं तो कर्ता बनकर राग करे और उसे अपना दोष न मानकर कर्म के सिर मड़ने की कोशिश करे तो यह उचित नहीं है। वह तो उसी का दोष है। अरे भाई! कर्म तो आत्मा का स्पर्श ही नहीं करता। तीसरी गाथा में कहा है न कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों का ही चुम्बन करता है।

राग को कर्म का कहने की अपेक्षा जुदी है। राग जीव का स्वभाव नहीं है, बस इसकारण उसे कर्म का कहा गया है। आत्मा की अनन्त निर्मल शक्तियों में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है, जो राग को उत्पन्न कर सके। यही कारण है कि पर्याय में जो भी रागादि विकार होते हैं, वे पर-निमित्त के साथ ही होते हैं। बस, इसी से ज्ञानी उस राग को पर का मानकर उससे विमुख हो जाते हैं।

ज्ञानी विचारते हैं कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभावी हूँ। मेरे स्वभाव में राग नहीं है। मैं राग को करूँ – ऐसा मुझमें कोई गुण या स्वभाव ही नहीं है। यदि विकार को उत्पन्न करनेवाला कोई गुण, धर्म या स्वभाव मुझमें हो तो विकार सदैव हुआ ही करेगा, क्योंकि ऐसा कौन सा समय होगा, जब वह गुण अपना कार्य नहीं करेगा। आत्मा में कोई भी गुण निठल्ला नहीं रहता। अतः आत्मा के स्वभाव में विकार का सर्वथा अभाव है।

प्रश्नः– यद्यपि विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, पर उसे जीव पर्याय में स्वतंत्रपने करता है। ऐसा पंचास्तिकाय की ६२ वीं गाथा में कहा है, अतः विकार ५०% प्रतिशत निमित्त का और ५०% प्रतिशत उपादान का कार्य माने तो क्या दोष है?

उत्तर:– भाई! आत्मा में विकार होने में निमित्त का एक प्रतिशत भी योगदान नहीं है ! प्रत्येक काम में शत-प्रतिशत योगदान अपना, अपने में अपने से होता है । हाँ, निमित्त का निमित्तरूप से शत-प्रतिशत योगदान है और उपादान का उपादानरूप से शत-प्रतिशत योगदान है, परन्तु एक का दूसरे में किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है ।

अरे भाई! विकार अपने स्वकाल में स्वयं के कारण स्वयं में हुआ है । वह जीव का स्वभाव नहीं है । जो विकार को पर्याय में पर से हुआ मानकर स्वयं महंत रहना चाहते हैं, अपना अपराध नहीं मानते उनके लक्ष्य से आचार्यो ने यह कहा है कि विकार जीव का है । तथा जो विकार को जीव का स्वभाव मान बैठे हैं और उसे छोड़ने का प्रयत्न नहीं करते, उनके लक्ष्य से यह कहा है कि भाई! राग तेरा स्वभाव नहीं है, कर्मजन्य है । तू चाहे तो इसका नाश करके सुखी हो सकता है । ज्ञानी तो ऐसा जानते हैं कि मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ, शाश्वत ध्रुव चैतन्यविम्व हूँ ।

अहाहा.....! रागादि मेरा स्वरूप नहीं है । मैं तो एक चिन्मात्र ज्ञायक भावमात्र वस्तु हूँ– इसप्रकार सम्यग्दृष्टि स्व को व पर को यथार्थ जानता है । धर्मी की दृष्टि तो शुद्धस्वभाव पर है, इससे वह ऐसा कहता है कि राग की ही भाँति द्वेष भी मेरा स्वभाव नहीं है । यद्यपि द्वेष है तो निर्पेक्ष, क्योंकि कर्म के निमित्त की अपेक्षा विना ही होता है; तथापि उसे यहाँ सापेक्ष कहकर – 'वह स्वभाव नहीं है' – ऐसी दृष्टि कराई है । द्वेष कर्म का कार्य है – धर्मी जीव ऐसा जानकर उसकी निर्जरा कर देता है ।

जीव का स्वभाव तो त्रिकाल आनन्द व वीतरागस्वरूप है, इससे उसका फल भी आनन्द और वीतरागता रूप ही आता है । जीव का त्रिकाली क्षेत्र ही ऐसा है कि उसमें से आनन्द और वीतरागता का ही फल आता है । द्वेष का क्षेत्र आत्मा से भिन्न है । द्वेष के क्षेत्र का अंश कर्म का कार्य है – ऐसा जानकर ज्ञानी उसे पृथक् कर देता है । विचारा अज्ञानी सामायिक-प्रतिक्रमण आदि बाह्य क्रियाकाण्ड करके ऐसा मान लेता है कि धर्म हो गया, परन्तु जबतक वह राग-द्वेष एवं आत्मा के, स्वभाव का स्वरूप नहीं जानेगा, निमित्त-उपादान का स्वरूप नहीं जानेगा, तबतक धर्म कहाँ से हो सकता है?

प्रश्न:– शास्त्रों में तो ऐसा आता है कि कार्य निमित्तों से होते हैं और आप कहते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता, यह क्या चक्कर है?

उत्तरः— ये चक्कर नहीं संसार के चक्कर से छूटने का उपाय है। भाई! निमित्त से कार्य होता है — ऐसा कथन तो शास्त्रों में आता है, परन्तु उसका अर्थ क्या है? इसका तुम्हें पता नहीं है । यहाँ निमित्त से होने का केवल इतना-सा अर्थ है कि निमित्त के लक्ष्य से होता है । बस, कार्य होने में निमित्त का इससे अधिक कोई योगदान नहीं है । परद्रव्य तो स्वद्रव्य का कभी स्पर्श ही नहीं करता तो फिर उससे कोई कार्य कैसे हो सकता है? आचार्यदेव का यहाँ कहना है कि आत्मस्वभाव को द्वेष छूता ही नहीं है, इसलिए द्वेष कर्म का कार्य है — ऐसा जानकर स्वभाव की दृष्टि से ज्ञानी उसकी निर्जरा कर देता है ।

अब कहते हैं कि इसीप्रकार 'राग' पद बदलकर मोह, क्रोध आदि पद लेना । यह समकिती की बात है । यद्यपि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वादि नहीं हैं, तथापि पर में सावधानी रखने का किंचित् मोह का भाव उसे भी आता है; परन्तु वह मोह को कर्म का कार्य मानता है, अपना स्वभाव नहीं । 'मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र हूँ' — ऐसा जानता हुआ वह उस मोह से मुक्त होने का निरन्तर प्रयत्न करता है ।

इसीप्रकार मान, माया, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, नाक, रसना व स्पर्शन आदि जो भी भाव हैं, वे आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं— ऐसा ज्ञानी जानता है ।

भाई! पर्यायदृष्टिवालों के क्रोधदि विकार पर्यायदृष्टि से स्वयं से होते हैं — यह बात भी अपनी जगह सही है और द्रव्यदृष्टिवन्त के अपने शुद्धद्रव्य से वे क्रोधादि नहीं होते, अतः पर से हुए कहे जाते हैं — यह बात भी अपनी अपेक्षा से सही है । यहाँ जोर तो इस तीसरे पद पर है कि 'ण दु एस मज्झ भावो' अर्थात् वे मेरे स्वभाव नहीं हैं । तथा 'जाणगभावो हु अहमेक्को' मैं तो एकमात्र ज्ञायकस्वभावी हूँ । शुद्ध ज्ञायक में विकार नहीं, अतः विकार कर्म का है — ऐसा समझना चाहिए ।

सुखधाम सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभवी धर्मात्माओं को दृष्टि के जोर में भी जब कभी यत्किंचित् क्रोध-मान-माया- लोभादि विकार होता है, तो वह उसे अपने से पृथक् पुद्गल का कार्य जानकर उसे अपने में से निकाल फेंकता है ।

आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि जिससे वह विकार को उत्पन्न कर सके । आत्मा में एक 'वैभाविक' नामक शक्ति है, पर वह

जीव का त्रिकाली निर्मल स्वभाव है – ऐसा नहीं समझना कि जीव में वैभाविक शक्ति के कारण विकार होता है । वैभाविक शक्ति तो एक ऐसी विशेष शक्ति है, जो जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यों में नहीं है । सिद्धों में भी वैभाविक शक्ति है, यह तो जीव का अनादि-अनन्त गुण है । विकाररूप परिणमाने का इस शक्ति का कार्य नहीं है । विकार तो पर के आधीन होकर परिणमन करने से होता है ।

प्रश्नः– ऐसा भी कहा जाता है कि उदयभाव भी आत्मा नहीं है, परन्तु तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में तो इन्हें जीव के स्वतत्त्व कहे हैं?

उत्तरः– उदयभाव जीव की पर्याय में है, इस अपेक्षा उसे जीव का कहा है; परन्तु वह जीव के स्वभाव में नहीं है, इस अपेक्षा उसे कर्म का कहा है । हाँ, शास्त्र में तो ऐसा भी आता है कि उदयभाव पारिणामिक रूप से है । उसका तात्पर्य यह है कि जहाँ त्रिकाली वस्तु परमपारिणामिक भाव है, वहाँ विकार पारिणामिक रूप से है । यह केवल अपेक्षा भेद है । यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि वह अपनी ही पर्याय है – अपनी पर्याय की अपेक्षा उसे पारिणामिकभाव कहा है, परन्तु पर कर्म की अपेक्षा वह औदयिकभाव ही है । ज्ञानी कहते हैं कि विकार को चाहे पारिणामिक भाव कहो या औदयिकभाव कहो, पर वह मेरा स्वभाव नहीं है, अतः वह तो पुद्गल का ही कार्य है ।

प्रश्नः– यह परमपारिणामिकभाव क्या है?

उत्तरः– भाई! अपना सहज, अकृत्रिम, सदा एकरूप, अनादि-अनंत चैतन्यमय पदार्थ ही परमपारिणामिकभावरूप है तथा बदलते हुए विकारी परिणाम को निमित्त की अपेक्षा से औदयिक या उदयभाव कहा गया है । तथा विकार को भी आत्मा की पर्याय होने की अपेक्षा पारिणामिकभाव कहने का व्यवहार है । लेकिन ज्ञानी तो उसे अपने स्वभाव से भिन्न पुद्गल कर्म जानकर त्याग देते हैं ।

इसीप्रकार जहाँ जिस अपेक्षा कथन किया गया हो; वहाँ उसी अपेक्षा अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए ।

समयसार गाथा २००

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचंश्च नियमाज्ज्ञान-वैराग्यसंपन्नो भवति–

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो ।।२००।।
एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम् ।
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन् ।।२००।।

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति ।

इसप्रकार सम्यक्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है – यह इस गाथा द्वारा कहते हैं:–

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता ।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता ।।२००।।

गाथार्थ:– [एवं] इसप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [आत्मानं] आत्मा को (अपने को) [ज्ञायकस्वभावम्] ज्ञायकस्वभाव [जानाति] जानता है [च] और [तत्त्वं] तत्त्व को अर्थात् यथार्थ स्वरूप को [विजानन्] जानता हुआ [कर्मविपाकं] कर्म के विपाकरूप [उदयं] उदय को [मुञ्चति] छोड़ता है ।

टीका:– इसप्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्वभावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है – ऐसा जो आत्मा का तत्त्व उसको (भली-भाँति) जानता है; और इसप्रकार तत्त्व को जानता हुआ, स्वभाव के

ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (प्रसिद्ध) करता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों को छोड़ता है। इसलिये वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न होता है। (यह सिद्ध हुआ।)

भावार्थः– जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने, तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता– यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही (ज्ञान-वैराग्य) ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।

गाथा २०० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं, जिसे पुण्य-पाप के भाव से भेद करके अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान हो गया है। वह सामान्यरूप से समग्र विकार को तथा विशेषरूप से परभावस्वरूप राग-द्वेषादि के एक-एक भेद को छोड़ देता है। चाहे पुण्यभाव हो या पापभाव हो – दोनों ही विकार विभाव परभाव हैं। ज्ञानी उन समस्त परभावों को छोड़ता हुआ ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा को उपादेयरूप से ग्रहण करता है। वह ऐसा विचार करता है कि "मैं तो पुण्य के विकल्प से भी भिन्न टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व हूँ।" आत्मा का तत्त्व, निजसत्त्व एक ज्ञायकस्वभाव है। दया-दान आदि राग के, पुण्य के परिणाम आत्मा का सत्त्व नहीं हैं। ये सब तो परभाव हैं। ज्ञानी सर्व परभावों से भिन्न होकर ज्ञायकस्वभावी निज चैतन्यतत्त्व का अनुभव करते हैं।

प्रश्नः– पर, इसमें आत्मा को करने के लिए क्या रहा?

उत्तरः– आत्मा जो कर सकता है, वह सब काम करने की बात इसमें आ गई। देखो, पुण्य-पाप से भेद करना, शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायकस्वभावी आनन्दस्वरूप निज भगवान आत्मा का अनुभव करना, उसी में लीन हो जाना; – ये ही आत्मा के असली काम हैं। इनके सिवाय पर में कुछ फेर-फार करना आत्मा का कार्य नहीं है।

भाई! जगत का ज्ञाता-दृष्टा रहकर मात्र उसे जानना और अपने स्वरूप में रमना ही आत्मा का कार्य है। पर में कुछ पलटा-पलटी करना आत्मा का कार्य नहीं है। जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि

करने के शुभभाव हैं, वे सब रागभाव हैं । उनसे पुण्यबंध भले हो, पर धर्म नहीं होता । धर्म तो एकमात्र वीतरागभाव है और वह आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है ।

बापू! वीतरागी मार्ग जन्म-मरण के दुःख से रहित होने का कोई अद्भुत मार्ग है । लोग तो केवल बाह्य व्रत-तप आदि को ही धर्म मान बैठे हैं, परन्तु भाई! ये सब तो रागरूप आस्रवभाव हैं, पुण्य व पाप दोनों आस्रवतत्त्व हैं, जबकि भगवान आत्मा ज्ञायकतत्त्व है । दोनों ही आत्मा से भिन्न हैं – ऐसा ज्ञानी अन्तर्दृष्टि से जानते हैं । इसप्रकार तत्त्व को जानता हुआ ज्ञानी ज्ञायकस्वभावी निज आत्मा का आश्रय करता हुआ राग को त्याग देता है । इसतरह ज्ञानी स्वभाव का ग्रहण व परभाव का त्याग करता है ।

"स्वभाव का ग्रहण व परभाव का त्याग" बस इन दो में जिनागम के सम्पूर्ण सिद्धान्त समाहित हो जाते हैं । इनमें से ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध ज्ञायकभाव को "स्व" जानता है, उपादेय मानता है और अजीव को भिन्न – उपेक्षा योग्य जानता है । पुण्य-पाप, आस्रव व बन्ध को अहितकारी हेय जानता है तथा संवर, निर्जरा व मोक्ष को भला – सुखदायक – प्रगट करने योग्य जानता है ।

यहाँ ऐसा कहा है कि पुण्य-पाप आस्रव व बंध भाव वस्तुतः अजीवतत्त्व हैं और चिदानंदमय ज्ञायकस्वरूपी भगवान आत्मा जीवतत्त्व है । इसप्रकार आत्मा को राग व आस्रव से भिन्न करके ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करना, उसे ही ग्रहण करना वस्तुतः धर्म है तथा इसी का नाम स्वभाव का ग्रहण व परभाव का त्याग है ।

ज्ञानी स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग द्वारा अपने वस्तुत्व का विस्तार करता है । यहाँ वस्तुत्व का अर्थ है, आत्मा का चिदानन्द स्वभाव – ज्ञायकस्वभाव । ज्ञानी अपनी पर्याय में अपने विज्ञानघन स्वभाव को प्रसारित करता है, दृढ़ करता है, स्थिर करता है और वीतरागता को वृद्धिंगत करता है ।

भाई! स्वभाव का ग्रहण व परभाव का त्याग ही वास्तविक धर्म है । अन्य जो भी त्याग आदि क्रियायें करता है, वे कोई धर्म की क्रियायें नहीं हैं । जब आत्मा में पर का ग्रहण ही नहीं होता तो त्याग किसका करेगा? हाँ, आत्मा में जो शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, वे स्वभाव से विरुद्ध होने से परभावरूप हैं, उनका त्याग व स्वभाव के ग्रहण करने की यह बात है ।

ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से ज्ञान व आनन्द की परिणति को विशेष पुष्ट करता है । ज्ञानी व अज्ञानी में यह अन्तर है कि अज्ञानी तो पुण्य में धर्म मानकर बंध को ही विस्तार देता है तथा ज्ञानी अपने स्वभाव के आश्रय से ज्ञानानन्दस्वभाव का ही विस्तार करता है ।

समकिती पुण्य-पाप के भाव से भगवान आत्मा को भिन्न करके अपने स्वभाव को ग्रहण करता है तथा राग का त्याग करता है । इससे आत्मा में वीतराग परिणति उत्पन्न होती है अर्थात् आत्मवस्तु के वस्तुत्व का विस्तार होता है । ऐसे विस्तार से निर्जरा होती है अर्थात् अशुद्धता का अभाव होता है और कर्म खिरते हैं । शेष अज्ञानी के व्रत-तप आदि तो सब संसार के ही कारण होने से मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं हैं ।

टीका में जो 'वस्तु को विस्तारता हुआ' यह कहा है न? वह अलौकिक मुनिदशा की स्थिति को सूचित करता है ।

देखो, जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, वह भाव भी कर्म के उदय का विपाक है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं, इसी से वे समस्त परभावों का त्याग करके स्वभाव के आश्रय से वैराग्य सम्पन्न होते हैं । पहले ज्ञान-वैराग्य की १९५ व १९६वीं गाथाएँ आ चुकी हैं, उन्हीं का यह सारांश है । शुद्ध चैतन्यबिम्ब पूर्णानंदस्वरूप भगवान आत्मा का जानना – अनुभवना ज्ञान है तथा राग का त्याग करना वैराग्य है । ये ज्ञान और वैराग्य की दोनों ही शक्तियाँ धर्मी जीवों के होती हैं । धर्मी अपने ध्रुव ज्ञायकस्वभावी वीतरागस्वभावी आत्मा का ग्रहण करता है और अपने वस्तुत्व को – ज्ञानानन्दस्वभाव को विस्तारता है तथा राग का अभाव करता है । इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान-वैराग्य शक्ति से सम्पन्न होता है।

१००वीं गाथा में यह आया है कि ज्ञानी राग का कर्ता नहीं है, उसका निमित्त भी नहीं है और यहाँ २००वीं गाथा में यह कहा है कि ज्ञानी ज्ञान-वैराग्य शक्ति से सम्पन्न होता है ।

गाथा २०० के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ दो गुण ग्रहण किये हैं – (१) भगवान आत्मा ज्ञायक स्वभावरूप है तथा (२) अतीन्द्रिय आनन्दमय है । ज्ञानी स्वयं को ऐसा जानता है – अनुभव करता है कि मैं ज्ञायकस्वरूप एवं अतीन्द्रिय आनन्दमय हूँ तथा कर्म के उदय से हुए भावों को आकुलतारूप – दुःखमय जानता है । पण्डित जयचंदजी छावड़ा ने अपने इस भावार्थ में यह संक्षेप में कह दिया है ।

छहढाला में भी यही कहा है—

"मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।।"

अज्ञानी जीव ने अनन्तबार मुनिव्रत धारण किया और उसका कठोरता से पालन भी किया, परन्तु वह सब तो राग – आस्रवभाव था। उसमें सुख था ही कहाँ, जो प्राप्त होता । कहा भी है न? 'सुख लेश न पायो' अर्थात् दुःख ही पायो, क्योंकि आस्रवभाव तो दुःखरूप ही है न?

इसी कारण कहते हैं कि ज्ञानी का ज्ञानरूप रहना व परभावों से विरागतारूप रहना – ये दोनों बातें एक साथ ही होती हैं । ज्ञानी निजतत्त्व को जानता – अनुभवता हुआ राग के अभाव द्वारा वीतरागता का विस्तार करता है, जो राग को किसी भी अपेक्षा भला जानकर उसे ही विस्तार देता है, वह धर्मी नहीं है । ज्ञानी कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को दुःखमय जहर जैसा जानते हैं तथा सुखमय स्वभाव के आश्रय से उसे छोड़ देते हैं ।

अहाहा---! ज्ञानमय रहना अर्थात् ज्ञानस्वभावी नित्य आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में रहना – टिकना और राग से हटना – खिसकना – ये दोनों ही ज्ञानी के एकसाथ होते हैं । यह बात प्रगट अनुभवगोचर है । यह 'ज्ञान-वैराग्य' ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है । राग का करना सम्यग्दृष्टि का चिन्ह व लक्षण नहीं है ।

ज्ञानरहित क्रियासे मोक्ष नहीं होता (सवैया इकतीसा)

केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वैकैं भूले हैं ।
केई महाव्रत गहैं क्रियामैं मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयारकैसे पूले हैं ।।
इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नांहि,
फिरैं जगमांहि ज्यौं बयारिके बघूले हैं ।
जिन्हके हियमैं ग्यान तिन्हिहीकौ निरवान,
करमके करतार भरममैं भूले हैं ।।२१।।

निर्जरा द्वार

कलश १३७

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा ;
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ।।१३७।।

जो जीव परद्रव्य में आसक्त रागी हैं और सम्यग्दृष्टित्व का अभिमान करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते हैं। अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है।

श्लोकार्थः– [**अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः मे जातु बन्धः न स्यात्**] "यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टी हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टी को बन्ध नहीं कहा है)" [**इति**] ऐसा मानकर [**उत्तान्-उत्पुलक-वदनाः**] जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसा [**रागिणः**] रागी जीव (परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष-मोहभाव वाले जीव) [**अपि**] भले ही [**आचरन्तु**] महाव्रतादि का आचरण करें तथा [**समितिपरत्तां आलम्बन्तां**] समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें [**अद्य अपि**] तथापि [**ते पापा :**] वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, [**यतः**] क्योंकि वे [**आत्म-अनात्म-अवगम-विरहात्**] आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से [**सम्यक्त्वरिक्ताः सन्ति**] सम्यक्त्व से रहित हैं ।

भावार्थः– परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा? वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे, तथापि स्वपर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है । जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जबतक यथाख्यात चारित्र न हो, तबतक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है। और जबतक राग रहता है, तबतक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निंदा-गर्हा करता ही रहता है । ज्ञान के होने मात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद

उसी में लीनता रूप– शुद्धोपयोगरूप चारित्र होने मात्र से बन्ध से कट जाते हैं। इसलिए राग होने पर भी, 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि "व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है?"

उसका समाधान यह है कि सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जबतक मिथ्यात्व रहता है, तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभक्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं हैं।

फिर कोई पूछता है कि "परद्रव्य में जबतक राग रहे तबतक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझ में नहीं आई। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है?"

उसका समाधान यह है :– यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भावों में आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है – भेदज्ञान नहीं है – ऐसा समझना चाहिए। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत-समिति का पालन करे, तथापि जबतक जीवों की रक्षा तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभभावों से अपनी मुक्ति मानता है और परजीवों का घात होना तथा अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभभावों से ही अपना बन्ध होना मानता है, तबतक यह जानना चाहिए कि उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभभाव तो बंध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इसप्रकार जबतक जीव परद्रव्य से ही भला बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, तबतक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जबतक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि जीव रागादि में तथा रागादि की प्रेरणा से जो परद्रव्य सम्बन्धी क्रिया में प्रवृत्ति करता है, उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता है कि यह कर्म का जोर है, उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है । वह उन्हें रोगवत् जानता है । पीड़ा सहन नहीं होती इसलिये रोग का इलाज करने में प्रवृत होता है, तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन से मानता है । अतः सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है । इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिये । यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा; इसलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है । सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि के भावों के) अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है । पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है – व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अथवा निश्चय को भलीभाँति जाने बिना व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है । यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है – वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है ।।१३७।।

कलश १३७ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो जीव परद्रव्य में आसक्त – रागी है और सम्यग्दृष्टि होने का अभिमान करता है, वह वस्तुतः सम्यग्दृष्टि है ही नहीं। यह कलश इसी अभिप्राय का सूचक है ।

अहाहा---! मुनिवरों को सत्य बात कहने में किंचित् भी संकोच नहीं होता, जरा-सी भी झिझक नहीं होती । वे तो स्पष्ट कह रहे हैं कि–

"मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बन्ध होता ही नहीं है, – ऐसा मानकर जिसने गर्व से मुख ऊँचा किया है, तथा अपने को समकिती मानकर पुलकित हो रहा है, – वह रागी जीव नियम से मिथ्यादृष्टि है ।

कहते हैं कि अज्ञानी जीव बाह्यक्रिया से गर्वित होकर ऐसा मानने लगता है कि मैं ज्ञानी हूँ, धर्मी हूँ, सम्यग्दृष्टि हूँ; अतः मुझे कभी भी

कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि उसने ऐसा पढ़ रखा है कि सम्यग्दृष्टि के भोगों से निर्जरा हो जाती है, अतः वह ऐसा मानता है कि मैं निर्जरावंत हूँ, यह जो मुझे राग होता है, वह तो मेरे चारित्र की निर्बलता है, चारित्रमोहजन्य दोष है । मेरे तो अराग परिणाम होने से जो राग आता है, वह निर्जर जाता है ।

यद्यपि अभी उसके राग की रुचि अन्दर में मौजूद है, तो भी शास्त्रों में लिखे अनुसार ऐसा मानकर जो गर्व करता है, वह वस्तुतः शास्त्र के अभिप्राय को नहीं जानता । उससे आचार्य कहते हैं कि भाई! तू राग को अपना मानता है, वह तेरे मिथ्यात्व का दोष है । तू भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये तत्त्व को समझने की कोशिश किए बिना ही मनमानी करता है – यह ठीक नहीं है ।

स्वयं को राग है, राग के प्रति भी अभी विशेष अनुराग है, तो भी अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैं धर्मी हूँ ।' उससे कहते हैं कि भाई! जिसको शुभराग की रुचि है – प्रेम है, जो शुभभाव को भला व अपना कर्त्तव्य मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है ।

भाई! यह मनुष्यभव मिला है, इतनी अनुकूलता मिली है, फिर भी यदि भगवान केवली के कथन का अभिप्राय सही नहीं समझ सके तो अपना यह मनुष्यभव निष्फल है । बड़ा नामधारी साधु भी हो जावे तो उससे क्या हुआ? इसी बात का आभास कराते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसका मुख गर्व से ऊँचा तथा पुलकित हुआ है – ऐसा रागी जीव परद्रव्य के प्रति मोह-राग-द्वेष भाव करता हुआ भले ही बाह्य में महाव्रतादि का पालन करे, तो भी वह पापी ही है ।

मूल श्लोक में आचार्य स्वयं ऐसा कह रहे हैं कि "आलंबन्तां समिति परतां" भले ही समिति की उत्कृष्टता का आलंबन करो, तथापि 'अद्यापि ते पापा' आज भी वे पापी ही हैं, मिथ्यादृष्टि ही हैं; क्योंकि उन्हें राग में सुखबुद्धि है, उपादेयबुद्धि है । उसने चैतन्यमूर्ति – वीतरागता की मूर्ति भगवान आत्मा का आश्रय नहीं लिया, वह उसे उपादेय रूप से स्वीकृत नहीं हुआ । इसकारण वह पापी ही है ।

भगवान आत्मा सदैव रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप – वीतरागस्वरूप ही है । ऐसे चिदानन्दघन भगवान आत्मा को जिसने अपनी श्रद्धा में उपादेय – आदरणीय माना, उसकी परिणति में निराकुल

आनन्दमय वीतरागता आती ही है । तथा जो ऐसे आत्मा को न जानकर राग को आदरणीय मान बैठा है, वह भले ही बाह्य से महाव्रतादि का पालन करे तो भी वह मिथ्यादृष्टि ही है । बात सुनने में कठोर है; परन्तु क्या करें, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है । देखो, कलश में 'पापा' शब्द पड़ा है । भाई! मिथ्यात्व का पाप ही सबसे बड़ा पाप है और उसकी अपेक्षा ही यहाँ मिथ्यादृष्टि को पापी कहा है । यद्यपि वे बाह्य द्रव्यहिंसा-झूठ आदि पापाचरण नहीं करते, तथापि मिथ्यात्व के वश रागादि में उपादेय बुद्धिरूप भावहिंसा तो होती ही रहती है । और मिथ्यात्व का परिणाम स्वयं अपने आप में बहुत बड़ा पाप है, अतः वह पापी ही है ।

यद्यपि चरणानुयोग में महाव्रतादि का विधान है, परन्तु चारों अनुयोगों का सार एक वीतरागता ही है, राग नहीं । पंचास्तिकाय की १७२ वीं गाथा में भी चारों अनुयोगों का सार एक वीतरागभाव को ही कहा है । वीतरागता के मार्ग में सर्वत्र एक वीतरागता का ही पोषण किया है । चरणानुयोग में साधक को वीतराग परिणति के साथ यथासंभव कैसा राग होता है, उसका ज्ञान कराया है, पोषण नहीं कराया । पुष्टि तो एक वीतरागता की ही है ।

आचार्य अमृतचंद कहते हैं कि महाव्रत का परिणाम भी वस्तुतः चारित्र नहीं, चारित्र का दोष है । पर यह बात व्यवहारी जनों को समझ में नहीं आती, अतः उनसे कहते हैं कि राग के प्रेमी को अर्थात् परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष-मोह रखनेवाले जीव राग में ही संतुष्ट रहकर महाव्रतादि पालते हैं, तो भले पालें; उत्कृष्टतम समितियों का पालन करें तो भले करें; पर इससे वे कहीं धर्मात्मा नहीं कहे जा सकते । आत्मज्ञान शून्य मिथ्यात्व सहित होने से वे तो आज भी पापी ही हैं ।

प्रश्नः— पापी अशुभभाव करनेवाला तो नवग्रैवेयक नहीं जा सकता, जबकि ये महाव्रतादि पालन करनेवाले मुनिगण तो मिथ्यात्वी होते हुए भी नवग्रैवयक तक जाते हैं, फिर इन्हें पापी क्यों कहा?

उत्तरः— भाई! पापी नवग्रैवेयक नहीं जाते, यह बात तो सच है, परन्तु निश्चय से पुण्य भी वस्तुतः पाप ही है । योगसार के ७१ वें दोहे में योगीन्द्रदेव ने स्पष्ट कहा है कि ।

"पापतत्त्व को पाप तो जाने जग सब कोई ।
पुण्यतत्त्व भी प।प है, कहे अनुभवी बुध कोई ।।"

बस, इसी अपेक्षा अमृतचन्द्राचार्य ने इन्हें पापी कहा है तथा मिथ्यात्व का महापाप तो है ही। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे यथार्थ ग्रहण करना चाहिए। भाई! राग से धर्म होना मानना एवं लाभ मानना वीतरागता का मार्ग नहीं है। कहा भी है–

"जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझले, जिन प्रवचन का मर्म।।"

भगवान आत्मा सदैव जिनस्वरूप – वीतरागस्वरूप ही है। इसके सिवाय रागादि अन्य सब कर्म हैं। जिनप्रवचन का यही रहस्य है।

हाँ, ज्ञानी के भी यथासंभव राग होता है; पर उसे राग की रुचि नहीं है और राग का स्वामित्व नहीं है। राग होना जुदी बात है और राग की रुचि होना उससे सर्वथा जुदी बात है। अज्ञानी जीव राग की रुचि के कारण राग से भिन्न चैतन्य से भरपूर भगवान आत्मा को नहीं जानता। जो राग को भला जानता-मानता है, वह राग का नाश कैसे कर सकता है? ज्ञानी को आत्मा की रुचि व राग से अरुचि है। वह राग को उपाधि जानता है तथा आत्मरुचि के बल से उस राग को दूर करता है। अहा! ज्ञानी व अज्ञानी के अभिप्राय में जमीन और आसमान का फरक है। अज्ञानी तो उपाधिभाव को अपना जानकर उसे लाभदायक मानता है। इसीकारण यहाँ कहा है कि अज्ञानी पंचमहाव्रतों का पालन करें तो भी पापी ही है।

भाई! वीतरागी की आज्ञा तो वीतरागता प्रगट करने की ही है। राग करते-करते सम्यग्दर्शन व निर्मल रत्नत्रय प्रगट होना मानना तो लहसुन खाते-खाते कस्तूरी खाने की डकार आने जैसी असंभव कल्पना है। अरे! अज्ञानी ने सदैव नित्य शरणभूत भगवान आत्मा को छोड़कर निराधार व अशरणभूत रागभाव को अपना मानकर ग्रहण किया है। इसी से यहाँ सन्तों ने अति स्पष्ट कहा है कि पंचमहाव्रतादि का पालन करते हुए तथा उन्हें ही कर्तव्य व धर्म माननेवाले पापी ही हैं, मिथ्यादृष्टि ही हैं।

अहा! जिनके तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव हुआ है, ऐसे भावलिंगी संतों के किंचित् राग तो है, परन्तु वे उसे आदरणीय नहीं मानते।

जिसने राग को, व्रत के परिणाम को भला माना, उसको आत्मा व अनात्मा की खबर नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में व्रत व अव्रत – दोनों को आस्रव कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आता है कि यदि तुम अशुभभाव

को पाप मानते हो और शुभभाव को धर्म कहोगे तो पुण्य कहाँ गया? पुण्य किसे कहेंगे? तात्पर्य यह है कि दया-अहिंसा आदि व्रत के परिणाम पुण्य हैं, आस्रव हैं, धर्म नहीं ।

रत्नकरण्डश्रावकाचार के ३३ वें श्लोक में ऐसा कहा है कि –

"गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोही मोहिनो मुनेः ।।"

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जिसके राग का आदर नहीं है और आत्मा का आदर है, वह सम्यक्त्वी मोक्षमार्गी है । जबकि अज्ञानी मुनिलिंग धारण करते हुए भी राग का आदर करता है, अतः वह मोही – मिथ्यादृष्टि है । जिसके अभिप्राय में राग आदरणीय है, उसके वर्तमान में भले मंदराग हो, तो भी वह मोही – मिथ्यादृष्टि है । तथा चौथे गुणस्थान में भले ही तीन कषाय युक्त राग की प्रवृत्ति होती है, तथापि उसके राग आदरणीय नहीं होने से वह मोक्षमार्गी है ।

कलश १३७ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जिन्हें राग में रुचि है, परद्रव्य के प्रति प्रेम है; उन्हें अनन्तानुबंधी राग होता है । वे भले मानें कि हम सम्यग्दृष्टि हैं, अतः हमें बन्ध नहीं होता; परन्तु वस्तुतः वे मिथ्यादृष्टि ही हैं । ऐसे व्यक्ति भले ही पाँच महाव्रतादि पालें, पाँच समिति पालें, तथापि वे पापी ही हैं; क्योंकि उन्हें भेदज्ञान नहीं है ।

पंडित जयचंदजी यहाँ भावार्थ में आचार्यदेव की बात का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जिसे अन्तर में राग से भिन्न शुद्धचैतन्य का भान हुआ नहीं और जो राग की रुचि में रह रहा है, वह जीव भले ही व्रतादिरूप शुभाचरण करे तो भी वह पापी ही है; क्योंकि उसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है ।

तथा वह ऐसा मानकर स्वच्छंद हो जाता है कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ, अतः मुझे तो बंध होता ही नहीं है । परन्तु जो स्वच्छन्दी है, वह कैसा सम्यग्दृष्टि है? अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन का भ्रम हुआ है, वह वस्तुतः मिथ्यादृष्टि ही है ।

सम्यक्त्वी को तो जबतक पूर्ण वीतरागता रूप यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तबतक राग रहता ही है तथा बंध भी होता ही है । उसे जहाँ

तक राग रहता है, वहाँ तक वह उसकी निन्दा-गर्हा ही करता रहता है: उसे उपादेय नहीं मानता। वह शुभभाव की भी निन्दा-गर्हा ही करता है। यद्यपि शुभाशुभ भाव की निन्दा-गर्हा भी अपने आप में शुभभाव है, पर ऐसा शुभभाव समकिती को होता है: क्योंकि उसे राग में हेयबुद्धि है। मोक्ष अधिकार में ऐसे प्रतिक्रमण के भाव को विषकुंभ कहा है, तो भी समकिती को राग के प्रति ऐसा निन्दा-गर्हा का भाव आता ही है।

ज्ञान होने मात्र से बंध से छुटकारा नहीं मिल जाना। ज्ञान होने के बाद शुद्ध चैतन्यस्वरूप में ही लीनतारूप – शुद्धोपयोगरूप चारित्र से बंध शिथिल होता है। ज्ञानानन्दस्वरूप में लीनतारूप शुद्धोपयोग है और वह शुद्धोपयोग ही चारित्र है। यहाँ तीन बातें मुख्य कही हैं–

(१) ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मस्वरूप में लीनतारूप शुद्धोपयोग है।
(२) उस शुद्धोपयोगरूप आत्मा का परिणाम चारित्र है। तथा
(३) ऐसे शुद्धोपयोगरूप चारित्र से बंध शिथिल होता है – बंध का अभाव होना है। महाव्रत का परिणाम या केवल नग्नदशा चारित्र नहीं है और उससे बंध शिथिल भी नहीं होता।

कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का स्वसंवेदन प्रगट होने के बाद उसमें ही लीनतारूप शुद्धोपयोग प्रगट होना ही वास्तविक चारित्र है। स्वरूप में रमणतारूप शुद्धोपयोग ही चारित्र है। शुभाशुभभाव तो अशुद्धोपयोग है और वह अचारित्र है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्धोपयोगरूप चारित्र से ही बंध छिदना है, शुभराग से नहीं।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के बाद भी ज्ञानी के शुभभाव होता है, परन्तु वह उसे बंध का ही कारण मानता है। इसलिए ज्ञानी ऐसा नहीं मानता कि राग होते हुए भी मुझे बंध नहीं होता। "मैं समकिती हूँ, अतः मुझे राग होते हुए भी बंध नहीं होता" ऐसा मानकर जो राग में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है, तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

यदि यहाँ कोई पूछे कि व्रत समिति का परिणाम तो शुभकार्य है, इन्हें पालन करनेवाले को पापी कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि अध्यात्म में मिथ्यात्व को ही पाप कहा गया है। जबतक मिथ्यात्व रहता है, तबतक शुभ-अशुभ क्रियाओं को परमार्थ से पाप ही कहा जाता है। यद्यपि अन्य रागादिभाव भी पाप हैं, परन्तु वे यहाँ गौण हैं। यहाँ तो मूल पाप मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही संसार है,

मिथ्यात्व ही आस्रव है, मिथ्यात्व ही बंध का कारण है । व्रतादि पुण्य के परिणामों को यदि धर्म का कारण माने तो वह मान्यता भी मिथ्यात्व ही है और वह मिथ्यात्व ही मूल पाप है ।

देखो, विशेष स्पष्ट करते हैं कि जबतक मिथ्यात्व रहता है, तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा जाता है । भाई! कोई महाव्रतादि का आचरण करे और उससे धर्म होना माने तो वह सब आचरण पाप ही है; क्योंकि उस आचरण मात्र को वास्तविक धर्म मानना मिथ्यात्व है ।

अब कहते हैं कि यद्यपि परमार्थ से शुभक्रिया को पाप कहा गया है, तथापि व्यवहारनय से अशुभ – पाप के परिणामों को छुड़ाने के लिए एवं शुभ परिणाम में प्रवृत्त कराने के लिए शुभ को पुण्य भी कहते हैं; परन्तु पुण्य ही कहते हैं, धर्म नहीं । यहाँ व्यवहार से पुण्य व पाप में अन्तर दर्शाया है ।

जहाँ तक दया, दान, व्रत आदि के शुभ परिणामों से धर्म होता है – ऐसी मिथ्या मान्यता है, वहाँ तक तो उस शुभक्रिया के परिणामों को निश्चय से पाप ही कहा है । परन्तु व्यवहार से अशुभ को छोड़कर शुभ में जोड़ने की अपेक्षा पुण्य भी कहा गया है ।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्या-दृष्टि का कथन करते हुए कहा है कि यदि इस अवसर में तत्त्वाभ्यास का संस्कार पड़ा होगा तो कदाचित् कोई पाप की विचित्रता के वश यहाँ से नरक में या तिर्यंच में जाय तो भी वहाँ वे संस्कार जागृत होंगे और उसे देवादि के निमित्त बिना भी समकित होगा । अहाहा.....! राग से रहित 'मैं शुद्ध चैतन्यमय वस्तु आत्मा हूँ' – अन्तर में ऐसा दृढ़ संस्कार पड़ा होगा तो अन्यत्र इस संस्कार के बल से सम्यक्त्व को प्राप्त होगा ।

तथा वहाँ यह भी लिखा है कि 'देखो तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, घने शास्त्रों का अभ्यास करे तथा व्रत-तपश्चरणादि करे तो भी उसे तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं है तथा तत्त्वविचार वालों के इनके बिना ही सम्यक्त्व का अधिकार होता है ।''

हाँ, किसी जीव को तत्त्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिक की प्रतीति हो जाती है अथवा तप अंगीकार हो जाते हैं और बाद

में वह तत्त्वविचार करता है, परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तो तत्त्वविचार से ही होता है । इसका ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना कि अमुक ने व्रत, तप अंगीकार किए थे, इससे उसे सम्यक्त्व हुआ है, किन्तु वस्तुतः उसे तत्त्वविचार से ही सम्यक्त्व हुआ है ।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि आप तो ऐसा कहते हो कि जबतक परद्रव्य में राग रहेगा, तबतक जीव मिथ्यादृष्टि रहेगा; परन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह को चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होता है, फिर उसे सम्यक्त्व कैसे है?

उसका समाधान यह है कि यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी राग की अपेक्षा से ऐसा कहा है । जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से हुए भावों में आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उन्हें स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है, भेदज्ञान नहीं है – ऐसा समझना ।

देखो, जिसकी विपरीत मान्यता है कि व्रत व तप से मुझे धर्म की प्राप्ति होगी तथा भगवान की भक्ति-वंदना-यात्रा से समकित होगा, वे मिथ्यादृष्टि हैं । तथा ऐसा विपरीत माननेवाले मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबंधी राग की मुख्यता से यहाँ ऐसा कहा है कि जबतक पर में राग रहता है, तबतक जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है । अस्थिरता सम्बन्धी राग को यहाँ गौण किया है ।

देखो, पंडित जयचंदजी स्वयं कहते हैं कि जिन्हें परद्रव्य तथा परद्रव्य से हुए पुण्य-पाप के भावों में आत्मबुद्धि होती है, उनको स्व-पर का श्रद्धान नहीं है । जिन्हें राग के प्रति अनुराग है, उन्हें मैं स्वयं आत्मा हूँ व राग पर है – ऐसा भेदज्ञान नहीं है ।

अब इसी बात को विशेष कहते हैं कि जब जीव परद्रव्य की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर मैं परजीवों की रक्षा करता हूँ, दया पालता हूँ, परजीवों की हिंसा न हो, एतदर्थ यत्नाचारपूर्वक ईर्यासमिति से चलता हूँ – ऐसी जो परद्रव्य की क्रिया और परद्रव्य के निमित्त से हुए व्रत, तप, भक्ति, यात्रा आदि से जो अपना मोक्ष मानता है, उसे भेदज्ञान ही नहीं है । भाई! व्रत, तप, उपवास आदि शुभभाव परद्रव्य का भाव है । जो उसे अपना मानता है एवं उससे मोक्ष होना मानता है, उसे स्व-पर का भेदज्ञान ही नहीं है । तथा परजीवों की हिंसा होना और अयत्नाचार से

शरीर का प्रवर्तन करना आदि परद्रव्य की क्रिया से अथवा उसके निमित्त से हुए अशुभभाव से ही बन्ध होता है – ऐसा जो मानते हैं, उसे भी स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है ।

अहाहा.....! जबतक जीव अशुभभाव से बन्ध तथा शुभभाव से मोक्ष होना मानता है, तबतक व्रत-समिति पाले तो भी वह स्व-पर के भेदज्ञान से रहित होने से अज्ञानी ही है ।

अरे! जब तू परद्रव्य की क्रिया कर ही नहीं सकता, तो फिर दया कैसे पाल सकता है? हिंसा भी कैसे कर सकता है ? जबतक जीव की आयु है, तबतक वह जीवित रहता ही है । आयु पूरी होने पर मरता है । इसमें तेरा (अन्य जीव का) क्या कर्तव्य है? इसी ग्रन्थ के बन्ध अधिकार में आता है कि मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ जीवित रखता हूँ, मैं पर को सुखी या दुःखी करता हूँ – ऐसा मानना मिथ्यात्व है ।

अब उस कथन का कारण समझाते हैं :– कहते हैं कि भाई! बन्ध तो अशुद्ध परिणाम से होता है । शुभ व अशुभ – दोनों ही भाव अशुद्ध परिणाम हैं व्रत, तप, यात्रा आदि के भाव जो शुभ हैं, वे अशुद्ध हैं तथा हिंसादि के अशुभभाव भी अशुद्ध हैं । इसप्रकार शुभाशुभभाव दोनों ही अशुद्ध होने से बन्धन के ही कारण हैं । अशुभ की भाँति शुभ भी बन्ध का ही कारण है । भाई! व्रत व अव्रत के दोनों ही परिणाम बन्ध के ही कारण हैं । तथा व्रत व अव्रत रहित पुण्य-पाप रहित आत्मा का शुद्धभाव मोक्ष का कारण है । इसप्रकार एक शुद्धोपयोग ही मोक्ष का कारण है ।

देखो, पुण्य-पाप के दोनों ही भाव बन्ध के कारण हैं तथा परद्रव्य तो उनमें निमित्त मात्र ही है; परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर इससे उल्टा मानता है ।

प्रश्नः– क्या ऐसा कहने से व्यवहार का सर्वथा लोप नहीं हो जायेगा?

समाधानः– नहीं। लोप नहीं होगा, बल्कि सच्चे व्यवहार की स्थापना ही होगी; क्योंकि व्रत, तप, भक्ति, दान आदि बाह्यव्यवहार ज्ञानी के भी होता है, परन्तु वह उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता ।

देखो, समकिती को अस्थिरता का राग होता है तथा वह रागप्रेरित शुभाशुभ बाह्य क्रियाओं में भी प्रवर्तित होता है, परन्तु इसे वह कर्म का ज़ोर व पुरुषार्थ की कमजोरी मानता है । तथा पुरुषार्थ बढ़ाकर इससे

निवृत्त होने में ही अपना भला मानता है । तथा क्रम-क्रम से पुरुषार्थ को दृढ़ करके इस रागादि से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है । जबतक पूर्ण वीतरागता न हो; तबतक समकिती को व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि का शुभभाव आता है; परन्तु वह उसे रोग समान समझता है, बंध का कारण ही मानता है, धर्म नहीं मानता । आचार्य अमृतचंद ने भी यही कहा है कि जो राग को भला जानकर आचरण करता है और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । समकिती तो राग से विरक्त होने की भावनावाला है, अतः वह तो राग को रोगवत् ही मानता है ।

अब कहते हैं कि समकिती विषयवासना की पीड़ा नहीं सह सकता, इससे उसका उपचार करने के रूप में इन्द्रिय भोगादि में प्रवर्तता है । परन्तु उसे उस भोग सामग्री में उपादेय बुद्धि नहीं है; अनुराग, रुचि या प्रीति नहीं है, वह तो उसे रोग जानता है । जैसे कोई काला नाग देखकर भागता है, उसीतरह ज्ञानी भोगादिभावों से दूर भागना चाहता है । वह उन भावों के नाश का ही उपाय करता है । वह तो अशुभराग की भाँति शुभराग को भी मिटाने का ही उपाय करता है । वह शुभ परिणाम को अशुभ का नाश करनेवाला न मानकर अपने निर्मल ज्ञानमय वीतरागी परिणाम से ही सर्व राग को नाश करने में विश्वास रखता है । अज्ञानी को जैसा विषय-भोगों में मजा आता है, उसीतरह ज्ञानी को विषय-भोगों में या शुभभावों में मजा नहीं आता । वह तो सम्पूर्ण राग को ही मिटाने का उपाय करता है । तथा शुद्धचैतन्य के आश्रय से क्रमशः सम्पूर्ण राग का अभाव करता जाता है । इसीलिए कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है। इसप्रकार परमार्थदृष्टि से – अध्यात्मदृष्टि से यह कथन समझना चाहिए ।

अब कहते हैं कि मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा गया है । भगवान आत्मा त्रिकाल वीतरागस्वरूप है, परन्तु जिसकी रुचि में ऐसे वीतरागस्वरूप आत्मा का पोषण नहीं है और राग व परद्रव्य का पोषण है, जो राग को भला मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उस राग को ही यहाँ राग कहा है ।

जिसे ज्ञानानन्दस्वरूपी ज्ञायकस्वरूपी भगवान आत्मा का आश्रय – आलम्बन नहीं है, मात्र एकान्ततः राग का ही आलम्बन है, वह भले ही व्रत पाले, तपश्चर्या करे, मुनि के २८ मूलगुणों का पालन करे तो भी मिथ्यादृष्टि ही है । भाई! यह तो भव के अभाव की बात है । जिस भाव

से भव मिलता है, वह आत्मा का भाव नहीं हैं; क्योंकि भगवान आत्मा भव व भव के कारणों के अभावस्वरूप है । इससे यहाँ कहा है कि मिथ्यात्व सहित जो अनन्तानुबंधी राग है, उसे ही यहाँ राग कहा है । ज्ञानी को राग तो होता है, पर राग के प्रति अनुराग नहीं होता । मिथ्यात्व दशा में राग की रुचि सहित जो राग होता है, उसे ही यहाँ राग कहा गया है, क्योंकि वह दीर्घसंसार का कारण है ।

समकिती को चारित्रमोह सम्बंधी जो किंचित् राग होता है । उसे यहाँ राग की गिनती में नहीं गिना गया है । किंचित् का अर्थ भी जानने जैसा है । ९६ हजार स्त्रियों के विषयवासना वाले राग को भी आचार्य किंचित् राग कह रहे हैं । उसका कारण यह है कि ज्ञानी के राग तो है; पर उस राग में आसक्ति नहीं है; इसकारण उस राग के फल में अल्प स्थिति व अल्प अनुभाग पड़ता है । बस, इसीकारण उसे राग नहीं गिना जाता ।

अहाहा.....! जिसने परमपारिणामिक भावस्वरूप सहजानन्दमय भगवान ज्ञायकमूर्ति का अन्तःस्पर्श करके वीतराग समकित को प्राप्त कर लिया है; उसे वर्तमान में राग तो है, परन्तु उसके राग को यहाँ गिना नहीं है अर्थात् गौण कर दिया है, क्योंकि उसका वीर्य राग में उल्लसित – प्रफुल्लित नहीं है और वह दीर्घसंसार का कारण भी नहीं है ।

अकेला आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा ही परमात्मा है । भाई! भगवान को जो परमात्मपर्याय प्रगट हुई है, वह अन्दर में पड़ी हुई अनन्ती त्रिकाली परमात्मशक्ति से प्रगट हुई है । जिसे उस ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्शक्ति की रुचि हुई है तथा राग की रुचि छूट गई है, वह समकिती धर्मात्मा है । ऐसे धर्मात्मा के चारित्रमोह संबंधी उदय के परिणाम को राग नहीं कहा; क्योंकि सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है । जिसे अनाकुल आनन्द का स्वाद आया है, जिसे अपने त्रिकाली परमात्मा से भेंट हुई है; उसे स्वरूप की पूर्णता की प्रतीति का ज्ञान और राग के निवर्तनरूप वैराग्य होता ही है । धर्मी को निराकुल आनन्द के स्वाद की रुचि छूटती नहीं हैं तथा जो पुरुषार्थ की कमजोरी से राग उत्पन्न हो जाता है, उसमें रुचि होती नहीं है । उसे तो राग जहर जैसा लगता है और जिसे राग में मजा आता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है । जिसे त्रिकाली नित्यानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हो गई, उसे निमित्त, राग व एक समय की पर्याय की दृष्टि नहीं रहती । इसलिए

उसके स्वरूप का ज्ञान व राग के अभाव रूप वैराग्य अवश्य होता है। देखो, समकिती छहखण्ड के राज्य के वैभव में रह रहा हो तो भी उसे ज्ञान व वैराग्य निरन्तर एक ही साथ होता ही है।

अब कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, उस समकिती को मिथ्यात्वसहित राग नहीं होता। भाई! अन्तरात्मा में तो केवल ज्ञान व आनन्द का निधान भरा है। भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द का ही निधान है। वह परिपूर्ण परमात्मशक्ति की सामर्थ्य से भरा है। जिसे ऐसे आत्मा की अंतरंग में श्रद्धा – प्रतीति हो गई है, वह सम्यग्दृष्टि है। उसे जो अल्पराग होता है, उसकी कोई गिनती नहीं है; क्योंकि उसे मिथ्यात्वसहित राग नहीं होता। यदि मिथ्यात्वसहित राग हो तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी में जो अन्तर – भेद है, अज्ञानी को उसकी कुछ खबर ही नहीं है। इस भेद को तो सम्यग्दृष्टि ही जानता है। अज्ञानी तो बस खाने-पीने, कमाने-धमाने और विषयों के भोग भोगने में ही लगा रहता है। कदाचित् पापादि कार्यो से निवृत्त होता है तो दया-दान, भक्ति-पूजा, व्रत-तपादि करने लगता है; परन्तु ये सब तो राग के ही रूप हैं। ज्ञानी के राग में एकत्वबुद्धि पूर्वक राग नहीं होता, क्योंकि वह राग और ज्ञान के भेद को अच्छी तरह जानता है।

ज्ञानी जानता है कि वीतराग परमेश्वर भगवान जिनेन्द्र का वीतरागी मार्ग एकमात्र वीतरागस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है, राग से नहीं। मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि के भेद को एकमात्र ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी नहीं जानता। कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि का प्रथम तो अध्यात्मशास्त्रों में प्रवेश ही नहीं है तथा यदि प्रवेश करे भी तो उल्टा ही अर्थ ग्रहण करता है। या तो व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट हो जाता है अथवा निश्चय के स्वरूप को भलेप्रकार न समझ पाने से व्यवहार से ही मोक्षमार्ग मानकर क्रियाकाण्ड में अटक जाता है। परमार्थतत्त्व से तो अनजान ही रह जाता है।

यहाँ यह कहते हैं कि अज्ञानी निश्चय को जाने बिना अर्थात् अपने सिद्धसमान शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जाने बिना अकेले शुभराग में ही मग्न रहता हुआ अपने को आत्मज्ञानी – धर्मात्मा मान लेता है। दया, दान व्रत आदि के राग में ही धर्म हुआ मानकर संतुष्ट हो जाता है, यही

अज्ञानी की विपरीतता है । जिस भाव से पुण्यबंध होता है, उसी भाव से मोक्ष कैसे हो सकता है? पर अज्ञानी शुभभावों को मोक्ष का हेतु मानता है । इसलिए वह परमार्थ तत्त्व में मूढ़ है, किसी की सेवा करना या दया पालना आदि वास्तविक परमार्थ नहीं है । परमपदार्थ स्वरूप भगवान आत्मा ही वास्तविक परमार्थतत्त्व है; बाकी तो सब राग है, अपरमार्थ है । भगवान सर्वज्ञदेव ने अपने अन्तर में जो त्रिकाली सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा देखा है, वह परमार्थ है ।

नवतत्त्वों में दया-दान, व्रत-तप, भक्ति आदि के परिणाम पुण्य हैं तथा हिंसा-झूठ आदि के परिणाम पाप हैं । इन दोनों से भिन्न भगवान आत्मा ज्ञायक तत्त्व है और वही परमार्थ है । जिसप्रकार भगवान ने प्रत्येक आत्मा को 'निज सत्ता से शुद्ध' देखा है, उसीप्रकार जिसकी दृष्टि में शुद्ध ज्ञायक ज्ञात हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है ।

सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है । अरे भाई! सम्यग्दर्शन बिना अनन्तकाल में अनंतबार मुनिव्रत तक पालन किये, पर आत्मज्ञान बिना उससे भी कोई लाभ नहीं हुआ ।

देखो, यहाँ कहते हैं कि 'शुभराग से मोक्ष होता है या शुभ परम्परा मोक्ष का कारण है' – ऐसी मान्यता के कारण ही अज्ञानी परमार्थतत्त्व में मूढ़ रहता है । यद्यपि स्याद्वाद शैली से सत्यार्थ को समझनेवाले जीव विरले ही होते हैं; परन्तु जो कोई यथार्थ स्याद्वाद न्याय से सत्यार्थ समझ ले उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है ।

यहाँ 'स्याद्वाद न्याय को समझनेवाले विरले ही होते हैं' यह कहकर निराश नहीं किया; बल्कि अपने को उन अज्ञानियों की ओर से निश्चिन्त किया है; जो न तो समझते हैं और न समझना चाहते हैं, फिर भी हम उन्हें समझाने का असफल प्रयास करतें हैं । अतः इस चिन्ता से मुक्त होकर स्वरूप में सावधान रहना ही श्रेष्ठ है ।

'स्याद्वाद न्याय से' कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु द्रव्यपर्याय-स्वरूप है । द्रव्य भी है और पर्याय भी है, परन्तु द्रव्य पर्याय में नहीं है और पर्याय द्रव्य में नहीं है – ऐसा यथार्थ समझना चाहिए । शुद्ध आत्मद्रव्य में राग नहीं है और राग में शुद्ध-आत्मा नहीं है ।

भाई! भगवान ने नवतत्त्व कहे हैं न? ये नवतत्त्व तभी सिद्ध होंगे, जबकि एक में दूसरे को मिलाये बिना प्रत्येक को भिन्न-भिन्न माने ।

शरीरादि अजीव में जीव नहीं और जीव में शरीरादि अजीव नहीं। तथा जिसप्रकार अजीव से जीव भिन्न है, उसीप्रकार दया-दानादि पुण्यतत्त्व से और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना एवं क्रोधादि पापतत्त्व से शुद्ध ज्ञायकतत्त्व भगवान आत्मा भिन्न है। अहो! भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसी अलौकिक बात आती है।

अहा! जो कोई विरले जीव स्याद्वाद न्याय से सत्यार्थ समझ जाये तो वे अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। स्याद्वाद न्याय का अर्थ यह है कि राग है, परन्तु वह शुद्धद्रव्य में नहीं है; पर्याय पर्यायरूप से है, परन्तु वह त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। एक समय की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा नहीं आता।

अहाहा......! राग में आत्मा नहीं और आत्मा में राग नहीं – ऐसा स्याद्वाद शैली से अनेकान्त स्वरूप जानकर जो आत्मा अन्तर-सन्मुख होता है, उसे समकित अवश्य ही होता है। पूर्णानन्दस्वभावी भगवान आत्मा में राग कहाँ है? और राग में वह पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा कहाँ है? ऐसा सत्यार्थ जानकर जो स्वरूप में – शुद्ध त्रिकाली द्रव्य में एकाग्र होते हैं, उन्हें सम्यक्त्व होता ही है।

यह सम्यग्दर्शन ही धर्म की प्रथम सीढ़ी है, चारित्र तो इसके बाद का कदम है। भाई! मोक्षमार्ग का यही क्रम है। सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा ही क्रम देखा-जाना है और यही क्रम निरूपित किया है।

प्रश्नः– सर्वज्ञ तो मात्र जानते हैं, अतः उनका क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध परिणमित होनेवाले पदार्थों के साथ क्या संबंध है? वे तो केवल क्रम से होनेवाले या अक्रम से रहनेवाले पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा ही हैं न?

समाधानः– भाई! यह बात सत्य है कि सर्वज्ञ तो केवल जानते ही हैं; पर जिस व्यक्ति को ऐसे सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय हो जाता है, श्रद्धा हो जाती है; उसकी अनन्त आकुलता का अभाव एक समय में हो जाता है; क्योंकि लोक में सब व्यवस्थित क्रमबद्ध है। छहों द्रव्यों में एक के बाद एक धारावाही क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं; जिन्हें कि आयत समुदाय कहते हैं। जो ऐसा यथार्थ निर्णय कर लेता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ में आया है कि "भगवान सर्वज्ञदेव ने जिस काल में, जिस द्रव्य में, जिस क्षेत्र में जैसा परिणमन होना जाना है, उसी काल में, उसी द्रव्य में, उसी क्षेत्र में वैसा ही

परिणमन होता है ।" ऐसा जो यथार्थ श्रद्धान करता है, वह समकिती है । तथा इसमें जो शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है ।

भाई! यही परम शान्ति और आनन्द का उपाय है; क्योंकि ऐसी श्रद्धा से सहज ही स्वभावसन्मुख वृत्ति हो जाती है । सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का निश्चय हुए बिना सर्वज्ञ पर्याय का निर्णय नहीं हो सकता अर्थात् जब सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय हो जाता है तो ज्ञानस्वभावी निज आत्मद्रव्य का भी निर्णय हो जाता है ।

अहा! जिस काल में जो पर्याय उसके क्रमबद्ध में होनी होती है, वही होती है । सर्वज्ञ का ज्ञान तो उसे केवल जानता है । भाई! सर्वज्ञ के निर्णय का बस यही तात्पर्य है । शास्त्रों में जो उदय व उदीरणा होने की बात आती है, वह सब भी क्रमबद्ध ही होती है । क्रमबद्ध के सिद्धान्त से उसका कोई विरोध नही है । 'मैं ऐसा कर दूँ, वैसा कर दूँ' – वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में यह फेरा-फारी करने की मान्यता मिथ्यादर्शन है ।

अहा! जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा होती है, उसे उसी के साथ क्रमबद्ध की भी श्रद्धा हो जाती है । तथा उसकी यह श्रद्धा भी उसके स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ से होती है । ऐसे निर्णय के बाद 'व्यवहार पहले व निश्चय बाद में होता है' – ऐसी शंका भी नहीं रहती । तथा 'निमित्त से उपादान में कुछ होता है' – ऐसी शंका भी नहीं रहती ।

भाई! तू स्वयं सर्वज्ञस्वभावी आत्मद्रव्य है । तू अपने उस आत्मद्रव्य में अन्तर्दृष्टि करके एकाग्र हो जा । ऐसा करने से तुझे अपने सर्वज्ञस्वभाव का – अकर्तास्वभाव का निर्णय हो जायेगा । समकिती को व्यवहार होता तो अवश्य है, परन्तु उसकी दृष्टि में कर्तृत्व की भावना नहीं रहती ।

सर्वज्ञ एवं क्रमबद्ध के निर्णय करने में पाँचों समवाय आ जाते हैं, जैसे:–

- जिस समय सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई, वह उसी काल में होनी थी, – यह उसका स्वकाल है ।
- जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, वह स्वभावसन्मुखता के पुरुषार्थ से हुई – यह पुरुषार्थ है ।
- वह सम्यग्दर्शन की पर्याय निज स्वभाव में एकाग्रता से हुई – यह स्वभाव आ गया ।

- सम्यग्दर्शन की पर्याय क्रमबद्धरूप से अपने काल में जो होना थी, वही हुई – यही भवितव्यता है ।
- सम्यग्दर्शन की पर्याय के काल में जो स्वयं कर्म के उपशमादि हुए, वह निमित्त है ।

– इसप्रकार पाँचों समवाय एकसाथ रहते हैं । ऐसा नहीं है कि स्वभाव के पुरुषार्थ बिना किसी को सम्यग्दर्शन हो जावे ।

अहो! वस्तु का स्वरूप और सर्वज्ञदेव! अद्भुत बात है भाई! इनका यथार्थ निर्णय हुआ नहीं कि सब बात समझ में आ जाती है । फिर कोई शंका नहीं रहती ।

सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है (सवैया तेईसा)

जो नर सम्यकवंत कहावत,
सम्यकग्यान कला नहि जागी ।
आतम अंग अबंध विचारत,
धारत संग कहै हम त्यागी ।।
भेष धरै मुनिराज-पटंतर,
अंतर मोह-महा-नल दागी ।
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी ।। ८ ।।

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,
लखै जगमैं विवहार सुपत्ता ।
साधि संतोष अराधि निरंजन,
देह सुसीख न लेइ अदत्ता ।।
नंग धरंग फिरै तजि संग,
छकै सरवंग मुधारस मत्ता ।
ए करतूति करै सठ पैं,
समुझै न अनातम-आतम सत्ता ।। ९ ।।

संवर द्वार

समयसार गाथा २०१-२०२

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ।।२०१।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।।२०२।।

परमाणुमात्रमपि खलु रागदीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ।।२०१।।
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽपिजानन् ।
कथं भवति सम्ग्दृष्टिर्जीवाजीवाजानन् ।।२०२।।

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति, स्वरूपपररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात् । ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति । यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवतिः सम्यग्दृष्टिः ।

अब शिष्य पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता? उसका उत्तर कहते हैं:—

अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव को ।
वो सर्वआगमधर भले ही, जानता नहिं आत्मा को ।।२०१।।
नहि जानता जहँ आत्मा को, अनआत्म भी नहि जानता ।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव-अजीव को नहिं जानता ।।२०२।।

गाथार्थः— [खलु] वास्तव में [यस्य] जिस जीव क [रागादीनां तु परमाणु मात्रम् अपि] परमाणुमात्र – लेशमात्र भी रागादिक [विद्यते] वर्तता है [सः] वह जीव [सर्वागमधरः अपि]

भले ही सर्वागम का धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो तथापि [**आत्मानं तु**] आत्मा को [**न अपि जानाति**] नहीं जानता; [**च**] और [**आत्मानम्**] आत्मा को [**अजानन्**] न जानता हुआ [**सः**] वह [**अनात्मानं अपि**] अनात्मा को (पर को) भी [**अजानन**] नहीं जानता; [**जीवाजीवौ**] इसप्रकार जो जीव और अजीव को [**अजानन्**] नहीं जानता, वह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है?

टीकाः— जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है। वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता; क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता— इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है। (जिसे अनात्मा का — राग का निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा— दोनों का निश्चय होना चाहिए ।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता, वह जीव और अजीव को नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है । इसलिये रागी (जीव) ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता ।

भावार्थः— यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह कहे गये हैं । और 'अज्ञानमय' कहने से मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी से हुए रागादिक समझना चाहिए, मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि को चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है, सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस राग के प्रति राग नहीं है । और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा है, सो इसका कारण इसप्रकार है:—सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभराग होता है सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता— उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता, और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है । इसलिए उसके लेशमात्र राग नहीं है ।

यदि कोई जीव राग को भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो; व्यवहार-चारित्र का पालन करता हो; तथापि यह समझना चाहिये कि उसने अपने

आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदयजनित राग को ही अच्छा मान रखा है, तथा उसी से अपना मोक्ष माना है । इसप्रकार अपने और पर के परमार्थस्वरूप को न जानने से जीव-अजीव के परमार्थ स्वरूप को नहीं जानता । और जहाँ जीव तथा अजीव – इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता वहाँ सम्यग्दृष्टी कैसा? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता ।

गाथा २०१-२०२ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ व्रत, तप, भक्ति आदि के राग को जो अज्ञानमय कहा है, उस अज्ञान का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है; बल्कि उस राग में चैतन्य के ज्ञान का अभाव है, अतः उसे अज्ञानमय कहा है । अहाहा......! भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु जलहलज्योतिस्वरूप चैतन्यबिम्ब है । ऐसे चैतन्यबिम्ब की किरण दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग के विकल्पों में नहीं है, इसलिए वे सब अज्ञानमय भाव हैं ।

जिसप्रकार सूर्य की किरण सफेद उज्ज्वल प्रकाशमय होती है, कोयला जैसी काली नहीं होती; उसीप्रकार चैतन्यसूर्य आत्मा की किरण (पर्याय) निर्मल चैतन्यमय होती है, रागमय नहीं होती । भाई! राग चाहे व्रत का हो, तप का हो, भक्ति का हो या दया-दान का हो, वह अंधकारमय अचेतन अज्ञानमय है; उसमें जानपने का अभाव है । जिसतरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान में चैतन्यज्योति की किरण है, उसीतरह राग में ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा की किरण नहीं है । इसकारण सभी राग अज्ञानमय हैं ।

अब कहते हैं कि जिसे रागादि अज्ञानमय भावों का लेशमात्र भी सद्भाव है अर्थात् जिसे अंशमात्र भी राग की रुचि है, वह चाहे श्रुतकेवली की भाँति क्षयोपशम ज्ञान का धनी हो, तो भी अज्ञानी है । देखो, मूल गाथा में पाठ है कि 'सव्वआगमधरोवि' अर्थात् वह 'सर्व आगमधर भले हो, जानता नहिं आत्मा को' । तात्पर्य यह है कि यद्यपि वह भगवान के द्वारा कहे गये आगम को पढ़ा है; तथापि राग से लाभ मानता है, आत्मा को जानता नहीं है; अतः अज्ञानी ही है ।

देखो, यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी राग को ही केवल राग में गिना गया है ।

जो भगवान की भक्ति से मुक्ति होना मानते हैं, वे भक्ति के राग का अस्तित्व तो मानते हैं; पर आत्मा को नहीं जानते, आत्मा का

अस्तित्व ही नहीं मानते। अरे भाई! राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यमय शुद्ध द्रव्य का पूर्णतया आश्रय ले, तव रागरहित दशा प्रगट होती है। तथा जब आत्मा को जान-पहचान कर उसमें प्रतीति करता है, तब मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी रूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यहाँ कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानी के भी भक्ति आदि का राग होता है, रहता है; परन्तु वे उसके ज्ञायक ही रहते हैं, राग करना अपना कर्त्तव्य नहीं मानते तथा उससे धर्मलाभ भी नहीं मानते; जबकि अज्ञानी राग से धर्मलाभ मानता है। बस, इसीकारण अज्ञानी उस राग का कर्ता कहा जाता है।

अहाहा.......! आत्मा शुद्ध चैतन्यज्योतिस्वरूप भगवान है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी आत्मसिद्धि में कहा है –

"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम।
बीजूं कहिये केटलुं, कर विचार तो पाम।।

शुद्ध अर्थात् परमपवित्र, बुद्ध अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड तथा चैतन्यघन अर्थात् असंख्यातप्रदेशी – इसप्रकार आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन कहकर उसको परमपवित्र, ज्ञान का घनपिण्ड तथा असंख्यात-प्रदेशी दर्शाया है। अहो! भगवान आत्मा क्षेत्र से असंख्यातप्रदेशी है और भाव से अनन्तगुणों का पिण्ड है। स्वयंज्योति अर्थात् किसी के द्वारा किया नहीं गया; अतः स्वयंसिद्ध है, ईश्वर है – दूसरा कोई उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। तथा अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान होने से सुखधाम है। अहा......! ऐसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति किसप्रकार हो? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि भक्ति आदि राग की क्रिया से उस आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि राग में ज्ञान नहीं है। यह आत्मा तो ज्ञानानंदस्वरूप में एकाग्रता द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान करने पर ही प्राप्त हो सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

'अमूल्य तत्वविचार' में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा कि भगवान! तू कौन है? कैसा है? तेरा स्वरूप क्या है? उसका तुझे जरा विवेकपूर्वक विचार करना चाहिए। मूल छन्द इस प्रकार है –

"मैं कौन हूँ आया कहाँ से और मेरा रूप क्या?
कर्त्तव्य सुखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिए
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिए।"

देखो, क्या कहा? जो स्वयं शान्तभाव से विवेकपूर्वक आत्मतत्त्व का विचार करता है, उसे आत्मज्ञान एवं आत्मानुभव अवश्य होता ही है ।

यह पद्य श्रीमद् राजचंद्रजी ने १६ वर्ष की उम्र में लिखा था । पर भाई! यह तो उनके देह की उम्र है, उम्र के साथ आत्मा का क्या सम्बंध? आत्मा तो अनादि-अनन्त सिद्ध समान ही है न? आत्मा का जन्म-मरण होता ही कहाँ है? जन्म-मरण तो देह के संयोग-वियोग को कहते हैं । आत्मा तो चैतन्य सत्तास्वरूप त्रिकाली भगवान है । ऐसे अपने शुद्ध चैतन्य सत्ता से विपरीत जो रागादि विकल्प हैं; वे चाहे व्रत के हों, तप के हों या भक्ति आदि के हों; पर वे आत्मा नहीं हैं ।

उन रागादिभावों को आत्मा या आत्मा के मानना एवं उनसे धर्मलाभ मानना मिथ्यात्व है । तात्पर्य यह है कि जिनको राग की रुचि है, उनको ज्ञानानन्दमय आत्मा की रुचि नहीं है । इसलिए उसको ज्ञानमय भाव का अभाव है । तथा ज्ञानमय भाव के अभाव के कारण वह अपने आत्मा को जानता नहीं है । यदि राग में अर्पित होवे तो अज्ञानी हो जाता है और यदि ज्ञानस्वभावी आत्मा में समर्पित होवे तो ज्ञानी हो जाता है ।

जो आत्मा को नहीं जानता, वह अनात्मा अर्थात् रागादि को भी नहीं जानता; क्योंकि जो स्वरूप से सत् है, वही पररूप से असत् हैं । सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा स्वरूप से सत् तथा पररूप से राग से असत् है। जो वस्तु स्वयं से अस्तिरूप है, वही परद्रव्य से नास्तिरूप है । अहो! स्वद्रव्य से सत् व परद्रव्य से असत् — ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है । इन दोनों से ही वस्तु का निश्चय होता है ।

कहते हैं कि जिसको रागादि से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप का ज्ञान नहीं है, उसको रागादि का भी ज्ञान नहीं होता; क्योंकि आत्मा स्वरूप से — चैतन्यस्वरूप से सत्स्वरूप है और पररूप से — रागरूप से असत् है । भाई! अपने रूप से आत्मा है तथा पररूप से वह अनात्मा है । जो पंचपरमेष्ठी जगत में हैं, उनसे भी आत्मा असत् हैं । उसीप्रकार जो पंचपरमेष्ठी स्वयं से सत् हैं तथा पर से असत् हैं । वे आत्मा से असत् हैं। इसलिए जिसको अपने सत् का यथार्थ ज्ञान नहीं है, उसको सत् से विरुद्ध राग का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है । जिसको निश्चय से निज परमात्मद्रव्य का ज्ञान नहीं है, उसको व्यवहार का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है ।

कहते हैं कि ज्ञानानन्दमय भगवान आत्मा स्वयं से है तथा रागादि परद्रव्य से नहीं है । इसप्रकार इन दोनों (अस्ति-नास्ति) के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है । इसप्रकार जिसको अपने स्वरूप का यथार्थ निश्चय हुआ, उसे दया, दान, व्रतादि के विकल्प पर – अनात्मा हैं, आत्मभूत नहीं हैं । ऐसा आत्मा व अनात्मा – दोनों का यथार्थ निर्णय हो जाता है । जो आत्मा को जानता है, वह अनात्मा को भी जानता है । तथा जिसे अनात्मा – राग का यथार्थ निर्णय हुआ, उसे आत्मा-अनात्मा – दोनों का निश्चय हो ही जाता है; क्योंकि जो राग को जानता है, वह रागरहित आत्मा मैं हूँ – ऐसा भी जानता है ।

प्रश्नः– श्री कुन्दकुन्दचार्यदेव ने इसी ग्रन्थ की १२वीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि जो व्यवहार में पड़ा है, उसे व्यवहार का उपदेश है । इसप्रकार उसको व्यवहार ही करने का उपदेश दिया है । चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान की निचली भूमिका में तो व्यवहार करने की ही मुख्यता है न ?

समाधानः– भाई! तू यह क्या कहता है? जिसको निज स्वरूप की दृष्टि और अनुभव सहित अपने भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से सम्यक्त्व हुआ है, उसकी पर्याय में कुछ अशुद्धता भी है । प्रगट शुद्धता व शेष जो अल्प अशुद्धता है – उन दोनों को जानना व्यवहार है । "व्यवहार करना या व्यवहार करने से लाभ होता है" यह प्रश्न ही कहाँ से लाये?

अरे ! जगत के जो जीव शास्त्र के अर्थ करने में ही भूल करते हैं, उनके लिए अपन क्या करें? "अपरमेट्ठिदा भावे" का अर्थ तो यह है कि जो अपरमभाव में स्थित हैं, उन्हें व्यवहार का उपदेश है । इसमें से यह अर्थ कहाँ निकलता है कि व्यवहार करना चाहिए । ऐसा अर्थ यहाँ है ही नहीं । टीका में इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्यवहारनय उस काल में जानने के लिए प्रयोजनवान है । वास्तव में तो वह अपनी पर्याय को ही जानता है, उस अपनी ज्ञानपर्याय में ही वह जानने में आ जाता है ।

"भगवान केवली लोकालोक को जानते हैं" – ऐसा जो शास्त्रों में कथन आता है, वह भी तो असद्भूत व्यवहारनय है । वस्तुतः तो भगवान सर्वज्ञदेव जिसमें लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है – ऐसी अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानते हैं । उसीप्रकार ज्ञानी राग को जानता है – ऐसा उपचार मे– व्यवहार से कथन है । 'राग करना चाहिए अथवा राग से लाभ होता

है' – वहाँ १२वीं गाथा में ऐसी बात ही कहाँ है? उस समय जितनी शुद्धता व राग की अशुद्धता प्रगट है, उसे जानना प्रयोजनवान है । बस, यह बात है । दूसरे-तीसरे समय में जो शुद्धि की वृद्धि हुई है तथा क्रमशः अशुद्धि की हानि हुई है, उसे उस समय मात्र जानना प्रयोजनवान है ।

अपनी नासमझ से कोई उल्टा अर्थ करे तो इसमें कोई क्या कर सकता है? जो अपनी शुद्ध चैतन्यसत्ता को नहीं जानता, वह इससे भिन्न रागादि अनात्मा को भी नहीं जानता । भाई! यह व्यवहार रत्नत्रय का राग भी अनात्मा है, अजीव है । जीव-अजीव अधिकार में इन्हें अजीव कहा है, जीव नहीं । इसलिए जो ऐसा मानता है कि व्यवहार रत्नत्रय से मुझे लाभ होता है तथा उससे निश्चय प्रगट होता है, वह अनात्मा व अजीव को अपना मानता है । इसकारण उसे आत्मा व अनात्मा – दोनों का ही यथार्थ ज्ञान नहीं है ।

कहते हैं कि सच्चिदानन्दमय भगवान आत्मा अनन्त गुणों का भण्डार है, उसके सन्मुख जिसकी दृष्टि नहीं है, उसका जिसको आश्रय नहीं है, तथा जो आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं – ऐसे राग में (व्यवहार में) जिसका आश्रय है, उसको आत्मा व अनात्मा का ज्ञान नहीं है । तथा उन दोनों का ज्ञान नहीं है तो फिर उसे जीव-अजीव का भी ज्ञान नहीं है ।

प्रश्न :– व्यवहार रत्नत्रय को अजीव कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर :– व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प राग है और जो राग है, वह अजीव है । यदि राग जीव हो तो वह जीव में से पृथक् कैसे हो सकता है? निकल ही कैसे सकता है? परन्तु वह व्यवहार रत्नत्रय का राग तो स्वरूप में स्थिर होते ही निकल जाता है । इसलिए वह जीव का स्वरूपभूत न होने से जीव नहीं है, अजीव है । अजीव अधिकार में भी उसे अजीव ही कहा है । जिसे अजीव का ज्ञान नहीं है, उसे उससे विरुद्ध जीव का भी ज्ञान नहीं है ।

रागी जीव को राग का राग है, राग की रुचि है, इससे उसको ज्ञान का – ज्ञानमयभाव का अभाव है । अर्थात् उसे आत्मा-अनात्मा के ज्ञान का – सम्यग्ज्ञान का अभाव है । अतः जो आत्मा-अनात्मा के ज्ञान से रहित है, वह मिथ्यादृष्टि है । अहाहा---! जिसे व्यवहार की रुचि है, वह रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं है ।

गाथा २०१ व २०२ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह कहे गये हैं। 'अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह' से मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी रागादिभाव समझना। मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह सम्बन्धी राग की यह बात नहीं है।

अहा! सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है। जिसप्रकार सकरकन्द में जो ऊपर की लाल छाल रहती है, वह सकरकन्द नहीं है; परन्तु अन्दर जो मिठास का पिण्ड है, वह सकरकन्द है। उसीप्रकार आत्मा में जो शुभाशुभ राग की वृत्तियाँ उठती हैं, उनसे भिन्न अन्दर जो अतीन्द्रिय आनन्द का कंद है, वह आत्मा है। ऐसे आनन्दकंद स्वरूप भगवान आत्मा में जो राग का विकल्प उठता है, वह मेरा है और उससे मुझे लाभ होता – ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्व सहित राग को ही यहाँ राग कहा गया है।

अरे बापू! तू तो अनन्त-अनन्त ज्ञान व आनंद व शान्ति का पिण्ड है। तू ऐसे निज आत्मद्रव्य की दृष्टि को छोड़कर बाह्य क्रियाकाण्ड के राग को अपना स्वरूप व उससे अपना लाभ मानकर महामिथ्यात्व में पड़ा है। इस मिथ्यात्व के फल में तुझे अनन्तकाल तक नरक-निगोद में बिताना पड़ेगा। बापू! यह महान कष्टकारक दुःख तुझसे सहा नहीं जायेगा। अतः यह अवसर चूकने जैसा नहीं है।

अरे! इस अज्ञानी जीव ने कभी अपने ऊपर कृपा नहीं की, अपनी दया नहीं पाली, अर्थात् जो स्वयं अनन्त ज्ञान व अनन्त सुख का पिण्ड प्रभू है, उसे पहचानकर इस अनन्त दुःख से छूटने का उपाय नहीं किया। तथा अनादि से राग की क्रिया को अपनी क्रिया मानकर मिथ्यात्व के सेवन मे स्वयं को दुःख के समुद्र में डुबो रखा है।

अज्ञानी ने अपनी दया तो पाली नहीं है और पर की दया पालने के भाव करता रहा। पर, भाई! पर की दया तो कोई पाल ही नहीं सकता। आत्मा पर का कर ही क्या सकता है? स्वद्रव्य, परद्रव्य का क्या करे? कुछ भी तो नहीं कर सकता। अरे, पर की दया पालने का भाव तो राग है और राग हिंसा है। तथा मैं पर की दया पाल सकता हूँ– ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व आत्मघाती होने से महाहिंसा है। यहाँ ऐसे मिथ्यात्व सहित राग को ही राग गिना गया है।

७२वीं गाथा में आया है कि पुण्य व पाप का भाव अशुचि है, जड़ है, तथा दुःखरूप है और भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि, विज्ञानघनस्वभावी होने से शुद्ध चैतन्यमय व दुःख का अकारण होने से आनन्दधाम प्रभु है ।

देखो, वहाँ ७२वीं गाथा में आत्मा को 'भगवान' कहकर पुकारा है । भगवान अर्थात् आत्मा । जो अरहंत व सिद्ध भगवान बन गये, यह उन भगवंतो की बात नहीं है । यह तो आत्मा स्वयं 'भग' अर्थात् अनन्तज्ञान व आनन्द की लक्ष्मी तथा 'वान' अर्थात् वाला – इसप्रकार ज्ञान व आनन्द स्वरूप आत्मा भगवान है । उसे पामर मानना व पुण्य-पाप के रागस्वरूप मानना मिथ्यात्व है ।

अहा! जिसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दकंद प्रभु आत्मा का स्वानुभव में स्वाद आया है, वह सम्यग्दृष्टि है । सम्यग्दृष्टि ने राग की रुचि छोड़कर चिदानन्दघन स्वरूप निज परमात्मद्रव्य में अन्तर्दृष्टि की है, इससे उसे आत्मा के अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है । उसके चारित्रमोह के उदयवश जो किंचित् राग होता है, उस राग की गिनती नहीं है; क्योंकि मुख्य पाप तो मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी ही है ।

चौथे-पाँचवें आदि गुणस्थानों में सम्यग्दृष्टि जीवों को जो चारित्र मोह के उदय संबंधी राग होता है, वह ज्ञानसहित है । ज्ञानी को वह राग अपने ज्ञान में भिन्न भासित होता है । उसे राग में किंचित् भी स्वामित्व नहीं है ।

भाई! आत्मा तो भगवानस्वरूप ही है । पर्यायदृष्टि को छोड़कर अन्तरस्वभाव-सन्मुख होकर देखें तो सभी आत्मायें सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान ही हैं । अहा---! जिसने ऐसे अपने स्वरूप में अन्तर्दृष्टि की, वह सम्यग्दृष्टि है और वह सम्यग्दृष्टि राग को कर्मोदय से हुआ रोग जानता है । सम्यग्दृष्टि को व्रत, नियम संबंधी व किंचित् विषय संबंधी भी राग आता है; परन्तु उसे वह सब राग, आग समान प्रतीत होता है । वह उसे नष्ट करना चाहता है ।

भाई! यह बहुत गंभीर बात है । इस गाथा के बाद जो कलश आयेगा उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो चैतन्यपद है, वह जीव का पद है अर्थात् जीव का लक्षण है, तथा जीव का स्थान है । इसके सिवाय रागादि 'अपद' है, अलक्षण है, अस्थान है । भाई! ये बड़े-बड़े महल-मकान तो अपद हैं ही, यहाँ तो दया-दान-भक्ति-व्रत-तप आदि के जो विकल्प उठते हैं, वे भी अपद हैं, अलक्षण हैं, अस्थान हैं- ऐसा कहा है ।

कुछ लोग ऐसा गर्व करते हैं कि देखो, हमारा ऐसा मकान है, ऐसा बंगला है, बगीचा है तथा हमने ऐसा तप किया, दान दिया, तीर्थयात्रायें की आदि; परन्तु भाई! इन सबमें कुछ भी तेरा नहीं है तथा दानादि व तपादि का राग जो तूने किया वह भी तेरा नहीं है– ये सब तो भगवान आत्मा को अपद है, अशरण है, अस्थान है। भगवान! यदि तू इनमें अटकता है तो तू अपद में अटकता है। तेरा पद तो चैतन्यपद है, जिसमें तू आजतक कभी आया ही नहीं है।

कविवर दौलतरामजी ने भजन में कहा है –

"हम तो कबहुँ न निजघर आये,
पर-घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।।हम तो०।।

मैं पुण्यवाला हूँ, दयावाला हूँ, मैं व्रतवाला, धनवाला, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब, बाल-बच्चोंवाला हूँ, इत्यादि प्रकार से यह अज्ञानी जीव न जाने अपने को कितने 'वाला' मानता है। अरे भगवान! यदि तुझे शरीर में एक 'वाला' (एकप्रकार का रोग) हो जावे तो तड़फ जाता है, और तूने ये कितने 'वाला' (स्वामित्व) अपना रखे हैं?

यदि कोई कहे कि वह 'वाला' (रोग) तो दु:खदाई है, पर ये 'वाला' तो सुखद संयोग है। उससे कहते हैं कि भाई! वह 'वाला' (रोग) तो एक जन्म में ही पीड़ा उत्पन्न करता है, पर ये पर में एकत्व-ममत्व के 'वाला' तो अनेक जन्मों में दु:खदायी है। अनेक जन्म-मरण करानेवाले हैं। देखो, ज्ञानी को राग के प्रति राग नहीं है। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं है – परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई है, वहाँ तक ज्ञानी के भी विकल्प उठते हैं, व्यवहार का राग है, परन्तु उसके जीवन में निम्नांकित तीन बातों से विशेषता आ जाती है।

(१) उसे जो राग उत्पन्न होता है, उसे वह रोग मानता है।
(२) तथा वह उस राग का नाश करना चाहता है।
(३) और उसे राग का राग नहीं होता है।

अब कहते हैं कि जिसे आत्मज्ञान या सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, उसे जबतक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक राग उत्पन्न तो होता है; परन्तु वह उसे किंचित् भी भला अर्थात् हितकारी नहीं मानता। देखो, यह वीतरागता का मार्ग और यह वीतरागी की आज्ञा। भाई! वीतरागता का मार्ग तो वीतरागभाव से ही प्रगट होता है, राग से नहीं।

अशुभराग तो समकिती के गौण है अर्थात् ज्ञानी को विषयवासना का राग क्वचित् किंचित् आता है, परन्तु वह गौण है । तथा उसे जो शुभ राग आता है, उसे भी वह किंचित् भी भला नहीं मानता । अहा! जिसने अपने भगवान चिदानन्दघनस्वरूप निज आत्मा को भला जाना तथा उसका आश्रय किया, वह शुभराग को अब भला कैसे मान सकता है? यद्यपि अन्दर में राग है, पर उस राग के प्रति उसे लेशमात्र भी राग नहीं है । जहाँ अन्तर में चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का आदर आया, वहाँ शुभाशुभ राग के प्रति आदर नहीं रहता ।

व्रत, तप व भक्ति आदि जैसे भूमिकानुसार होना चाहिए, वैसे ही होते हैं; परन्तु उनके प्रति उपादेयभाव नहीं रहता । निश्चय से तो उसे राग का स्वामित्व ही नहीं है । देखो, यह धर्मात्मा! धर्मी कहते ही उसे हैं, जिसको राग का स्वामित्व नहीं रहता ।

प्रश्नः– तो क्या स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना व कहना मिथ्या है?

उत्तरः– भाई! यह स्त्री, पुत्र, पैसा, मकान मेरा है – यह मानना तो निरीमूर्खता ही है । यह तो मिथ्यादृष्टि की मान्यता है । जहाँ भगवान आत्मा से अपना शरीर ही भिन्न है, वहाँ ये स्त्री-पुत्रादि तेरे हैं, यह बात कहाँ से आई? इन सबका तेरे में अभाव है और तेरा इन सबमें अभाव है । तो यह सब तेरे कैसे हो सकते हैं? बापू! यह सब तो संयोगों को जानने-पहचानने की रीति है कि ये पिता-माता हैं, ये स्त्री-पुत्रादि है । वस्तुतः देखा जाय तो कौन किसका पिता व कौन किसका पुत्र? सब चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा हैं ।

यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी अपने शुभराग को भी स्वामीपने से अपना नहीं मानता।

प्रश्नः– जब ज्ञानी व्रतादि को किंचित् भी भला नहीं मानता तो उसमें जो अतिचार लगते हैं, उनका वह प्रायश्चित क्यों करता है?

समाधानः– भाई! ज्ञानी व्रतादि के राग को किंचित् भी भला नहीं मानता, यह तो बराबर ऐसा ही है; पर उसे भी भूमिकानुसार उसप्रकार के व्रतादि पालन करने का राग तो आता ही है। तथा कभी-कभी उनमें अतिचार भी लग जाता है। अतः उसे दोष जानकर टालता भी है। इसी का नाम प्रायश्चित है। वहाँ जो प्रायश्चित का विकल्प आता है, वह शुभभाव है, उसे आचार्यदेव ने मोक्ष अधिकार गाथा ३०६ में विषकुंभ

कहा है। भाई! विषयवासना का परिणाम तो जहर है ही, प्रतिक्रमण का शुभभाव भी जहर ही है। यह मर्म अज्ञानी नहीं जानता, अतः वह शुभराग से धर्म हुआ मानकर क्रियाकाण्ड में अटका रहता है। बापू! ये राग तेरा शरणभूत नहीं है। एकमात्र रागरहित नित्य ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। ज्ञानी भी शुद्धचैतन्य स्वभाव के आश्रय से ही दोषों को टालता है तथा वही उसका यथार्थ प्रायश्चित है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी राग के प्रति लेशमात्र भी राग नहीं करता। तथा निश्चय से तो उसे राग का स्वामित्व ही नहीं है। ज्ञानी को जो राग होता है, उसका वह धनी ही नहीं है।

अज्ञानी जीव कर्मोदयजनित राग को ही ठीक मानता है और उससे ही मोक्ष होगा – ऐसा मानता है। बापू! राग तो कर्म के उदय के निमित्त से हुआ औपाधिक भाव है, वह आत्मा से उत्पन्न हुआ स्वभाव नहीं है। धर्म तो स्वभावभाव है। यहाँ तो यह बात ४२ वर्ष पहले से चल रही है। यह समयसार प्रवचन में १८वीं बार चल रहा है। इसकारण इसकी एक-एक पंक्ति व एक-एक शब्द का स्पष्टीकरण हो चुका है। परन्तु क्या करें? जगत तो जहाँ जिस सम्प्रदाय में पड़ा है, वहाँ से खिसकना ही नहीं चाहता। कदाचित् वहाँ से हटता भी है तो रागादि में कहीं न कहीं बाहर ही अटक जाता है। परन्तु भाई! धर्म तो रागरहित वीतरागतामय ही है और वीतरागता का मार्ग एक दिगम्बर जैनधर्म के सिवाय अन्यन्त्र कहीं भी नहीं है। राग को भला जानकर राग का ही आचरण करना वीतरागता का मार्ग नहीं है।

भाई! ऐसा जो यह मनुष्य भव और उत्तम अवसर मिला है, इसमें यदि आत्मा की बात, धर्म प्रगट करने की बात नहीं समझी तो फिर कब समझेगा? और तेरी क्या गति होगी? जब यह भव समाप्त हो जायेगा, तब तू कहां जायेगा? जरा इसका भी तो गंभीरता से विचार कर। यह विनाशीक देह तेरी नहीं है। तू तो अविनाशी तत्त्व है। यदि तूने अपने को नहीं जाना और राग में ही तेरी रुचि रही तो नरक-निगोद में रखड़ता हुआ अनन्तकाल तक मिथ्यात्व दशा में अनन्त आकुलता में ही रहना पड़ेगा, क्योंकि राग की रुचि व मिथ्यात्व का फल ही ऐसा है, इसमें कोई कर ही क्या सकता है?

प्रश्नः– जब ज्ञानी शुभभाव को हेय मानता है तो फिर वह शुभभाव करता ही क्यों हैं?

समाधानः— पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण ज्ञानी को दया, दान, भक्ति आदि का शुभभाव आता है — होता है; परन्तु वह ऐसा नहीं मानता कि इन्हें मैं करता हूँ या ये मेरे कार्य हैं। शुभभावों का होना जुदी वात है और उन्हें भला मानकर उनमें कर्तृत्त्व व स्वामित्व होना बिलकुल जुदी वात है। ज्ञानी शुभभाव करता व आचरता नहीं है; उसके उसका स्वामित्व नहीं है, अतः उसके लेशमात्र भी राग नहीं है।

देखो, यहाँ कहते है कि भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप ज्ञानानंदमय परमसुखधाम है, जबकि राग का स्वरूप विकार व दु:खरूप है। जिसने राग को भला जाना, उसने राग व पर को यथार्थरूप से जाना ही नहीं है। तथा रागरहित अपने आत्मा को भी नहीं जाना। इसप्रकार अपने को व पर को नहीं जानते हुए वह जीव व अजीव को भी परमार्थतः नहीं जानता। इसकारण रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। अर्थात् राग के रागवाला — राग का रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि के राग तो रह सकता है, हो भी सकता है; पर रागवाला अर्थात् राग के स्वामित्ववाला जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

(मन्दाक्रान्ता)

अव इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं,जिस काव्य के द्वारा आचार्यदेव अनादिकाल से रागादि को अपना पद जानकर सोये हुए रागी प्राणियों को उपदेश देते हैं :—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतःस्थायिभावात्वमेति।।१३८।।

श्लोकार्थः— (श्री गुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधन करते हैं कि) [**अन्धाः**] हे अन्ध प्राणियों! [**आसंसारात्**] अनादि संसार से लेकर [**प्रतिपदम्**] पर्याय-पर्याय में [**अमी रागिणः**] यह रागी जीव [**नित्यमत्ताः**] सदा मत्त वर्तते हुए [**यस्मिन् सुप्ताः**] जिस पद में सो रहे हैं [**तत्**] वह पद अर्थात् स्थान [**अपदम् अपदं**] अपद है-अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है) [**विबुध्यध्वम्**] ऐसा तुम समझो। (अपद शब्द को दो बार कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है।) [**इतः एत एत**] इस ओर आओ, इस ओर आओ, (यहां निवास करो,) [**पदम् इदम् इदं**] तुम्हारा पद यह है, यह है, [**यत्र**] जहाँ [**शुद्धः शुद्धः चैतन्यधातुः**]

शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु [स्व-रस-भरतः] निज रस की अतिशयता क कारण [स्थायिभावत्वम् एति] स्थायीभावत्व को प्राप्त है अर्थात स्थिर है– अविनाशी है (यहाँ 'शुद्ध शब्द दो बार कहा है जो कि द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता को सूचित करता है। समस्त अन्यद्रव्यों से भिन्न होने के कारण आत्मा द्रव्य से शुद्ध है और पर के निमित्त से होने वाले अपने भावों से रहित होने से भाव से शुद्ध है।)

भावार्थः– जैसे कोई महान पुरुष मद्यपान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो, उसे कोई आकर जगाये और सम्बोधित करे कि 'यह तेरे सोने का स्थान नहीं है; तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातु से निर्मित है, अन्य कुधातुओं के मिश्रण से रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है। इसलिये मैं तुझे जो बतलाता हूँ, वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनन्दित हो," इसीप्रकार ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादि को भला जानकर, उन्हीं को अपना स्वभाव मानकर, उसी में निश्चित होकर सो रहे हैं– स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं – जगाते हैं – सावधान करते हैं कि 'हे अन्ध प्राणियो ! तुम जिस पद में सो रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाह्य में अन्य द्रव्यों की मिलावट से रहित तथा अन्तरंग में विकार रहित शुद्ध और स्थायी है; उस पद को प्राप्त होओ – शुद्ध चैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो" ।।१३८।।

कलश १३८ पर प्रवचन

इस कलश में श्रीगुरु ने संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे अन्धप्राणियो! तुम अपने त्रिकाली शुद्ध ज्ञानानन्दमय निर्मलानन्द के नाथ प्रभु को नहीं देखते; इसलिए नेत्रवाले होते हुए भी तुम अन्धे ही हो। तुम शरीर, धन, लक्ष्मी, आदि बाह्य वस्तुओं में ही उन्मत्त हुए– मूर्छित हुए अपने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को नहीं देखते। हम तुम्हें अन्धा नहीं कहें तो तुम्हीं बताओ क्या कहें? यदि तुम्हें यह संबोधन अच्छा नहीं लगता हो तुम अपने विवेक के नेत्र से – भेदज्ञान के चक्षुओं से अपने स्वरूप का अवलोकन करो।

देखो, गाथा ७२ में आचार्य देव ने भगवान कहकर सम्बोधन किया और यहाँ अंधा कहकर संबोधित किया है। ऐसा क्यो ?

भाई! आत्मा तो सदा सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। आत्मा स्वभाव से तो सदैव परमात्मस्वरूप ही है, अतः स्वभाव की अपेक्षा तो

वहाँ गाथा ७२ में भगवान कहा और यहाँ स्वयं की वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव तथा उनके फल में उन्मत्त होकर वर्त रहा है और अपने नित्यानन्द स्वभाव को देखता नहीं है – इस अपेक्षा अन्धा कहा है। दोनों ही कथनों में आचार्यदेव का उद्देश्य परसन्मुखता से हटाकर स्वरूप की दृष्टि कराना है ।

रागी जीव अनादिकाल से पर्याय में ही मत्त रहता हुआ जिस पद में सो रहा है, वह पद अपद है। ये पुण्य के भाव एवं उसके फल में प्राप्त देवपद, राजपद, सुन्दर शरीर एवं सबल इन्द्रियाँ आदि सब अपद हैं। भाई! तू जिन इन्द्रियों की, वाणी की, देह की एवं महल-मकानादि बाह्य पदार्थों की दिन-रात संभाल करता है तथा जिस राजकीय और सामाजिक पदों के लिए संघर्ष करता है, वे सब अपद हैं। उन 'अपद' पदों में कहाँ शरण है? बापू! ये नाशवान वस्तुयें तेरे रहने एवं उठने-बैठने के स्थान नहीं हैं, यहाँ 'अपद' शब्द जो दो बार कहा है, उससे करुणाभाव प्रगट किया है।

जिसप्रकार कोई राजा दारू (शराब) पीकर कहीं राजमार्ग पर पड़ा हो और उसे इसतरह पड़ा देखकर कोई सज्जन पुरुष कहे कि हे राजन्! तुम्हारे सोने का स्थान तो राजमहल है, तुम यह क्या करते हो? यहाँ ऐसे क्यों पड़े हो? उसीप्रकार यहाँ मोहरूपी शराब पीकर उन्मत्त हुए अज्ञानी से आचार्य कहते हैं कि अरे भाई! तू जहाँ सो रहा है, वह तो अस्थान है। इधर आ, इधर आ, वहाँ इसतरह पड़ा मत रह। अन्य सर्व का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वरूप में आ ।

अत्यन्त करुणा से भरे आचार्य अज्ञानी को अपद से निकालकर स्वपद में आने के लिए बारम्बार प्रेरणा करते हैं। कहते हैं कि इस ओर आओ! इस तरफ आओ! यहाँ निवास करो, क्योंकि तुम्हारा पद तो यह है। इसमें उन्होंने तीन बातें कहीं—

(१) पुण्य-पाप व उसके फल अपद हैं।

(२) इधर आओ और यहाँ अपने स्वरूप में निवास करो। तथा—

(३) तुम्हारा पद यह है, अर्थात् निज शुद्धात्मा ही तुम्हारा यथार्थ पद है।

देखो, जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु है, वहीं तेरा स्वपद है। यहाँ 'शुद्ध-शुद्ध' ऐसा दो बार कहा, उसका मतलब यह है कि द्रव्य शुद्ध व पर्याय भी शुद्ध है अथवा द्रव्य व गुण – दोनों शुद्ध हैं। यदि पर्याय लें तो

त्रिकाली कारणशुद्धपर्याय लेना चाहिए। अहाहा---! जिसने मात्र चैतन्यपना धारण कर रखा है और पुण्य-पापरूप राग को धारण नहीं किया, वह चैतन्यधातु है। आचार्य कहते हैं कि निजरस की अतिशयता से जो स्थिर है– ऐसी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु जहाँ है, वह आत्मा तेरा स्वपद है, उसमें तू निवास कर। अहाहा---! आत्मा निजरस की अतिशयता से भरा है। इसके चैतन्यरस में, आनन्दरस, ज्ञानरस, शान्तरस, वीतरागतारस, स्वच्छतारस, प्रभुतारस आदि अनन्तगुणों के रस एकरूप से भरे हैं। अहो! आत्मा में निजरस की अतिशयता अर्थात् विशेषता है।

'स्वरस भरत:' अर्थात् भगवान आत्मा निजशक्ति के रस से भरा है। अहाहा---! अनन्त गुण रस के पिण्ड प्रभु आत्मा में चैतन्यरस, आनन्दरस भरा है। अनन्त अस्तित्व एवं वस्तुत्व का आनन्दरस, जीवत्व का आनन्दरस, ज्ञान-दर्शन का आनन्दरस – ऐसे अनन्तगुणों के आनन्दरस से भगवान आत्मा भरा हुआ है। तथा वह आत्मा निजरस की अतिशयता से स्थिर अविनाशी है, त्रिकाल स्थायीरूप से रहनेवाला है। शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, स्त्री-पुत्र-परिवार व पुण्य-पाप के भावों की भाँति क्षणिक – नाशवान नहीं है।

ऐसा त्रिकाली ध्रुवधाम भगवान आत्मा तेरा निजपद है। आचार्य कहते हैं कि सर्व अपदों को छोड़कर एक इस निजपद में आ जा। इससे तू जन्म-मरण से रहित हो जायेगा। भाई! यह चैतन्यपद ही तेरा ध्रुवपद है। उसे भूलकर तू अपद में कहाँ सो रहा है? जाग नाथ! जाग और अपने ध्रुव पद में आ जा, उससे तुझे मोक्ष पद की प्राप्ति होगी ।

इसी बात का विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं कि जो 'शुद्ध शुद्ध' दो बार कहा, वह द्रव्य व भाव दोनों की शुद्धता को सूचित करता है अर्थात द्रव्य शुद्ध है तथा भाव भी शुद्ध है। देखो, भगवान का द्रव्य तो शुद्ध है ही, भगवान का भाव भी शुद्ध है। यहाँ भाव का अर्थ पुण्य-पाप रूप भाव ग्रहण नहीं करना, वे तो अशुद्ध, मलिन व दुःखरूप भाव हैं। भाववान भगवान आत्मा का भाव तो शुद्ध ज्ञान, आनन्द आदि है तथा वही तेरी निजी वस्तु है। तथा वे ही स्थायीभाव हैं, अनादि-अनंत-स्थिररूप हैं। उनमें हल-चल नहीं है। अहा! प्रभु! तेरा ध्रुवधाम ऐसा है। अतः तू परधाम को छोडकर अपने ध्रुवधाम में आ जा।

अब द्रव्य-भाव का स्पष्टीकरण करते हैं– समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न होने से आत्मा द्रव्य से शुद्ध है तथा पर के निमित्त से होनेवाले

अपने भावों से रहित होने से भावों से शुद्ध है। देखो, पुण्य-पाप के भाव पर्याय में होते हैं, इसलिए 'अपने भावों' से कहा है। परन्तु वे ज्ञानादि की भांति अपने भाव नहीं हैं।

देखो, देवों ने द्वारका नगरी श्रीकृष्णजी के लिए रची थी। जिसे देवों ने रचा था, वह नगरी कितनी सुन्दर होगी? इसकी कल्पना करना भी कठिन है। ऐसी मनोहर नगरी जब आग लगने से भस्म हुई होगी, तब लाखों करोड़ों व्यक्ति भी भस्म हुए ही होंगे। परन्तु उसे कोई बचाने नहीं आया। उस समय जब श्रीकृष्ण व बलदेव अपने माता-पिता को रथ में बिठाकर बाहर निकाल रहे थे तब ऊपर से आवाज आई कि मां-बाप को छोड़ दो, तुम दोनों के सिवाय कोई नहीं बचेगा। अहा! जिनकी हजारों देव सेवा करते थे, वह श्रीकृष्ण व बलदेव भी मां-बाप को उस ज्वाला में नष्ट होते देख रहे थे; पर उन्हें बचा नहीं सके; विलाप करते रह गये। अरे भाई! नाशवान वस्तु को उसके नाश के काल में कौन बचा सकता है? जो समय देह के छूटने का है, उस काल में देह छूटेगी ही। उसे कोई नहीं बचा सकता। बापू! जगत में कोई अन्य शरण नहीं है। देखो न! अन्दर महलों में रानियाँ चीत्कार करके पुकार रही थीं कि हे कृष्ण ! तुम हमें इस धधकती ज्वाला से बाहर निकाल लो; परन्तु कौन किसको निकाले? तीन खण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण उन सबको देखते रह गये, वे सब उनके देखते-देखते भस्म हो गये।

. श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलदेव को पुकारते हैं कि भाई! अब अपन लोग कहाँ जायेंगे? यह द्वारिका तो भस्म हो गई। अहा! समय तो देखो, जिनकी अभी देवता सेवा करते थे, वे वासुदेव पुकार करते हैं, कहते हैं कि अपन लोग कहाँ चलें? दुःख में विलाप करते हुए जब वे दोनों ही भाई कौसाम्बी के वन में पहुंचे, तो थके हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि भाई! अब तो मुझसे एक कदम भी नहीं चला जाता। तब बलभद्र ने कहा— तुम यहीं ठहरो, मैं पानी भरकर लाता हूँ। पर पानी तो दूर-दूर तक दिखाई ही नहीं देता, बिचारा पानी लावे तो लावे कहाँ से? परन्तु फिर भी उधर बलदेव पानी की खोज में आगे गये और इधर श्रीकृष्ण के साथ जो कुछ घटा, वह प्रेरणा लेने जैसी घटना है। अहा! जो भगवान की दिव्यध्वनि में आया, वह हुआ। भगवान की वाणी में आया था कि श्रीकृष्ण की मृत्यु जरतकुमार के हाथ से होगी। इसीकारण तो वह बिचारा जरतकुमार पिछले बारह वर्ष से छिप कर जंगल में दूर रह रहा था कि वह श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण न बन जाये। पर होनी को कौन

टाल सकता है? जब, जो, जैसा, जिस निमित्त से होना होता है, तब वे सभी कारण कलाप मिल जाते हैं।

श्रीकृष्ण यहाँ जंगल में पैर पर पैर रखकर सो रहे थे। जरतकुमार ने दूर से देखा कि यह कोई हिरण है। हिरण समझकर उसने हिरण का शिकार करने के लिए तीर चलाया, जो श्रीकृष्ण में लगा। जब नजदीक आकर देखा तो वह भारी खेद-खिन्न हुआ और विचार करने लगा कि अरे! भाई! तुम इस समय यहाँ? मैं बारह वर्ष से केवल इसलिए जंगल में रह रहा था कि केवलज्ञानी ने मेरे बाण से तुम्हारी मृत्यु कही थी, अतः इतने दूर रहूँगा कि तुम्हारी मृत्यु मेरे बाण से न हो सके। तब श्रीकृष्ण ने कहा– भाई! ले यह कौस्तुभ मणी और पाण्डवों के पास चला जा। वे तुझे वहाँ रख लेंगे, क्योंकि यह मेरा चिन्ह है।

जरतकुमार तो वहाँ से चला गया और श्रीकृष्ण की देह छूट गई। उस कौसाम्बी वन में श्रीकृष्ण अकेले मरणासन्न अवस्था में पड़े, कोई वहाँ उनका शरण-सहारा नहीं था। बापू! इस अपद में शरण है ही कहाँ? भाई! वासुदेव के पद भी अपद है, अशरण है। इसीकारण तो आचार्यदेव ने ऊँची से ऊँची भाषा में पुकार कर कहा है कि यहाँ आओ, यहाँ आओ, यहाँ तुम्हें तुम्हारी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु ! निजरस की अतिशयता से स्थिरभाव को प्राप्त है।

कलश १३८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जिसने मद्यपान किया हो, उसे हिताहित का विवेक नहीं रहता, वह कहीं भी पड़ा रहता है। वह तो विष्टा के ढेर पर भी गिर जाये तो उसे कुछ भी पता (होश) नहीं रहता। उसे कोई जागृत करके कहे है कि भाई! तेरा सिंहासन तो सुवर्णमय धातु का बना है। तथा वह अन्य कुधातु के मेल से रहित शुद्ध है और वह अत्यन्त मजबूत भी है। तू इस कुस्थान में क्यों पड़ा है। चल मैं तुझे तेरा वह स्वर्णमय सिंहासन बताता हूँ। तू वहाँ जाकर अपने उच्च स्थान पर बैठ और अपने सुन्दर शयनागार में विश्राम करके सुखी हो। इस दुःख में क्यों पड़ा है?

यह तो दृष्टान्त है, इसीप्रकार संसारी प्राणी अनादिकाल से निगोद से लेकर रागादि (शुभाशुभ) भाव को भला जानकर तथा उसे ही अपना स्वरूप जानकर उसी में निश्चित भाव से सोता है, मग्न रहता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि अशुभभाव व दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि शुभभाव–दोनों ही विकार हैं; परन्तु अज्ञानी उन्हें स्वभाव मानकर उन्हें

में सोता रहा है, मग्न है। अहाहा! अपना स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानानन्दमय है, परन्तु उसे उसकी खबर नहीं है। इसीकारण वह शुभाशुभ भाव को अपना स्वभाव मानता है।

जिसतरह कोई सन्निपात का बीमार सन्निपात में दाँत किटकिटाता है, उसीप्रकार अज्ञानी को मिथ्यात्व का सन्निपात है। उसे श्रीगुरु करुणा करके सम्बोधन करते हैं। भाई! क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता कि तुम कहाँ सो रहे हो? तुम्हारा पद तो चैतन्यधातुमय है।

आत्मा तो शुद्ध चिदानन्द प्रभु परमात्मस्वरूप है। भगवान की भक्ति आदि के शुभभाव उससे विरुद्धभाव हैं, विभाव हैं; इसलिए वे अपद हैं। भाई! ऐसी बात तो एकमात्र वीतराग शासन में ही मिल सकती है। जैन परमेश्वर ही ऐसा कहते हैं कि यदि तू हमारे सामने ही देखा करेगा और हमारी भक्ति, स्तुति, पूजा आदि ही करता रहेगा, इसी में अटका रहेगा तो तू मूढ़ है—मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि हम तेरे लिए परद्रव्य हैं और परद्रव्य की ओर की वृत्ति से जीव की दुर्गति होती है।

मोक्षपाहुड़ की गाथा १६ में स्पष्ट कहा है कि 'परदव्वाओ दुग्गई' अर्थात् परद्रव्य में वृत्ति का जाना दुर्गति है। वह चैतन्य की गति नहीं है। तथा स्वद्रव्य की ओर के झुकाव से सुगति अर्थात् मुक्ति होती है। बापू! स्वद्रव्य के सिवाय अन्य कहीं भी तेरा उपयोग जायेगा, वह सब दुर्गति ही है। भले पुण्य से स्वर्गादिक मिलते हों, परन्तु वह सब दुर्गति ही है, उसमें सुख नहीं है। स्वर्गों में भी जीव राग के क्लेश को ही भोगता है। भाई! राग चाहे पुण्य हो या पाप—दोनों दुःख ही हैं। अतः हमें दोनों पर से दृष्टि उठाकर निर्मलानन्द चैतन्यमूर्ति, रागरहित, निर्विकारी भगवान आत्मा पर अपने उपयोग को स्थिर करना चाहिए। बस, यही एक काम करने योग्य है।

हे भगवान! तू स्वभाव से तो अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत से भरा अकेला अमृत का सागर है; परन्तु परद्रव्य के संयोग से, परद्रव्य की ओर के झुकाव से उत्पन्न यह इन्द्रियों का सुख तो दुःख का—जहर का प्याला है। आत्मा से विरुद्ध जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी जहर हैं तथा ये भाव ठीक हैं— ऐसा हर्ष का भाव भी जहर है। अतः यह तेरे ठहरने का—रहने का स्थान नहीं है, यह तो तेरे लिए अपद है। तेरा पद तो अन्तर में विराजमान शुद्ध चैतन्य धातुमय है। वहाँ जा, उसमें निवास कर! भाई, जो तेरा स्वपद है, वह चिदानन्दघन प्रभु आत्मा बाहर में अन्य द्रव्य की

मिलावट विना तथा अन्दर में पुण्य-पाप भाव के विकार से रहित सदा ही शुद्ध है। ऐसे केवल चैतन्य-चैतन्यमात्र अपने अविनाशी निज आत्मद्रव्य में निवास कर! वही तेरा स्वपद है।

अहा! अनाकुल शान्त रस का पिण्ड प्रभु आत्मा शुद्ध ज्ञायक तत्त्व है, और पर के आश्रय से अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के भाव आस्रवतत्त्व हैं। वह आस्रवतत्त्व ज्ञायकभाव से विरुद्ध एवं दुःखरूप होने से नाश करनेयोग्य है तथा एक ज्ञायकभाव ही आश्रय करनेयोग्य है, क्योंकि ज्ञायक स्वभाव का आश्रय करने से आस्रव के अभावरूप संवर, निर्जरा व मोक्ष प्रगट होता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का आश्रय कर। इसी में ठहर और इसी को प्राप्त कर।

तथा वह चैतन्य धातु स्थाई है। ये शुभाशुभभाव तो अस्थाई हैं, नाशवान हैं, कृत्रिम व दुःखरूप हैं और ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा सदैव स्थायी, अविनाशी, अकृत्रिम और सुखधाम है। मैं ऐसा ही ज्ञायक आत्मा हूँ। विचारा अज्ञानी क्या करे? उसे यह बात कभी सुनने को ही नहीं मिली, इसलिए कहते हैं कि भाई! तूने अनन्तकाल से राग का ही आश्रय किया है, इसकारण तू अबतक दुःख ही भोगता रहा है। अब तू शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का आश्रय कर! वही तेरा निजपद है, सुख का पद है।

भाई! भाषा तो सादी है, पर भाव बहुत गंभीर है। अनादि-अनंत त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर परमात्माओं की एकमात्र यही पुकार है कि भाई! यदि तुझे सुखी होना हो तो अन्तर में जा, तेरे ही अन्तर में सुख का निधान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य महाप्रभु परमात्मस्वरूप से साक्षात् विराजमान है। उसीं का आश्रय कर। तुझे अवश्य ही तेरे निजपद की प्राप्ति हो जायेगी।

समयसार गाथा २०३

किं नाम तत्पदमित्याह

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण।।२०३।।

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन।।२०३।।

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः, ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः नित्यः, अव्यभिचारी भावाः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम्।

अब यहाँ पूछते हैं कि गुरुदेव! वह पद क्या है? उसका उत्तर कहते हैं:—

जीव में अपद्भूत द्रव्य-भाव को, छोड़े ग्रहो तू यथार्थ से।
थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से।।२०३।।

गाथार्थ :— [**आत्मनि**] आत्मा में [**अपदानि**] अपदभूत [**द्रव्यभावान्**] द्रव्य-भावों को [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**नियतम्**] निश्चित, [**स्थिरम्**] स्थिर, [**एकम्**] एक [**इमं**] इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) [**भावम्**] भाव को— [**स्वभावेन उपलभ्यमानं**] जो कि (आत्मा के) स्वभावरूप मे अनुभव किया जाता है, उसे [**तथा**] (हे भव्य!) जैसा है वैसा [**गृहाण**] ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।)

टीका :– वास्तव में इस भगवान आत्मा में बहुत से द्रव्य-भावों के मध्य में से (द्रव्य-भावरूप बहुत से भावों के मध्य में से), जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुये (आत्मा के स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभव में आते हुए), अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सब स्वयं अस्थाई होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं हो सकने योग्य होने से अपदभूत हैं; और जो तत्स्वभाव से (आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थाई होने से स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकने योग्य होने से पदभूत है। इसलिये समस्त अस्थायीभावों को छोड़कर, जो स्थाईभावरूप है– ऐसा परमार्थरूपसे स्वाद में आनेवाला यह ज्ञान एक ही आस्वादन के योग्य है।

भावार्थ :– पहले वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे, वे सब, आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारीभाव हैं। आत्मा स्थायी है (–सदा विद्यमान है) और वे सब भाव अस्थायी हैं; इसलिये वे आत्मा का स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्मा का पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायीभाव है, इसलिये वह आत्मा का पद है। वह एक ही ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।

गाथा २०३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि वस्तुस्वरूप से तो आत्मा सदैव भगवानस्वरूप ही है; परन्तु आत्मा में अतत्भाव से अनुभव में आते हुए जो परद्रव्य व परभाव हैं, वे अपदभूत हैं।

अहा! अन्दर में जो पुण्य-पाप के भावरूप परभाव हैं, वे अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हैं, वे भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। भाई! ये पंचमहाव्रत के परिणाम, दया-दान-भक्ति आदि के परिणाम अतत्भाव से अनुभव में आते हैं। लोक जिन्हें धर्म माने बैठे हैं, आचार्य उन भावों को यहाँ अतत्स्वभाव से हैं – ऐसा कह रहे हैं।

भाई! ऐसी बात एक दिगम्बर मत के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्य सब तो गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें समकित तो है ही नहीं, परन्तु अगृहीत के साथ गृहीत मिथ्यात्व भी है। जिनकी स्थानकवासी मत व श्वेताम्बर मत की मान्यता है, उन्हें समकित नहीं हो सकता। यद्यपि यह

बात कठोर है, पर सत्य है। तथा दिगम्बर में भी केवल नग्नता व पंचमहाव्रत के परिणाम मुनित्व का लक्षण नहीं है। जो उद्दिष्ट आहार लेते हैं, उन्हें महाव्रत भी यथार्थ नहीं है। पण्डित दीपचन्दजी ने भाव दीपिका में लिखा है कि "मैं देखता हूँ तो मुझे वर्तमान में कोई साधु आगम की श्रद्धावाला दिखाई नहीं देता तथा कोई वक्ता भी आगमानुसार बात करता नजर नहीं आता। तथा मैं यदि मुखसे सत्स बात कहने का प्रयत्न करूँ तो कोई मानता नहीं है, इसलिए मैं तो लिखकर रखे जाता हूँ कि सत्य मार्ग यह है। इसके सिवाय जो व्यक्ति इससे विपरीत कथनी करता है, वह सत्यार्थ नहीं है।"

२५० वर्ष पहले समाज की ऐसी दशा थी। आज भी बहुत से लोग सत्य बात सुनने को तैयार नहीं है, तभी तो विरोध करते हैं। फिर भी काल पका है और बहुत लोग सुनने-समझने भी लगे हैं। कोई भी नहीं सुनता हो -- आज ऐसी बात नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि हो -- भगवान आत्मा में बहु द्रव्य-भावों के बीच जो अतत्स्वभाव से अर्थात् आत्मा के स्वभावरूप से न होकर परस्वभाव रूप से अनुभव में आते हुए जो पुण्य-पाप के भाव हैं, वे अपद्भूत हैं। भाई! ये पुण्य-पाप के भाव अतत्स्वभाव से हैं, क्योंकि इनमें आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का भाव नहीं है। इसमें चैतन्य व आनन्द नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि पुण्य-पाप का भाव अनियत अवस्था है, नियत अवस्था नहीं है। अनियत अर्थात् पलटती हुई दशा है। तथा दया, दान, व्रत, भक्ति आदि से अथवा हिंसादि रूप से वे भाव अनेक हैं। इसके सिवाय वे भाव क्षणिक व व्यभिचारी हैं। आनन्द के नाथ भगवान आत्मा की आराधना छोड़कर पुण्य-पाप का सेवन करना ही पुण्य-पाप का व्यभिचार है। इस कथन में पाँच बोल आये हैं, जो इसप्रकार हैं--

(१) अतत्स्वभाव से हैं, आत्मस्वभावरूप नही हैं।
(२) अनियत हैं, नियत नहीं हैं।
(३) अनेक हैं, असंख्यप्रकार के हैं।
(४) क्षणिक हैं, नाशवान हैं।
(५) व्यभिचारी हैं।

अतः इन पर से दृष्टि हटाकर अपने त्रिकाली भगवान आत्मा पर दृष्टि स्थिर करो।

वे समस्त विकारी भाव स्वयं अस्थायी होने से स्थाता के स्थान नहीं हैं, आत्मा के आश्रयभूत नहीं है; अतः अपदभूत हैं। भाई! पुण्य-पाप

के भाव आस्रव हैं, ऐसी स्वभाव की दृष्टि बिना अज्ञानी इन्हें आस्रव न मानकर धर्म मान बैठा है। अहो! जब स्वभाव की दृष्टि हो, तभी आस्रव को भिन्न व दुःखरूप माना जा सकता है। ज्ञानी को भी आस्रव होता है, परन्तु वह उसे अपने स्वरूप से भिन्न मानता है।

यहाँ अपदभूत की व्याख्या चल रही है। अतः कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव अस्थाई होने से आत्मा का स्थान नहीं है, अतः अपदभूत है। व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प, देव-शास्त्र-गुरू की श्रद्धा का विकल्प, पंच महाव्रतादि के विकल्प तथा शास्त्र लिखने-पढ़ने का विकल्प – सभी अस्थाई हैं – अतत्स्वभाव हैं। इसलिए वे स्थाता के स्थान होने योग्य नहीं होने से अपदभूत हैं।

अब कहते हैं कि तत्स्वभाव से अनुभव में आता हुआ ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा ही एक आत्मा के लिए पदभूत है। तथा चैतन्यस्वभाव से अनुभव में आता हुआ आत्मा नियत अवस्थावाला है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। चैतन्यभाव–ज्ञानमात्रभाव संयोगजनित नहीं होने से अव्यभिचारी हैं। यहाँ पांचों बोलों से भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव बतलाया है, जो इसप्रकार है–

(१) तत्स्वभाव से आत्मा आत्मस्वभावरूप है।
(२) चैतन्यस्वभाव से अनुभव में आने से नियत है।
(३) पुण्य-पाप की भाँति अनेकरूप न होकर आत्मा एकरूप है।
(४) पुण्य-पाप की भांति आत्मा क्षणिक नहीं, बल्कि स्वकाल होने से निन्त्य है।
(५) संयोगजनित न होने से अव्यभिचारी है।

बस, इन्हीं सब कारणों से आत्मा स्थाईभाव स्वरूप है और स्थाई होने से आत्मा स्थाता का स्थान होने योग्य है और पदभूत है।

अब कहते हैं कि - रागादि समस्त पुण्य-पाप अस्थाई भावों पर से दृष्टि उठाकर एक ज्ञान ही आस्वादन करने योग्य है। जन्म-मरण रहित होने का एकमात्र यही उपाय है। चिदानन्दरस के अमृत से भरा ज्ञानमात्र भावरूप आत्मा ही परमार्थ रसपने से स्वाद में आता है।

अरे भाई! रसगुल्ला आदि मिष्ठान्न का स्वाद तो जड़ का स्वाद है, उसे तो आत्मा कभी भोग ही नहीं सकता। केवल उसके लक्ष्य से जो आत्मा में भोगने की इच्छा रूप राग उत्पन्न होता है, आत्मा तो केवल

अपने उस राग परिणाम को भोगता है। अज्ञानी भी लेता तो केवल अपने राग का ही स्वाद है, पर मानता ऐसा है कि मैंने विषयों का स्वाद लिया। यही तो उसकी समझ की विपरीतता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि भाई! तू राग का स्वाद छोड़ दे तथा अतीन्द्रिय आनन्दमय अमृत का स्वाद ले। जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, वही सम्यग्दर्शन है।

आत्मा में जो पुण्य-पाप, व्रत-अव्रत आदि के भाव होते हैं, वे सब क्षणिक हैं, अनित्य हैं; अतः ठहरने के स्थान न होने से अपदभूत हैं। आत्मा त्रिकाल स्थाई एक चैतन्य मात्रता से रहने का स्थान होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थाई भावों को छोड़कर इस अतीन्द्रिय आनन्द के रसपने से एक आत्मा की आस्वादने योग्य है।

भाई! जिसे धर्म करना हो तथा जन्म-मरण रहित परमानन्द दशा प्रगट करना हो, उसे व्रत-अव्रत के विकल्प छोड़कर एक आत्मा में ही दृष्टि लगानी चाहिए; क्योंकि एक आत्मा ही त्रिकाली ध्रुव आनन्द का धाम है, व्रतादि के विकल्प तो अस्थाई हैं।

यह शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ आदि तो जड़ हैं, मिट्टी हैं तथा लक्ष्मी, स्त्री-कुटुम्ब आदि सब परवस्तुयें हैं। इनके साथ आत्मा का कोई संबंध नहीं है। अत. ये तो आत्मा के ठहरने के स्थान हैं ही नहीं, इनकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं है। यहाँ तो विशेष बात यह कह रहे हैं कि आत्मा की पर्याय में जो व्रत-अव्रत के अनेक विकल्प उठते हैं, हिंसा-अहिंसा के परिणाम होते हैं अथवा गुणस्थान के भेद पड़ते हैं, वे सब भी क्षणिक अनित्य तथा अस्थाई हैं, इसकारण वे भी धर्मी के रहने के स्थान हो सकने योग्य नहीं हैं अर्थात् वे सब अपदभूत हैं, अशरण है। नित्यानन्द भगवान आत्मा ही एकमात्र स्थाई-भाव रूप से सदा विद्यमान है, अतः यही पदभूत है, इसलिए सर्व-अस्थाईभावों को छोड़कर एक आत्मा का ही आस्वाद करो।

पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी है। उसमें प्रथम मंगलाचरण में ही लिखा है कि बुद्धिमान पुरुषों !तुम उस शान्त रस के अनुभव का सेवन करो। कैसा है वह अनुभव? अहाहा---! जो अनुभव हृदय में प्राप्त होने से अनुपम सुख की प्राप्ति होती है तथा जिससे मुक्ति-लक्ष्मी शीघ्र ही निकट आती है। वे आगे चिट्ठी में लिखते हैं कि भाई! पुण्य-पाप का रस तो कषायला दुःखरूप रस है, उसका स्वाद छोड़ दे तथा अकषाय स्वभावी शान्तरस से परिपूर्ण भगवान आत्मा का

आस्वादन कर! व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी कषायरस रूप है – अशान्तरस स्वरूप है। इसलिए उसका भी स्वाद छोड़कर शान्तरस के समुद्र समान भगवान आत्मा का आस्वादन कर! वह एक ही आस्वादने योग्य है। कहा भी है–

"अनुभव चिन्मणि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्ष स्वरूप।।"

कलश में आये 'अन्यानि पदानि' वाक्य का अध्यात्मतरंगणी में ऐसा अर्थ किया है कि - 'व्रतादि अपद हैं।' इसलिए जिसमें कोई भेद नही है- ऐसा अखण्ड एकरूप जो त्रिकाल स्थाई ज्ञायकभाव है, उसी का आश्रयकर, उसी का आस्वादन कर। कहा भी है–

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावे विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव ताको नाम।।

यह आत्मानुभव की दशा है तथा यही सम्यक्त्व एवं धर्म है। भाई! जन्म-मरण मिटाने की एकमात्र यही रीति है। इसके सिवाय व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायगा यदि ऐसा कोई माने तो वह व्यवहार मूढ़ है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ये सभी व्यवहार क्रियाकाण्ड अपद हैं, इससे तीनकाल में भी जन्म-मरण नहीं मिटेगा।

भाई! यह निर्जरा अधिकार है, अतः यहाँ आत्मा की अशुद्धता की निर्जरा कैसे हो – यह बात चल रही है। इस सम्बंध में आचार्य कहते हैं कि जिसे परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है, उसकी अशुद्धता का नाश हो जाता है।

शास्त्रों में जो तप को निर्जरा कहा है, उसका अर्थ अज्ञानी लोग बाह्य व्रत-उपवास आदि से निर्जरा मान लेते हैं; परन्तु जिसे वे उपवास कहते हैं, वह तो राग का विकल्प और संयोग में अन्न आदि को छोड़ने रूप जड़ की क्रिया है। उससे आत्मा की अशुद्धता की निर्जरा नहीं होती। वास्तविक उपवास की व्याख्या करते हुए आचार्य गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में लिखते हैं–

"कषाय विषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः सः विज्ञेया, शेषं लंघनकं विदुः।।"

अर्थात् अन्न त्याग के साथ कषाय व विषयों का भी त्याग हो जाता है, वह व्यवहार उपवास है। केवल अन्न का त्याग तो लंघन है। तथ

निर्मलानन्द भगवान आत्मा के समीप बसना, उसी का आस्वाद लेना, उसी में रमना ही वास्तविक निश्चय उपवास है। जिसे ऐसा निश्चय उपवास होता है, उसे व्यवहार उपवास भी होता ही है। ऐसे उपवास तप से ही विकार की – कषाय की निर्जरा होती है।

यहाँ यदि कोई कहे कि ये तो निश्चय की बातें हैं, परन्तु भाई! निश्चय की बाते हैं अर्थात् सत्य बातें हैं। यहाँ समयसार में तो निश्चय की वात को ही सत्यार्थ कहा है। व्यवहार को तो अपद कहकर उसे त्यागने के लिए कहा है, क्योंकि व्यवहार के आश्रय के से निर्जरा नहीं होती। यदि विकार की निर्जरा अर्थात् विकार का नाश करना हो तो सुख का धाम जो एक मात्र आत्मा है, उसी का आस्वाद लें। शेष सब अपद हैं, एकमात्र तेरा भगवान आत्मा ही तेरे लिए पदभूत है, शरणभूत है।

गाथा २०३ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि पहले जिन वर्णादिक अर्थात् स्पर्श रस, गंध व र्कादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावों की चर्चा कर आये हैं, वे सभी आत्मा में अनियत हैं, आत्मा में सदैव रहने वाले नहीं है। तथा वे सभी भाव अनेक हैं, क्षणिक हैं तथा व्यभिचारी हैं।

कहते हैं कि आत्मा स्थाई है और व सब भाव अस्थाई हैं। जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, उस भाव को भी आचार्यदेव अस्थाई, क्षणिक व अनियत कहकर त्याग करने के लिए कह रहे हैं, क्योंकि वे भाव धर्म नहीं हैं। वे बन्धस्वरूप हैं और धर्म से बन्ध नहीं होता। जिस भाव से वन्ध हो, वह धर्म नहीं हो सकता। इसका कारण आत्मा के सिवाय दूसरे सभी भाव अस्थाई हैं, इसलिए वे आत्मा के स्थान नहीं हो सकते सुभाशुभ विकल्प, दया, दान आदि के विकल्प तथा गुणस्थान के भेद आत्मा के स्थान नहीं हो सकते। वे सब आत्मा के पद नहीं है, अपद हैं।

अहाहा....! ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का स्वसंवेदनरूप ज्ञान अथवा स्व-आत्मा का प्रत्यक्ष वेदनरूप ज्ञान नियत है, एक है, अव्यभिचारी है, नित्य है। जिसप्रकार ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा शाश्वत है उसी प्रकार उसका ज्ञान भी स्थायीभावरूप है, स्थिर है, अक्षय है – इससे वही आत्मा का पद है।

अहाहा....! धर्मात्माओं के वह एक ही अनुभव करने लायक है, एक आत्मा का निराकुल आनंद ही आस्वादने लायक है।

कलश १३९

(अनुष्टुभ्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ।।१३९।।

अव इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:–

श्लोकार्थः–[**तत् एकम् एव हि पदम्, स्वाद्यं**] वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है [**विपदाम् अपदं**] जो कि विपत्तियों का अपद है। (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और [**यत्पुरः**] जिसके आगे [**अन्यानि पदानि**] अन्य (सव) पद [**अपदानि एवं भासन्ते**] अपद ही भासित होते हैं।

भावार्थः–एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। उसम कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सव पद अपदस्वरूप भासित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं–आपत्तिरूप हैं)।।१३९।।

कलश १३९ पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्पूर्ण टीका का संक्षिप्त सार इस कलश में भर दिया है। वे यहाँ कहते हैं कि परमानन्दमय भगवान आत्मा ही एक आस्वादन करने योग्य है – अनुभव करने योग्य है, अन्य रागादि अनुभव या आस्वादन योग्य नहीं हैं।

देखो, स्त्री के भोग के समय रागी जीव को स्त्री के शरीर का सुखद अनुभव नहीं होता। स्त्री का शरीर तो हाड़, मांस व चाम का वना अजीव पदार्थ है, जड़-माटी है। जव अरूपी भगवान आत्मा उसका स्पर्श ही नहीं कर सकता तो फिर वह रागी जीव उस शरीर का सुखद अनुभव कैसे कर सकता है? हाँ उस काल में अज्ञानी अपने रागवश ऐसा मानता हैं कि यह ठीक है, सुन्दर है, कोमल है। उसे उसके प्रति जो राग है, वह तो उस राग को ही भोगता है – उसी का अनुभव करता है। न उसे स्त्री

के शरीर का अनुभव है, न आत्मा का अनुभव है। उसे तो मात्र राग का ही अनुभव या स्वाद आता है, जो कि आकुलतारूप होने से दुःखस्वरूप ही है।

अतः आचार्य कहने हैं कि एक आत्मा का पद ही आस्वादन करने योग्य है, शेष सब आत्मा के लिए अपद हैं तथा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति भगवान आत्मा विपत्तियों का अपद है अर्थात् उसमें विपत्तियों का स्थान ही है। उसके आस्वादन नें अर्थात् अनुभव में राग जनित दुःखों का, विपत्तियों का अभाव है, क्योंकि वह आत्मा विपदाओं का अपद है।

जब ऐसा कहा कि सर्व रागादि विकल्प विपदा है तो इसमें सभी प्रकार के शुभ व अशुभ रागात्मक विकल्प आ गये। इसप्रकार स्वपद सिवाय अन्य सर्वपद अपद ही हैं – यह स्पष्ट हो गया। श्रीमद् रायचंद्र ने भी यही कहा है "एक होय त्रण काल माँ परमारथ नो पन्थ"

कलश १३९ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अंतरंग में जो ज्ञायकस्वभाव शाश्वत (त्रिकाल) विद्यमान है, वही आत्मा का पद है। जो अभेद एकरूप ज्ञायकभाव है, वही स्वपद है। अहो! दिगम्बर संतों ने केवली भगवान का हृदय खोलकर जगत के जीवों का निहाल कर दिया है।

देखो, आचार्य कहते हैं कि अपने चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती। अहाहा.....! आत्मा अकेला चैतन्यघन प्रभु है। उसमें रागादि आपदा प्रवेश कैसे कर सकती हैं? तथा उसके सामने सर्वपद अपदस्वरूप ही भासित होते हैं, क्योंकि वे सब आकुलतामय हैं। भाई! अशुभ से बचने के लिए भगवान की भक्ति का विकल्प आता तो ज्ञानी को भी है, परन्तु है तो वह भी आकुलतारूप ही।

दिगम्बर सन्त मुनिवर ने "पद्मनन्दी पंचविंशति" में ब्रह्मचर्य की बहुत सुन्दर व्याख्या की है। 'ब्रह्म' अर्थात् आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा 'चर्य' अर्थात रमना ही ब्रह्मचर्य है। इसकी व्याख्या करते हुए अन्त में मुनिवर ने कहा कि हे युवानो! यदि मेरी यह व्याख्या तुम्हें न जचे तो मुझे माफ कर देना। अहा! प्रचुर आनन्द की मस्ती में झूलनेवाले दिगम्बर सन्त ऐसा कहते हैं कि - हे युवानो! तुम माफ करना, क्योंकि हम तो मुनि हैं। हमारे पास इस बात के सिवाय और है ही क्या? तथा सुख प्राप्त करने का मार्ग भी एकमात्र यही है।

कलश १४०

(शार्दूलविक्रीडित)

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ।।१४०।।

अब यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञान का अनुभव करता है, तब इसप्रकार करता है:—

श्लोकार्थः [एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्] एक ज्ञानकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ, (इसप्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होनेपर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिए) **[द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः]** द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ), **[आत्म-अनुभव- अनुभाव-विवशः स्वां वस्तुवृत्तिविदन्]** आत्मानुभव के-स्वाद के-प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तुवृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को)जानता- आस्वाद लेता हुआ (आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभव में से बाहर न आता हुआ) **[एषः आत्मा]** यह आत्मा **[विशेष-उदयं भ्रश्यत्]** ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ, **[सामान्यं कलयन् किल]** सामान्य मात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ, **[सकलं ज्ञानं]** सकल ज्ञान को **[एकताम् नयति]** एकत्व में लाता है—एकरूप में प्राप्त करता है।

भावार्थ-इस एक स्वरूपज्ञान के रसीले स्वाद के आगे अन्य रस फीके हैं। और स्वरूपज्ञान का अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लिया जाता है, तब ज्ञान के समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं; एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थ को पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद आवे? इसका उत्तर पहले शुद्धनय का कथन करते हुए दिया जा है कि शुद्धनय आत्मा का शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है। इसलिए के द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद आता है।।१४०।।

कलश १४० पर प्रवचन

देखो, भगवान आत्मा एक ज्ञायकस्वभाव – ध्रुवस्वभाव से भरा है। धर्मात्मा जीव राग पर से, निमित्त पर से तथा भेद पर से दृष्टि उठाकर एक, अभेद, ध्रुव ज्ञायकस्वभावी ज्ञानानन्द स्वभाव का आस्वाद लेता है। एक ज्ञायकस्वभाव अर्थात् ज्ञानमात्र वस्तु देंह-मन-वाणी से भिन्न, कर्म से भिन्न, पुण्य-पाप के विकल्पों के भिन्न तथा विकारी-निर्विकारी पर्याय के भेद से भी भिन्न है। सम्यग्दृष्टि उस आत्मा का आस्वाद लेता है, निरुपम आनन्द का स्वाद लेता है।

भगवान आत्मा त्रिकाली एकरूप परमानन्दमूर्ति ज्ञायकभाव से भरा है। ऐसे अपने ज्ञायकमूर्ति आत्मा के स्वपद का स्वाद आ जाने पर अन्य सव स्वाद फीके पड़ जाते हैं। अर्थात् निर्मलानन्द के नाथ शुद्ध चिद्रूप भगवान आत्मा के सन्मुख होकर निज का स्वाद लेने पर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के सिवाय अन्य रागादि का स्वाद आता ही नहीं है। इसलिए ज्ञानी द्वन्द्वमय स्वाद को लेने में असमर्थ है। रूप, रस, गंध तथा दया, दान आदि पुदगल के एवं विषय कषाय के सभी स्वाद द्वन्द्व के स्वाद हैं।

देखो, इसमें द्रव्य-गुण- पर्याय तीनों ही आ गये।

(१) आत्म द्रव्य स्वयं एक ज्ञायकभाव से भरा है।
(२) ज्ञायकस्वभाव गुण है तथा ज्ञायकभाव में एकाग्रता पर्याय है।

इसप्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु एक ज्ञायकभाव से भरा है। उसमें अन्तर एकाग्रता करके अनुभव करने पर – उसका स्वाद लेने पर द्रव्य,गुण व पर्याय तीनों निर्मल शुद्ध हो जाते हैं।

जिसप्रकार शक्कर अकेले मिठास के स्वभाव से भरी है तथा जिसप्रकार नमक अकेले खारेपन के स्वभाव से भरा है, उसीप्रकार आत्मा में अन्तर्दृष्टि करने पर तथा उसी में स्थिर होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का महास्वाद आता है। ज्ञानी उस महास्वाद का अनुभव करता है।

प्रभु! तू कौन है? इस बात की तुझे खबर नहीं। बापू! तू अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द से भरा शुद्ध चैतन्य स्वभावमय पदार्थ है। उसको अपनी ज्ञानपर्याय में स्वीकार करते ही तुझे अतीन्द्रिय आनन्द का महास्वाद आयेगा।

जिसे ज्ञायकस्वभाव का स्वाद आ जाता है, उसे निम्नलिखित तीन प्रकार के स्वाद का अभाव हो जाता है।

(१) प्रथम तो उसे जड़ का स्वाद छूट जाता है। रूपवान सुन्दर देह या सरस भोजनादि का स्वाद ज्ञानी को नहीं आता।

(२) दूसरे, पुण्य-पाप या शुभाशुभभाव के राग का स्वाद लेने में ज्ञानी असमर्थ हो जाता है अर्थात् राग का स्वाद भी उसे नहीं आता।

(३) तीसरे, भेदरूप क्षयोपशमज्ञानादि का स्वाद भी ज्ञानी को नहीं आता।

अहाहा-----! जिसको अरसं, अरूप, अगंध और अस्पर्शी तथा अराग, अभेद स्वरूप चैतन्य आत्मा का स्वाद प्रगट हो गया हो, उसे रस, गंध, भेद व रागमय द्वन्द्व का स्वाद कैसे आ सकता है? नहीं आ

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में सविकल्प द्वार से निर्विकल्प अनुभव होने की जो वात कही है, उसकी अपेक्षा तो यह है कि स्वानुभव की निर्विकल्प दशा होने के पूर्व स्वपर का भेदज्ञान सम्बंधी विकल्प उठता है तथा बाद में उसका भी विचार छूटकर 'मैं शुद्ध हूँ, एकरूप चिद्रूप हूँ' ऐसे स्वरूप सम्वंधी सूक्ष्म विकल्प होते हैं, वाद में वे विकल्प भी छूटकर परिणाम-स्वरूप में मग्न होकर चिन्मात्र स्वरूप भासने लगता है। ऐसी जो स्वानुभव की अतीन्द्रिय आनन्दरूप दशा प्रगट होती है, उसमें किसी विकल्प का स्वाद नहीं होता, क्योंकि उन विकल्पों का तो यहाँ अभाव है। सविकल्प द्वार से निर्विकल्प अनुभव होने की बात कहना तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए उपचार से कथन करने की बात है।

अव कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अनुभव में आने से वह उसके प्रभाव के वश में हो जाता है। अतः फिर वह वाहर विषय-कपाय में आता ही नहीं है, निज चैतन्य की शुद्ध परिणति के आस्वादन में ही मस्त रहता है। मार्ग भी यही है, इस मार्ग के विना भव का अभाव नहीं हो सकता।

यह शरीर तो हाड़-मांस और चमड़ा है। जिसे इस शरीर का आकर्पण है, उसे निराकुल आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। तथा जहाँ आत्मा के अनुभव का स्वाद आया, वहाँ पर का आकर्पण छूट जाता है। वस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन व धर्म है। अज्ञानी तो मात्र दान-शील-तप-भक्ति में ही धर्म मान वैठा है; परन्तु भाई! दान देना, शरीर से व्रह्मचर्य व संयम पालना, उपवास आदि करना और भगवान की भक्ति करना ये सव तो रागभाव हैं और राग में धर्म माननेवाले की निजनिधि लुट ही रही है। अतः अव तो तुझे उसे सँम्हालने की जरूरत है।

अन्यथा यह मुनष्यभव चला जायगा और तेरी ज्ञाननिधि लुट जायगी।

देखो, आत्मा स्वानुभव के काल में अपनी ज्ञान की पर्याय को गौण करता है तथा त्रिकाली ज्ञायकभाव को मुख्य करता है। जब यह निर्मल ज्ञान के भेद को भी लक्ष्य में नहीं लेता तो फिर देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति की तो बात ही क्या है? उसे तो गौण करना ही पड़ता है। भाई! स्वभाव से देख तो देव भी तू ही है, गुरु भी तू ही है तथा धर्म भी स्वयं तू ही है। अहा! राग की उत्पत्ति न होना और आत्मा के आनन्द की उत्पत्ति होना ही अहिंसामय—वीतरागमय धर्म है और वह तुझसे कोई अन्य प्रथक् या भिन्न वस्तु नहीं है, वह तुझसे अभिन्न ही है।

प्रभु एकबार सुन तो सही! अनादिकाल से यह अनुपम बात कभी सुनी ही नहीं; इसीकारण कठिन लगती है, कठोर भीं लगती है; परंतु धर्म प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

भगवान ! तू अभेद, एकरूप, परिपूर्ण, ज्ञायकस्वभावी ज्ञान का घनपिण्ड आत्मा है। उस आत्मा के समीप जाते ही जो अतीन्द्रिय आनन्द का महास्वाद आता है, निराकुल सुख का स्वाद आता है, वही वस्तुवृत्ति अर्थात् वस्तु की परिणति है। वही आत्मा की शुद्ध परिणति है। ऐसी निज वस्तुवृत्ति का आस्वादन करता हुआ आत्मा पूर्ण सुख को प्राप्त करता है।

भाई! व्यवहार रत्नत्रय का राग वस्तु की प्रवृत्ति नहीं है, आत्मा की वृत्ति नहीं है। व्यवहारीजनों को यह सुनने में कठोर लगता है, पर क्या करें? प्रभु! मार्ग तो एकमात्र यही है। सुखी होने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

यद्यपि यह उन्हें एकान्त सा लगता है, निश्चयाभास सा लगता है तथा ऐसा लगता है कि ऐसी बातें करने से व्यवहार का लोप हो जायगा, पर ऐसी बात नहीं है। सत्य बात समझ में आने पर सब ठीक हो जाता है। तथा व्यवहार के लोप के भय से सत्य बात का कहना-सुनना तो बन्द नहीं किया जा सकता। अभी नहीं कहेंगे तो फिर कब कहेंगे? दया, दान, व्रत आदि के विकल्पों के राग में तो आत्मा के त्रिकाल आनन्द की शक्ति का घात होता है। पुण्य के प्रेम में तू चौरासी लाख योनियों में पिल गया है। अतः अब तू सत्य बात को सुनने व समझने को तैयार हो जा। तेरा कल्याण होगा।

अहा---! स्वरूप का स्वाद लेने से जो वीतरागी आनन्द की परिणति उत्पन्न होती है, वह वस्तु की वृत्ति है, आत्मा की परिणति है।

अहाहा------! जो निज आनन्दरस के रसिया पच्चीस-पच्चीस वर्ष के युवा राजकुमार, चक्रवर्ती व तीर्थकर के पुत्र माता-पिता व पत्नियों का त्याग करके एक मोर पिच्छी और एक कमण्डलु लेकर जंगल में चले जाते थे। कैसी होगी उनकी अन्तर दशा? कैसा होगा वह वैराग्य? वे माता-पिता से कहते कि हे माता! हम राग का त्याग करके अब अन्तरात्मा में जाना चाहते हैं। अहा! आनन्द का नाथ तो हमें अनुभव में आ गया है, पर हमें अब अन्तर में जमकर विशेष-विशेष रमणता–स्थिरता करनी है। अतः हे माता! आज्ञा प्रदान करो। अन्तर आत्मा में आनन्द के स्वाद में उग्रता से रमने–ठहरने का नाम ही चारित्र है। व्रतादि का राग चारित्र नहीं है। विरागी कहते हैं कि हे माता! हमारे वैराग्य लेने से तू राग के वशीभूत होकर रोती है तो तुझे जितना भी रोना हो – इसबार तो रो ले, पर माँ! अब हम दुबारा किसी को माँ ही नहीं बनायेंगे, जन्म ही नहीं लेंगे। इसी जन्म में जनम-मरण का अभाव कर देंगे। हम तो अपने आनन्दस्वभाव में जा रहे हैं। चिदानन्द रस के रसिया जब अपने निजानन्द रस में चले जाते हैं, तब उन्हें जगत के सब रस फीके लगने लगते हैं–व्रतादि के राग का स्वाद भी उन्हें जहर की तरह कड़वा लगने लगता है।

चित्सामान्य भगवान आत्मा में झुकने पर अभेद का ही स्वाद आता है। इसी प्रकार समयसार की १७वीं-१८वीं गाथा में आता है कि भगवान ! तेरी वर्तमान ज्ञान की पर्याय में ज्ञायकभाव जानने में आता है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही स्वपर प्रकाशक है। बापू! वस्तुतः तो ज्ञायक ही तेरे ज्ञान में आता है, परन्तु तेरी दृष्टि ज्ञायक पर नहीं, उसकी पर्याय पर है। अज्ञानी की दृष्टि त्रिकाली सामान्य ज्ञायक पर नहीं उसकी वर्तमान पर्याय विशेष पर है, इसकारण वह निजस्वरूप को भूलकर पर्याय को ही अपना स्वरूप मानता है। तथा ज्ञानी की दृष्टि शुद्धज्ञायक पर है, पर्याय पर नहीं है, इसकारण वह सामान्यमात्र ज्ञायक भाव का अनुभव करता है। भाई! यह मार्ग कोई विरले जीव ही धारण करते हैं।

योगसार में कहा भी है कि–

"विरला जाने तत्त्व को, विरला पावे कोय।
विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोय।।"

आत्मा अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द से भरा चिदानन्दमय भगवान । ज्ञानी उसका आस्वाद लेता हुआ सामान्य रूप से मात्रज्ञान का अभ्यास ...ता हुआ सकलज्ञान-को एकपने से जानता है अर्थात् पर्याय के भेद को

छोड़कर एकरूप ज्ञान में एकाग्र होता है, एक ज्ञानमात्र भाव को प्राप्त करता है। जैसा एकरूप सामान्य ज्ञायकभाव है, वैसा ही पर्याय में एकरूप प्राप्त करता है, अनुभव करता है। व्यवहार की रुचिवालों को यह बात कठिन लगती है। परमार्थवचनिका में आया है कि आगम-पद्धति जगत को सुलभ लगती है। दया-दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार आगमपद्धति है, वह जगत को सुलभ लगती है। अध्यात्म का व्यवहार भी वे नहीं जानते। शुद्ध चैतन्य के आश्रय से उत्पन्न वीतरागी परिणति अध्यात्म का व्यवहार है। आनन्द का जो स्वाद आता है, वह अध्यात्म का व्यवहार है और आनन्दस्वरूप आत्मद्रव्य निश्चय है। निश्चय स्वरूप के अनुभव बिना अज्ञानी अध्यात्म के व्यवहार को नहीं जानता। इसीकारण बाह्य क्रियायें करते हुए भी वह मोक्षमार्ग नहीं साध पाता है।

कहते हैं कि ज्ञानी सकल भेदरूप ज्ञान को एकत्व में लाता है अर्थात् भेद का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानी निज एकत्व को ध्याता है, एकरूप शुद्ध चिद्रूप स्वरूप की प्राप्ति करता है। इसी का नाम तो आत्मा का स्वाद है, सम्यग्दर्शन है, धर्म है, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है।

कलश १४० के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के स्वरूप ज्ञान का स्वाद रसीला है, रसमय तथा आनन्दमय है। भगवान त्रिकाल आनन्दस्वरूप है, उसमें लीन होकर स्वरूप में प्रवृत्ति करने से निराकुल आनन्द का रसमय स्वाद आता है। अहा! ऐसे निजरस के रसीले स्वाद के आगे अन्य सब रस फीके लगते हैं। कहा भी है–

'चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सारिखे भोग।
काक-बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग।।"

अब कहते हैं कि स्वरूपज्ञान का अनुभव करने पर सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। अहा! ज्ञान व आनन्द रूप ही आत्मा का स्वरूप है। ऐसे भगवान आत्मा का अनुभव करने पर सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञान की पर्यायों के भेद ज्ञान में नहीं आते। एक चिन्मात्र स्वरूप का अनुभव रह जाता है।

अपनी ज्ञानपर्याय में जो विशेष भेद पड़ते हैं, वे भिन्न-भिन्न ज्ञेय के निमित्तों से पड़ते हैं। परन्तु जब ज्ञान सामान्य का अर्थात् अखण्ड एकरूप त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव का स्वाद आने लगता है, तब सब भेदभाव गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप हो जाता है, अपना त्रिकाली स्वरूप ही

पर्याय में ज्ञेयरूप होता है। स्वरूप का स्वाद लेते ही पर का अनेक रूप जानना गौण हो जाता है तथा एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप ही ज्ञेयरूप हो जाता है।

प्रश्नः— भोगना तो पर्याय में होता है, सामान्य स्वाद से क्या तात्पर्य है? कृपया स्पष्ट करें।

समाधानः- भाई! सामान्य का स्वाद नहीं आता, क्योंकि स्वाद तो स्वयं पर्याय है; परन्तु त्रिकाली अभेद के लक्ष्य से पर्याय में स्वाद आया, इस कारण उसे अभेद करके सामान्य का स्वाद कहा गया है। त्रिकाली द्रव्य का स्वाद नहीं। स्वाद तो पर्याय का ही होता है; परन्तु सामान्य अर्थात् त्रिकाली द्रव्य के लक्ष्य से जो पर्याय का स्वाद आया, उसे ही सामान्य का स्वाद कहा जाता है। वस्तुतः सामान्य के स्वाद में सामान्य का अनुभव नहीं होता विशेष अर्थात् पर्याय के लक्ष्य से जो स्वाद आता है, वह राग का आकुलतामय स्वाद है एवं सामान्य का स्वाद अरागी निराकुल आनन्द का स्वाद है। स्वाद तो स्वयं पर्याय है और सामान्य कभी पर्याय में आता नहीं है। सामान्य जो त्रिकाली एकरूप ध्रुव वस्तु है, वह पर्याय में नहीं आती; परन्तु सामान्य का जितना व जैसा स्वरूप है, उतना व वैसा ज्ञान पर्याय में आता है, उसी को सामान्य का स्वाद आना कहा जाता है।

अहाहा......! कहते हैं कि एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है अर्थात् ज्ञान नाम आत्मा जो त्रिकाली एकरूप है, वह एक ही ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयरूप होता है। तात्पर्य यह है कि दूसरा ज्ञेय उस काल में ज्ञान में नहीं आता। वर्तमान ज्ञान-पर्याय में सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूपी आत्मा ज्ञेयरूप हो जाता है तथा ज्ञान में जो रागादि परज्ञेय थे, वे छूट जाते हैं।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के २०वें बोल में भी आया है कि प्रत्यभिज्ञान का कारण जो सामान्य द्रव्य, उसे आलिंगन किए बिना शुद्धपर्याय ही आत्मा है। अर्थात् जो आनन्द की पर्याय है वह आत्मा है; क्योंकि यद्यपि ज्ञान में पर्याय का स्वाद आता है तथापि सामान्य के लक्ष्य से जो स्वाद आया, उसे सामान्य का स्वाद कहने में आया है तथा भेद के लक्ष्य से जो स्वाद आता है, उसे भेद का या विकार का स्वाद कहा जाता है।

बापू! बात सूक्ष्म है, परन्तु ये आत्मार्थी के लिए भगवान केवली के रामबाण औषधिरूप अमृतवचन हैं, इसलिए अपने अन्दर से पर व पर्याय [illegible] महिमा कम करके अपने उपयोग को अन्दर में ले जा, जहाँ तेरा [illegible] भगवान आत्मा विराजता है।

तथाहि—

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ।।२०४।।

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तभ्दवत्येकमेव पदम्।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति।।२०४।।

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानम् आत्मा च एक एव पदार्थः ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं; यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिंदन्ति, किन्तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दित। तथाहि—यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंटितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकटच्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाश स्वभावं भिंदन्ति, तथा आत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकटच्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिंद्युः, किंतु प्रत्युत तमभिनंदेयुः। ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्। तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः नश्यति भ्रांतिः भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्छीत, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म वध्यते, प्रागबद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।

अब, 'कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होने पर भी उसके (ज्ञान के)स्वरूप का विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है और वह ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है' इस अर्थ की गाथा कहते हैं:—

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे।।२०४।।

गाथार्थः—[**अभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च**] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—[**तत्**] यह [**एकम् एव**] एक ही [**पदम् भवति**] पद है (क्योंकि ज्ञान के

समस्त भेद ज्ञान ही हैं); [**सः एषः परमार्थः**] वह यह परमार्थ है (शुद्धनय का विषयभूत ज्ञान सामान्य ही यह परमार्थ है) [**यं लब्ध्वा**] जिसे प्राप्त करके [**निर्वृतिं याति**] आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

टीका:—आत्मा वास्तव में परमार्थ (परमपदार्थ) है और वह (आत्मा) ज्ञान है; और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञान के) भेद इस एक पद को नहीं भेदते; किन्तु वे भी इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं (समर्थन करते हैं)। इसी बात को दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं:—जैसे इस जगत में बादलों के पटल से ढका हुआ सूर्य जो कि बादलों के विघटन (बिखरने) के अनुसार प्रगटत को प्राप्त होता है, उसके (सूर्य को) प्रकाशन की (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते, इसीप्रकार कर्मपटल के उदय से ढका हुआ आत्मा जो कि कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है, उसके ज्ञान के हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं। इसलिए जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिए। उसके आलम्बन से ही (निज) पद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, (ऐसा होने से) कर्म बलवान नहीं होते, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, (राग-द्वेष-मोह के बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रव के बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म मुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञान के आलम्बन का ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थ:-कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान के जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञानसामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञान को प्रगट करते हैं; इसलिये भेदों को गौण करके, एक ज्ञानसामान्य का आलम्बन लेकर आत्मा को ध्यावना; इसी से सर्वसिद्धि होती है।

गाथा २०४ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

"कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होते हुए भी उसका स्वरूप विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि ज्ञान एक ही है तथा वह ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है।" यह गाथा इसी अभिप्राय की सूचक है।

देखो, अकेला एकरूप जो ज्ञान है, वह आत्मस्वभाव है तथा उसमें एकाग्रता ही एकमात्र मोक्ष का उपाय है। बाह्य क्रियाकाण्ड कोई मोक्ष का उपाय नहीं है – ऐसा कहते हैं–

देखो, इस देह में जो भगवान आत्मा है, वह परमपदार्थ है, सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, परमात्मस्वरूप है। यहाँ उसे ज्ञान के साथ आरोपित करके कहते हैं कि वह ज्ञान ही है, क्योंकि आत्मा ज्ञायकस्वभावी त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है। अहाहा.....! आत्मा जो वस्तुतः परमपदार्थ है, वह नित्य ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ही उसका त्रिकालीस्वभाव होने से वह ज्ञानस्वरूपी है।

अब कहते हैं कि आत्मा एक ही पदार्थ है, इस कारण ज्ञान भी एक ही पद है। देखो, पहले सामान्य बात की कि आत्मा वस्तुतः परमपदार्थ महापदार्थ है तथा वह ज्ञान है अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। अब विशेष कहते हैं कि आत्मा एक ही पदार्थ है, एकस्वरूप ही है। गुणों का पिण्ड होने से वह अनेकरूप नहीं हो जाता, किन्तु अखण्ड एकरूप ही है और इसी से ज्ञान भी एक ही पद है।

जिसप्रकार अग्नि उष्णरूप है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। अग्नि जिसतरह एकस्वरूप है, उसीतरह आत्मा एकरूप ही है। तथा जिसतरह अग्नि की उष्णता एक ही है उसीप्रकार ज्ञानपद भी एक ही है, उसमें भेद नहीं है, त्रिकाल अभेद है। जन्म-मरण रहित होने का वीतरागी मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

कहते हैं आत्मा जिसतरह एक वस्तु है, एक ही पदार्थ है, उसीतरह ज्ञान भी एक ही पद है। जिसतरह आत्मा अखण्ड एकरूप है, उसीतरह उसका ज्ञानस्वभाव भी अखण्ड एकरूप है।

अब कहते हैं कि जो यह ज्ञान नामक एक पद है यही परमार्थ-स्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। अनन्तधर्मों का पिण्ड प्रभु आत्मा वस्तु धर्मी है तथा वह एक है। इससे उसका ज्ञानस्वभाव धर्म भी एकरूप त्रिकाल है। जिसे धर्म करना हो, उसे इस ज्ञानस्वभावमय आत्मद्रव्य में एकाग्रता करना चाहिए– यही मोक्ष का उपाय है, यही धर्म है।

अहा! चैतन्य महाप्रभु भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु सदा एकरूप है तथा उसका ज्ञानस्वभाव भी त्रिकाल अखण्ड एकरूप है। उस एक – अभेद ज्ञानस्वभावी ज्ञानरस से भरपूर ज्ञायक स्वभाव में एकाग्रता करना, उसी में तद्रूप हो जाना ही साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, पूर्ण सुखी होने का उपाय है। पैसा आदि में सुख नहीं है। पैसा आदि तो धूल-माटी है।

कहते हैं कि भाई! तू भी भगवान है। 'भग' अर्थात् ज्ञान व आनन्द की लक्ष्मी तथा 'वान' अर्थात् वाला या परिपूर्ण – इसप्रकार भगवान का अर्थ हुआ ज्ञान व आनन्द की लक्ष्मी से परिपूर्ण। तू स्वयं ऐसा ही आनंद लक्ष्मी से परिपूर्ण भगवान आत्मा है। ऐसा होते हुए भी यदि तू स्वयं ऐसा मानता है कि "वीड़ी पीने में वड़ा मजा आता है" तो यह तेरे अज्ञान की ही वलिहारी है। अरे भाई! वीड़ी तो जड़ है, उसमें आनन्द है ही कहाँ? तथा उसकी ओर का लक्ष्य तो राग है। यह राग का स्वाद तो जहर का स्वाद है। इसमें तू आनन्द मानता है? सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो यह कहा है कि पूर्ण आनन्द का नाथ तो तू स्वयं है। तू अपने उस त्रिकाली ज्ञानस्वरूप, ज्ञान के घनपिण्ड निज आत्मा में – कारणपरमात्मा में एकाग्र हो जा, यही मोक्ष का मार्ग व परमसुखी होने का उपाय है।

भगवान आत्मा वस्तुरूप से एक – अभेदरूप ही है तथा इसमें उसका ज्ञानस्वभाव भी एक ही पद है। 'ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान' ऐसा त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव है। इस ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसी में एकाग्र होना मोक्ष का उपाय है। इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र – तीनों आ जाते हैं। ज्ञानस्वभाव के अन्तर में एकाग्रता करने पर जो निर्विकल्प अनुभव हुआ, उसमें आत्मा की प्रतीति हुई, वही सम्यग्दर्शन है; ज्ञान (आत्मा) का ज्ञान होना सम्यक्ज्ञान है तथा ज्ञान का, ज्ञान-आत्मा में ही रमण होना सम्यक्चारित्र है और यही धर्म है अर्थात् मोक्ष का उपाय है।

भाई! तू अनादि से राग में ही एकाग्र है, जो कि दुःख का मार्ग है, चारगति के परिभ्रमण के क्लेश का रास्ता है।

अब कहते हैं कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो सामान्य-सामान्य त्रिकाल एकरूप है। उसमें एकाग्रता होने पर मतिश्रुत ज्ञानादि की अनेक शुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं; परन्तु जो अनेक पर्यायें प्रगट होती हैं, वे इस एक ज्ञानपद को नहीं भेदतीं, किन्तु एक ज्ञानसामान्य का अभिनन्दन ही करती हैं। अर्थात् उस ज्ञानस्वभाव के एकपने की पुष्टि ही करती हैं। जो मतिश्रुत ज्ञान आदि भेद प्रगट हुए हैं, वे सव सामान्य में अभेद होते हैं। इससे उसमें अनेकपना नहीं रहता।

अहा! यद्यपि भगवान आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है, परन्तु यहाँ तो ज्ञान की मुख्यता से वात कही जा रही है; क्योंकि ज्ञान का अंश प्रगट है, आनन्द प्रगट नहीं है। जव उस ज्ञान पद में अर्थात् आत्मा में एकाग्र हो, तो आनन्द प्रगट हो। यहाँ कहते हैं कि ज्ञान में एकाग्र होने पर जो

मतिज्ञान आदि शुद्धता के भेद प्रगट होते हैं, वे सब ज्ञानपद को भेदते नहीं हैं, वस्तुतः तो वे सामान्य एक ज्ञानस्वभाव में ही अभेदरूप से प्राप्त होते हैं। भाई! इस अखण्ड एकरूप ज्ञायकभाव की परिणति के जो भेद हैं, वे ज्ञायक को भेदते नहीं हैं; किन्तु वे तो उस ज्ञायक पद का ही अभिनन्दन करते हैं। उस एक पद की ही पुष्टि करते हैं। भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप है और उसका ज्ञान – त्रिकाली ज्ञानस्वभाव भी अभेद एकरूप है। उसके आश्रय से शुद्धता के जो अनेक भेद उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञानसामान्य को नहीं भेदते, किन्तु ज्ञानसामान्य की पुष्टि ही करते हैं। भेद-अभेद में ही अर्न्तगर्भित रहते हैं। भले ही वे पर्याय की शुद्धतारूप विशेष हैं, तथापि वे हैं तो अभेद की एकाग्रता में ही न। ये भेद, अभेदस्वरूप वस्तु को भेदरूप नहीं करते।

अहो! अनन्तकाल से दुःख के मार्ग में दौड़-धूप कर रहे जीव को आचार्यदेव ने यह सुख का मार्ग बताया है।

यहाँ यह कह रहे हैं कि आत्मा स्वभावतः एक, अभेद सामान्य ज्ञायकभाव मात्र सच्चिदानंद प्रभु है। यद्यपि उस एक ज्ञायकभाव में एकाग्रता होने पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान रूप अनेक निर्मल-निर्मल पर्यायें प्रगट होतीं हैं; तथापि वे सब एक ज्ञानसामान्य में ही अर्न्तगर्भित हैं अर्थात् वहाँ सब अभेदरूप ही भासित होता है, भेद भासित नहीं होता। अहा! अनेकरूप होती हुई वे पर्यायें एक ज्ञानसामान्य को ही पुष्ट करती हैं।

देखो, जिसप्रकार इस जगत में बादलों से ढका हुआ सूर्य बादलों के विघटन के अनुसार ही प्रगट होता है तथा तदनुसार सूर्य के प्रकाश की हीनाधिकता रूप जो भेद प्रगट होते हैं, वे भेद उसके प्रकाश स्वभाव को खण्डित नहीं करते, भेदते नहीं हैं; किन्तु उसके प्रकाश स्वभाव के एकपने को ही प्रगट करते हैं। उसीप्रकार कर्मपटल के उदय से ढके हुए ज्ञानादि अथवा कर्म के क्षयोपशम के अनुसार प्रगट हुए ज्ञानादि के हीनाधिकरूप भेदों से आत्मा का सामान्यभाव खण्डित नहीं होता।

प्रश्नः– यहाँ जो यह कहा गया है कि "कर्मपटल से ढका हुआ आत्मा" इसका क्या तात्पर्य है? क्या आत्मा को कर्म ढक सकते हैं?

समाधानः– देखो, आत्मा ढका तो स्वयं अपनी योग्यता से ही है, कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है। ऊपर जो कर्म के उदय से आत्मा के

ढकने की बात कही है, सो वह कथन तो निमित्त की मुख्यता से किया गया व्यवहार का कथन है।

कर्म तो जड़ – अचेतन हैं, वे चैतन्यमय आत्मा को कैसे ढक सकते है? परन्तु जब जीव की पर्याय में हीनदशा होनेरूप योग्यता होती है, तब जड़कर्म का उदय उसमें निमित्त होता है। जड़कर्म आत्मा को हीन अवस्थारूप नहीं कर सकता।

प्रश्नः– कर्म जैसे-जैसे घटता जाता है – क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान प्रगट होता जाता है। शास्त्र में जो ऐसा कथन आता है उसका क्या तात्पर्य है?

समाधानः– भाई! उस कथन का अर्थ तो यह है कि उसका भाव-आवरण जो हीनदशारूप है, वह ज्यों-ज्यों टलता जाता है तदनुसार ज्ञान प्रगट होता जाता है तथा जड़कर्म का क्षयोपशम उसमें निमित्तरूप होना है।

चैतन्यप्रकाश के नूर के पूर भगवान आत्मा के आवरण के क्षयोपशम से एवं अपनी पर्याय के क्षयोपशम की योग्यता से ज्ञान प्रगट होता है। यहाँ कहते हैं कि उस ज्ञान की हीनाधिकता का भेद उसके सामान्य स्वभाव को नहीं भेदता, किन्तु एकरूप ज्ञानस्वभाव को ही पुष्ट करता है। अहाहा--! ज्ञान के वे भेद सामान्य ज्ञान में एकत्व को ही प्राप्त होते हैं। वे भेद हैं तो पर्याय, किन्तु त्रिकाली एक ज्ञान में एकाग्र हुए वे भेद, ज्ञान में एकत्व को ही प्राप्त होते हैं, विशेष-विशेष निर्मलता के भेद स्वभाव की एकता को प्राप्त होते हैं।

अब कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु तथा पर्याय के आलम्बन से तो राग – विकल्प ही उठते हैं, अतः केवल आत्मभूत ज्ञान का ही आलम्बन लेना चाहिए। भाई! तू अबतक इन हाड़-मांस एवं चाम लपेटे शरीरादि के प्रेम में और पुण्य-पापरूप राग में अटककर जिस चारगति के दुःख में रखड़-रखड़ कर मरा है। उस दुःख की क्या कथा कहें। भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव अचिन्त्य व अलौकिक है, तू उसमें प्रीति कर! तू अपनी रुचि को उसमें लगा। तुझे अभूतपूर्व अलौकिक आनन्द होगा।

बारम्बार प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि भाई! आत्मा स्वभाववान है और ज्ञान उसका स्वभाव है। यह आत्मस्वभावभूत ज्ञान त्रिकाल एकरूप है। उस एकरूप का ही आलम्बन – आश्रय करना।

उसके सिवाय अन्य निमित्तादि का तो आश्रय कभी करना ही नहीं, ज्ञान के भेद भी आश्रय करने योग्य नहीं है।

अहो! यह तो बहुत सरस – सारगर्भित गाथा है। यहाँ कहते हैं कि एक ज्ञान का ही – त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का ही आलम्बन लेना।

प्रश्नः– क्या ऐसा कहना एकान्त नहीं है कि एक त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का ही आलम्बन लेना?

समाधानः– भाई! यह एकान्त तो है, पर सम्यक्-एकान्त है। अनेकान्त का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान के आश्रय से भी लाभ होता है और राग के आश्रय से भी लाभ होता है – यह तो मिथ्या अनेकान्त है। एकान्त भी दो तरह का होता है और अनेकान्त भी दो तरह का – एक सम्यक-एकान्त, दूसरा मिथ्या-एकान्त। इसीप्रकार – एक सम्यक् अनेकान्त, दूसरा मिथ्या-अनेकान्त।

प्रश्नः–जयधवला में तो ऐसा कहा है कि कर्म का क्षय शुभभाव व शुद्धभाव दोनों से होता है। उसका क्या तात्पर्य है?

समाधानः– भाई! उस कथन की अपेक्षा यह है कि ज्ञानी के शुभभाव अशुभभावों की निर्जरा करते हैं तथा शुद्धभावों से शुभ व अशुभ – दोनों प्रकार के भावों की निर्जरा होती है।

यहाँ तो आचार्य कुन्दकुन्ददेव की इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचंद्रदेव ने टीका में दोहन करके यह निकाला है कि केवल एक ज्ञान का ही आलंबन लेना, क्योंकि एकमात्र उसी के आश्रय से ही मुक्ति मिल सकती है।

अहाहा.....! आत्मपदार्थ अन्दर में अकेला ज्ञान का निधान, स्वच्छता–निर्मलता के भाव से परिपूर्ण भरा पड़ा है, तू उसी का आश्रय ले।

आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही आलम्बन करना, उसके आलम्बन से ही निजपद की प्राप्ति होती है। आत्मा सदा एकरूप आनन्दस्वभावी वस्तु है। उसके एक के आलम्बन से ही निजपद की प्राप्ति होती है।

प्रश्नः– एक आत्मा के आलम्बन से ही मुक्ति होती है– ऐसा जो बार-बार आता है, तो क्या व्यवहार व्रतादि सर्वथा निरर्थक हैं? क्या मोक्षमार्ग में व्यवहार की कोई उपयोगिता नहीं है?

जिसप्रकार यहाँ वैद्यों का उदाहरण देकर ज्ञानी की उस चतुर सामर्थ्य को दिखाया है, जिसके बल पर वह कर्मोदय की नवीन बंध करने की शक्ति का नाश कर देता है । उससे कर्म के उदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव हो जाने से नवीन कर्मबन्ध नहीं होता ।

इस कथन को सुनकर कुछ अज्ञानीजन शंका करते हैं कि ज्ञानी के भोगों को निर्जरा के कारण कहा है, यह कैसे निरंकुश भोगों की पुष्टि की है, क्या ऐसा कहना उचित है?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह कथन जो जिनागम है, उसकी अपेक्षा समझना चाहिए । अपेक्षा जाने बिना जिनागम में आशंका करना ठीक नहीं है । यहाँ भोगों की छूट देना या पुष्टि करने का प्रयोजन नहीं है । यहाँ तो यह कहा गया है कि ज्ञानी को भी भोग का विकल्प आता है; परन्तु उसे भोगों में उपादेयबुद्धि नहीं है, उसकी भोगों में से सुखबुद्धि व हितबुद्धि नष्ट हो गई है । धर्मी – ज्ञानी को राग में रुचि नहीं है, राग में एकत्व नहीं है । उसके भेदज्ञान में ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है, जिससे वह कर्मोदय की बन्ध करने की शक्ति का नाश कर देता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को भोगों का भाव नवीन बन्ध किए बिना ही खिर जाता है – नष्ट हो जाता है । जबकि वही कर्मोदय अज्ञानी को भोगो में उपादेयबुद्धि से भोगने के कारण नवीन कर्मबन्ध का कारण बनता है ।

देखो भाई! पकड़-पकड़ में फेर है । बिल्ली अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है । दोनों के पकड़ने में कितना फर्क है । बच्चे के पकड़ने में उसकी रक्षा का भाव है, लालन-पालन का भाव है और चूहा को पकड़ने में उसे मारकर खा जाने का भाव है; अतः चूहा को ऐसे जोर से पकड़ती है कि बेचारा चूहा फड़-फड़ाकर तत्काल मर जाता है । इसीप्रकार अज्ञानी की राग में उपादेयबुद्धि है, राग में रुचि है; अतः वह बन्ध करने की शक्ति से युक्त है, इसी से वह कर्मोदय को भोगते हुए बंधता ही है । तथा जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ गया है, उस धर्मी को राग के स्वाद की रुचि नहीं है; बल्कि उसे तो वह राग जहर जैसा लगता है । यद्यपि ज्ञानी के राग होता है, परन्तु उसे वह राग हेयबुद्धि से होता है । ज्ञानी राग को आदरणीय व कर्तव्य नहीं मानता; पर जो राग है, उसे हेय मानता है । इससे कर्मोदय को भोगते हुए भी उसे कर्मबन्ध नहीं होता ।

एवं अनात्मा का परिहार हो जायगा। इसी का नाम त्याग है। बाह्य-पदार्थ तो बाहर ही हैं, उनका आत्मा में प्रवेश ही कहाँ हुआ, जिनको त्यागा जाय। जिनका ग्रहण नहीं, उनका त्याग कैसा? यहाँ तो पर्याय की अशुद्धता के त्याग की बात है। जितने-जितने अंश में आत्मा का ग्रहण होता जाता है, उतने-उतने अंश में अनात्मा का परिहार होता जाता है। बस, यही ग्रहण-त्याग का स्वरूप है।

पहले आ चुका है कि जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं – ऐसे आत्मस्वभाव भूत अकेले ज्ञान का ही आलम्बन करना, इसका अर्थ यह है कि पर्याय को द्रव्य मे लगा दे, झुका दे तथा पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का श्रद्धान कर! पर्याय है तो एक समय की, परन्तु वह सम्पूर्ण त्रिकाली द्रव्य को जानती है। अहो! एकसमय की पर्याय की ऐसी अदभुत सामर्थ्य है कि वह अन्तर में एकाग्र होनेपर सम्पूर्ण द्रव्य को जान लेती है।

अहाहा.....! अनंतगुण से भरा भगवान आत्मा त्रिकाल एकरसरूप है। इसकारण इस एक का ही आलम्बन लेना, जिससे भेद दूर हो जाय। उसके आलम्बन से ही आत्मलाभ होता है तथा अनात्मा का त्याग हो जाता है। यह वस्तुस्थिति है, तो भी अज्ञानी व्यवहार का ही पक्ष (हठाग्रह) रखता है। उससे कहते हैं कि अरे भाई! व्यवहार भी है, जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तबतक ज्ञानी के व्यवहार होता है; परन्तु वह हेय है। अहाहा.....! जिसे अन्तर आत्मा का भान है, उस अन्तरात्मा को व्यवहार भी होता है, पर वह हेयरूप से है।

'परमार्थ वचनिका' में कहा है कि हेय – त्यागरूप तो अपने द्रव्य की अशुद्धता, ज्ञेय – विचाररूप अन्य षट्द्रव्यस्वरूपलोक, उपादेय – आचरणरूप अपने द्रव्य की शुद्धता।''

देखो, यहाँ आचरणरूप शुद्धता को उपादेय कहा है, क्योंकि भासमान तो शुद्धता में होता है, इसलिए शुद्धता को यहाँ उपादेय गिना है। अशुद्धता को हेय – त्यागरूप कहा है। जबतक पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञ नहीं हो जाता, तबतक साधक को पर्याय में अशुद्धता तो है, परन्तु वह है हेयरूप ही। भाई! व्यवहार व्यवहार के स्थान में है। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तबतक स्वभाव का जितना आश्रय वर्तता है, उतनी तो निर्मलता है; परन्तु पूर्ण आश्रय नहीं है। इसलिए उतना व्यवहार का आश्रय उसे आये बिना नहीं रहता, परन्तु है वह बन्ध का ही कारण; अतः है वह हेयरूप ही।

यहाँ कहते हैं कि अन्तरस्वरूप की एकाग्रता होने पर आत्मलाभ होता है और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है। पर्याय में जो अशुद्धता है, वह अनात्मा है और उसका त्याग, स्वरूप के ग्रहण से होता है।

अब कहते हैं कि "अशुद्धता का परिहार सिद्ध होता है।" इस कथन का तात्पर्य यह है कि अपने अर्थात् स्वयं के एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज आत्मा का आश्रय करने से अपनी पर्याय में उस त्रैकालिक आत्मा की प्राप्ति होती है तथा अशुद्धता का परिहार होता है, त्याग होता है। देखो, परद्रव्य का त्याग नहीं होता, क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण व त्याग तो आत्मा में है ही नहीं; किन्तु आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता है, दुःखरूप मलिन परिणति है, स्वरूप के ग्रहण होने पर उसका त्याग अवश्य हो जाता है। बस, यही ग्रहण-त्याग का वास्तविक स्वरूप है।

आचार्य कहते हैं कि भाई! तेरा भगवान आत्मा स्वयं सुख का निधान है, यदि तुझे सुखी होना है तो तू अकेला अपना ही आलम्बन ले। अहाहा....! स्वभाव से ही जो सुखस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, उसमें दुख कैसे हो? वह विकृत कैसे हो? वह अपूर्ण कैसे हो? भाई! तुझे यह अपनी परिपूर्णता की, अनंतशक्ति के संग्रहालय होने की बात हृदय में बैठती क्यों नहीं है? जबकि प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञान और सुख का निधान है।ऐसे स्वरूप में अन्तर एकाग्र होने से निजपद की प्राप्ति होती है।

आत्मा एक पदार्थ है, इससे ज्ञान भी एक ही पद है। इसलिए आत्मस्वभावभूत ज्ञान का ही आलम्बन करना, क्योंकि इससे भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है।

एक शुद्धता के आलम्बन से शुद्धता की प्राप्ति होती है तथा अशुद्धता का परिहार होता है। अर्थात् अशुद्धता का परिहार व्यय, शुद्धता की प्राप्ति – उत्पाद एवं आलम्बनयोग्य एक शुद्ध त्रिकालवस्तु ध्रुव है। अहा! ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव है।

भाई! तू चैतन्य का निधान है। तुझमें अनन्ती स्वरूप सम्पदा भरी हुई है। परम-अध्यात्मतरंगणी में आता है कि जिसके ज्ञान और आनन्दरूप लक्ष्मी विद्यमान है, वह भगवान है। आत्मा ज्ञान व आनन्दस्वरूपी है, अतः स्वभाव से आत्मा ही भगवान है। भाई! तू ऐसे अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा से भेंट तो कर, उसमें अन्तर्दृष्टि तो कर, तुझे अपने भगवान से भेंट हो जायेगी अर्थात् तू स्वयं प्रगट पर्याय में भी

भगवान बन जायेगा। अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होगा तथा अशुद्धता का नाश होगा।

अब कहते हैं कि कर्म किसी को बलात् विकार नहीं कराते। स्वयं ही आत्मा कर्म के वश हुआ है, इसे ही लोक में ऐसा कहा जाता है कि कर्म बलवान हैं। वस्तुतः कर्म बलवान नहीं हैं। कहा भी है–

"कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।।"

जब जीव वस्तुस्वभाव के वश – आधीन होकर अर्थात् स्वाधीन होकर परिणमन करता है, तब निमित्ताधीन दृष्टि का जोर सहज कम हो जाता है; फिर वह पर के वश न होकर स्व-वश – स्वाधीन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब स्व-वश से अर्थात् स्व के आश्रय से अशुद्धता निकल जाती है, तब अशुद्धता का जोर, जो निमित्ताधीन दशा में था, वह नहीं रहता।

भाई! कर्म तो परद्रव्य है और उसका स्वद्रव्य में तो सर्वथा अभाव है, उसका कर्म क्या भला-बुरा कर सकता है? नहीं, कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता। हाँ, आत्मा में जो अशुद्धता है, वही आत्मा को हानिकारक है। प्रवचनसार की १६वीं गाथा में भावघातिकर्म की बात की है। वहाँ कहा है कि घातिकर्म दो प्रकार के हैं–

१. निमित्तरूप द्रव्यकर्म एवं २. उपादानरूप भावकर्म।

इसप्रकार द्रव्यकर्म व भावकर्म – ऐसे दो प्रकार के घातिकर्म हैं।

अब कहते हैं कि देखो, राग-द्वेष-मोह बिना कर्म का पुनः आस्रव नहीं होता, आस्रव बिना पुनः नया कर्म नहीं बंधता तथा पूर्व में बंधा हुआ कर्म भोगकर निर्जर जाता है। देखो, स्वभाव के आश्रय से – आलम्बन से जो अपने में आ गया है, उसके पराश्रय का भाव छूटता जाता है। वहाँ 'कर्म छूट जाते हैं' – ऐसा कहना आगमपद्धति से असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। तथा अस्थिरता छूट जाती है – ऐसा कहना अध्यात्म पद्धति से असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

अब कहते हैं कि देखो, ज्ञानी के पूर्व में बंधा हुआ कर्म उदय में आकर अर्थात् सुख-दुःख में निमित्त बनकर सुख-दुःख को भोगते हुए निर्जर जाते हैं। अहाहा.....! शुद्धस्वभाव के आलम्बन से जहाँ अन्तः

स्थिरता – अन्तर-रमणता हुई, आनन्द में जमावट हुई, वहाँ पूर्वबद्ध कर्म उदय में आकर निर्जरा जाता है। अस्थिरता – अशुद्धता भी जल जाती है। तथा समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष हो जाता है। देखो, बापू! यह क्रम है, तथा यही यथार्थ मोक्षमार्ग है।

प्रश्नः– वस्तु तो स्वयं मोक्षस्वरूप ही है, तब फिर 'साक्षात्' क्यों कहा?

उत्तरः– अरे भाई! यह बात सच है कि आत्मा की सामर्थ्य उसकी शक्ति – उसका सत्व सदा मुक्त ही है; परन्तु यह तो पर्याय में प्राप्त होनेवाली मुक्ति की बात है, अनुभव की बात है। स्वभाव से भगवान आत्मा त्रिकाल अबद्ध स्पष्ट है – ऐसा तो १४-१५ वीं गाथा में आया है। वहाँ ऐसा भी कहा है कि जिसने ऐसे आत्मा को जाना, उसने सम्पूर्ण जिनशासन को जाना है। भगवान आत्मा को राग व कर्म के बंध से रहित जाननेवाली जो शुद्धोपयोग की परिणति है, वही जैनशासन है। अशुद्धोपयोग की व राग की परिणति जैनशासन नहीं है। जिसने अपने को मुक्तस्वरूप अनुभव कर लिया, उसने चारों अनुयोगों के सार को समझ लिया है। चारों अनुयोगों का सार एक वीतरागता ही है तथा उस वीतरागस्वरूपी मुक्तस्वरूपी भगवान आत्मा का आश्रय ले, तो वह आत्मा प्रगट होता है।

प्रश्नः– निश्चय व व्यवहार – दोनों एकसाथ होते हैं न?

समाधानः– हाँ, दोनों एकसाथ होते हैं, यह तो सत्य है; परन्तु दोनों एकसाथ होने का अर्थ तो केवल यह है कि दोनों का ज्ञान एकसाथ होता है। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि निश्चय से भी धर्म होता है व व्यवहार से भी धर्म होता है। दोनों का ज्ञान एकसाथ होता है तथा वह ज्ञान भी स्व का आश्रय लेने पर यथार्थ हो जाता है। अहाहा.....! अबद्धस्पष्ट प्रभु आत्मा को ज्यों ही जाना, त्यों ही जो राग बाकी रह जाता है, उसका ज्ञान भी यथार्थ हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा शक्तिरूप से, स्वभावरूप से या सामर्थ्यरूप से मुक्त ही है, परन्तु जब जीव पर्याय में मुक्त होता है, तब साक्षात् मोक्ष होता है।

भाई! जन्म-मरण का फेरा मिटाना हो, ८४ लाख योनियों में जन्म न लेना हो, तो उसे टालने और आत्मा को सुखी करने का उपाय तो केवल यही है।

'पद्मनन्दी पंचविंशति' में कहा है कि इस चैतन्यस्वरूप की वार्ता भी जिसने प्रसन्नचित्त से सुनी है, वह भावी मोक्ष का भाजन है, उसका मोक्ष अल्पकाल में होगा ही।

अरे भाई! जिसको स्वरूप की महिमा आई और जिसने प्रसन्न चित्त से आत्मा की वार्ता या आत्मा के स्वरूप को सुना है, उसे ऐसा निर्णय हो जाता है कि मैं अबद्ध हूँ। भले वह वर्तमान में विकल्परूप हो; परन्तु मैं अबद्धस्पष्टरूप हूँ – ऐसे स्वरूप के पक्ष करनेवाले को राग का – व्यवहार का पक्ष छूट जाता है। इससे वह स्वरूप का आश्रय करके अल्पकाल में मुक्ति का पात्र हो जाता है। अहाहा.....! जिसने चित्चमत्कार स्वरूप भगवान आत्मा के अपरिमित सामर्थ्य की बात उल्लसित वीर्य से सुनी है, उसको अन्तर में ऐसा पक्ष व प्रेम हो जाता है कि मैं अबद्ध हूँ, मुक्तस्वरूप हूँ, आनन्द का धाम हूँ। इसप्रकार के चिन्तन से वह अपने को राग से भिन्न अनुभव करता हुआ, स्वरूप का आश्रय लेकर अल्पकाल में मुक्ति का पात्र हो जायगा।

यहाँ निम्नलिखित बोलों से यह बात स्पष्ट की गई है कि स्वभाव के आलम्बन से ही मोक्ष होता है। अतः एक ज्ञान का ही आलंबन करना।

(१) ज्ञान के आलम्बन से ही निजपद की प्राप्ति होती है।

(२) ज्ञान से ही भ्रान्ति का नाश होता है।

(३) भ्रान्ति का नाश होने पर ही आत्मा की प्राप्ति होती है तथा अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है।

(४) स्वभाव के आलंबन से कर्म बलवान नहीं हो सकते एवं राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, कर्मों का आस्रव नहीं होता, पूर्व में बंधे कर्म निर्जर जाते हैं, समस्त कर्मों के अभाव होने पर साक्षात् मोक्ष होता है।

गाथा २०४ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि कर्म के क्षयोपशम अनुसार जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि विशेष या भेद पड़ते हैं, वे ज्ञानसामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, बल्कि ज्ञान को ही प्रगट करते हैं। यहाँ जो यह कहा है कि निर्मलज्ञान में भेद प्रगट हुए, सो वे कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही हुए हैं, अतः उसे निमित्त का कथन समझना। वस्तुतः देखा जाय तो वे भेद अपनी तत्समय की क्षयोपशमरूप योग्यता से ही हुए हैं। ज्ञानसामान्य में ऐसे कोई भेद नहीं हैं।

इसलिए भेदों को गौण करके एक ज्ञानसामान्य का आलंबन लेकर आत्मा का ध्यान करना, उसी से सर्वसिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि भेदों का लक्ष्य छोड़कर निश्चयरूप जो एक सामान्यवस्तु है, उसको लक्ष्य में लेकर अर्थात् ज्ञानसामान्य का आलम्बन लेकर आत्मा का ध्यान करना। यहाँ व्रतादि करने या उनका निषेध करने की बात नहीं है। यहाँ तो भगवान आत्मा को ध्यान का विषय बनाकर – ध्यान में आत्मा को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करने से सर्वसिद्धि होती है – यह कहा है। आत्मा के ध्यान से क्रमशः संवर, निर्जरा व मोक्ष की प्राप्ति व आस्रव, बंध के अभाव की सिद्धि होती है।

सम्यग्ज्ञानीका आचरण (सवैया इकतीसा)

पंडित विवेक लहि एकताकी टेक गहि,
दुंदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मनमैं धरतु है।।
इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैकै,
परमके रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागी परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है।।१६।।

सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा (सवैया इकतीसा)

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमैं अघट-रस कौतुक करतु है।।
जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।
सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमैं अनेकता धरतु है।।२०।।

निर्जरा द्वार

कलश १४१
(शार्दूलविक्रीडित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः।।१४१।।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः— [**निष्पीत-अखिल-भाव-मण्डल-रस-प्राग्भार-मत्ताः इव**] समस्त पदार्थों के समहूरूपी रस को पी लेने की अतिशयता से मानों मत्त हो गई हो ऐसी [**यस्य इमाः अच्छ-अच्छाः संवेदनव्यक्तयः**] जिनकी यह निर्मल से भी निर्मल संवेदन-व्यक्ति (-ज्ञानपर्याय, अनुभव में आने वाले ज्ञान के भेद) [**यद् स्वयम् उच्छलन्ति**] अपने आप उछलती है, [**सः एषः भगवान् अद्भुतनिधिः चैतन्यरत्नाकरः**] वह यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर, [**अभिन्नरस**] ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, [**एकः अपि अनेकीभवन्**] एक होने पर भी अनेक होता हुआ, [**उत्कलिकाभिः**] ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा [**वल्गति**] दौलायमान होता है—उछलता है।

भावार्थः—जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जल से भरा हुआ है और उसमें छोटी-वड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं, जो कि एक जलरूप ही हैं, इसीप्रकार अनेक गुणों का भण्डार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञान जल से ही भरा हुआ है और कर्मो के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद (व्यक्तियाँ) अपने आप प्रगट होते हैं, उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिये, खण्ड-खण्डरूप मे अनुभव नहीं करना चाहिये।।१४१।।

कलश १४१ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते है कि निर्मलज्ञान की पर्याय समस्त पदार्थो के सभूहरूपी रस को पी वैठी है तथा उस रस की अतिशयता से मानो वह

मत्त हो गई है। अर्थात् श्रुतज्ञान की पर्याय भी तीन काल व तीन लोक को जानती है और उससे अपने में मस्त हो जाती है। ऐसी तो आत्मा के क्षयोपशमज्ञान की सामर्थ्य है, ज्ञानस्वभाव के समार्थ्य की तो वात ही कुछ और है। पर अज्ञानी को इसकी कुछ भी खवर नहीं है, वह तो दया-दान आदि बाह्य क्रियाकाण्ड में ही अटक जाता है।

देखो, निर्मलानन्द का नाथ भगवान आत्मा अतिनिर्मल है। यहाँ कहते हैं कि उसके आश्रय से प्रगट हुई निर्मल पर्याय मानो मत्त हो गई है, क्योंकि वह समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी वैठी है। अहाहा--! ज्ञान की वर्तमान पर्याय त्रिकाली ज्ञायक को जानते हुए अन्य अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को भी जानती हैं। उससे मानों उसने सब कुछ जान लिया है, अव कुछ भी जानना वाकी नहीं रहा। अहा--! जिसने एक शुद्ध ज्ञायक को जाना, उसने अपनी ज्ञानपर्याय में मानों सव जान लिया। यह आत्मज्ञान की कोई अलौकिक व्याख्या हैं। ऐसी व्याख्या दिगम्बर धर्म सिवाय अन्यत्र दुर्लभ है।

अहा! शुद्ध चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में एकाग्र होने से जो निर्मल – निर्विकार वीतरागी – पर्याय प्रगट होती है, वही अहिंसा – धर्म है और वह सत्य ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहरूप धर्म का परिणाम है।

अहा! 'रागरहित निर्मलपर्याय मानो मत्त हो गई है।' भाई! जहाँ आत्मा की ज्ञानपर्याय में अपना शुद्ध त्रिकाली परिपूर्ण स्वरूप जानने में आया, वहीं ज्ञान की उसी पर्याय में विश्व के सभी पदार्थों का ज्ञान समा जाता है, फिर उसे शेष कुछ भी जानने को नहीं रहता। आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है न ? ज्यों ही उसकी अन्तर्दृष्टि हुई कि उसकी ज्ञानपर्याय में सम्पूर्ण त्रिकाली ज्ञान का सूर्य भगवान आत्मा ज्ञात हो गया तथा उस पर्याय में जगत के समस्त पदार्थों का ज्ञान भी समा गया। मानो कि वह पर्याय स्व व पर को – समस्त पदार्थों को ज्ञान में पी वैठी हो। अहाहा--! श्रुतज्ञान की पर्याय भी अपने स्व-पर प्रकाशकपने की समार्थ्य से स्व-पर को – समस्त पदार्थों को पीकर – जानकर मानो मत्त हो गयी है।

यह वात अज्ञानी को समझ में नहीं आती, क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य रूपी भगवान आत्मा की दृष्टि व अनुभव विना, स्वयं जो भी कुछ आचरण करता है, उसे ही चारित्र मान लेता है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि सम्यक्-श्रुतज्ञान की पर्याय में भी त्रिकाली भगवान आत्मा का संपूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा जगत के जितने भी

द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उन सबका भी ज्ञान हो जाता है। अर्थात् वह ज्ञान इन सबको पी गया है। ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है कि इस वर्तमान विश्व से अनेक गुणा विश्व भी होता तो यह ज्ञान उसे भी जान लेता। अहो! सम्यग्ज्ञान की कोई अचिंत्य सामर्थ्य है। अहा! जिसे अपनी सर्वज्ञत्व शक्ति का – परमात्मशक्ति का अन्तर में भान हुआ, उसकी ज्ञानपर्याय की ऐसी अद्‌भुत चमत्कारी सामर्थ्य है कि वह जगत के समस्त स्व-पर पदार्थों को – द्रव्य-गुण-पर्याय को पी लेता है – जान लेता है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से निर्मल व्यक्तियाँ (पर्यायें) स्वयं प्रगट होती हैं और पर के आश्रय से मलिन पर्यायें प्रगट होती हैं, भले वह पर्याय देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से भी क्यों न हो, स्वभाव की अपेक्षा है तो वह भी मलिन ही, क्योंकि वे देव-शास्त्र-गुरु भी तो परद्रव्य ही हैं न? और परद्रव्य के आश्रय से तो राग ही होता है।

यहाँ कहते हैं कि पूर्णानन्द के नाथ शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय होने पर निर्मल से निर्मल ज्ञानपर्याय आपो-आप उछलती हैं, प्रगट होती हैं तथा आत्मज्ञान में निर्मलता निरन्तर बढ़ती जाती है। ज्ञान की निर्मलता बढ़ने का अर्थ शास्त्रज्ञान या क्षयोपशम का बढ़ना नहीं है, बल्कि सम्यग्ज्ञान की निर्मलता से है।

यहाँ आत्मज्ञान का अर्थ पर्याय का ज्ञान नहीं है, बल्कि जिसमें त्रिकाली द्रव्य का ज्ञान होता है, वह आत्मज्ञान है। वह ज्ञान स्वयं तो पर्यायरूप ही है, परन्तु वह ज्ञान त्रिकाली आत्मद्रव्य का है। अहाहा......! आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है। उसमें अनन्त-आनन्द, अनंतज्ञान, अनंतबल, अनंतशान्ति, अनन्तस्वच्छता, अनन्तप्रभुता, अनन्तप्रकाश तथा ऐसी-ऐसी और भी अनन्त शक्तियाँ हैं। और वह एक-एक शक्ति अनन्तस्वभाव से सुशोभित हो रही है। सर्व स्वतंत्र हैं, एक गुण को दूसरे गुण की सहायता की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। फिर भी एक-एक गुण में दूसरे अनन्तगुणों का रूप है। जो ज्ञानगुण है, उसमें अस्तित्व का रूप है। अस्तित्वगुण ज्ञानगुण में नहीं है; परन्तु ज्ञान "है" – ऐसा जो अस्तित्व ज्ञानगुण में है, वह अस्तित्वगुण का रूप है। उसीप्रकार ज्ञानगुण में प्रभुता या ईश्वर नाम का गुण नहीं है, क्योंकि वह तो दूसरा गुण है, परन्तु उस ज्ञानगुण में ईश्वरगुण का तथा प्रभुतागुण का रूप है; क्योंकि ज्ञान ईश्वर स्वरूप है, प्रभुस्वरूप है। ऐसे आत्मद्रव्य के ज्ञान होने का नाम आत्मज्ञान है।

अरे भाई! तुझे खबर नहीं है, भगवान आत्मा स्वयं परिपूर्ण तत्त्व है, वह एक-एक गुण से परिपूर्ण है। तो भी एक-एक गुण भिन्न-भिन्न हैं। एक गुण को दूसरे गुण की सहायता नहीं है। एक गुण भले दूसरे गुण में निमित्त हो, परन्तु उपादान में निमित्त कुछ करता नहीं है। एक गुण दूसरे गुण का कुछ करता नहीं है, तो भी प्रत्येक गुण का रूप दूसरे सब गुणों में है। ज्ञान "है" – इसप्रकार ज्ञान का अस्तित्व स्वयं से है, ज्ञान का वस्तुत्व स्वयं से है, ज्ञान स्वयं का कर्ता है – इसप्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, कर्ता आदि गुण तो भिन्न-भिन्न हैं, पर ज्ञान में उनका रूप है। इसतरह अनन्तगुणों में– प्रत्येक में अनंतगुण का रूप है। अहो! ऐसा अनंतगुण समुद्र भगवान आत्मा है। जिसने उसका अन्तर्मुख होकर ज्ञान किया है, वह सबको पी गया है– ऐसा कहा है। तथा वह आत्मसम्मुख हुआ ज्ञान आत्मज्ञान है। अन्तर्मुख होने पर आत्मज्ञान होता है, क्योंकि आत्मा स्वयं अन्तर्मुख है, अतः अन्तर्मुखीज्ञान का विषय है। वह बाहर में कहीं नहीं है, अतः बहिर्मुखज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। बाहर में तो पर्याय व राग है। अतः ज्ञान की पर्याय को अन्तर्मुख करके अनंतगुण के पिण्डस्वरूप सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में जो एकाग्र होता है, उसे आत्मज्ञान होता है।

ज्ञानगुण में सर्वज्ञस्वभाव का रूप है। ज्ञानगुण से सर्वज्ञशक्ति भिन्न है, पर ज्ञानगुण में सर्वज्ञशक्ति का रूप है। इसीप्रकार आनन्दगुण भिन्न है, ज्ञानगुण में आनन्दगुण नहीं है, परन्तु अनंत-आनंद स्वभाव का रूप ज्ञानगुण में है। अहो! ऐसी अद्‌भुत निधि चैतन्य-चमत्कार भगवान आत्मा है। जिसमें अनंत-अनंत चैतन्य गुण रत्न भरे हैं, ऐसे आत्मा का भान होने पर ज्ञान की पर्याय स्व को व पर को जानती हुई स्वतः प्रगट होती है। अर्थात् वह निर्मल से निर्मलपर्याय की स्व-पर को जानने की शक्ति सहजरूप से खिल जाती है, विकसित हो जाती है।

अहा! भगवान आत्मा कौन है? उसका स्वरूप क्या है? इसप्रकार आचार्य भगवान तुझे तेरे आत्मस्वभाव का परिचय करा रहे हैं, क्योंकि तू स्वयं अपने को अनादि से भूला है न?

आत्मा में सर्व को जानने के सामर्थ्यवाला सर्वज्ञ गुण है। यह सर्वज्ञ गुण का रूप आत्मा के अनंतगुणों में व्याप्त है। अहा! ऐसा अनंतगुण का सत्वरूप भगवान आत्मा ज्ञायक है। यहाँ कहते हैं कि जिसने अपने ज्ञान की पर्याय में अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर लिया है, अपने स्वरूप

को जान लिया है, उसके ज्ञान की पर्याय में स्व को व पर को जानने की सामर्थ्य खिल उठती है। बस, इसी का नाम आत्मज्ञान है और यही धर्म है।

भाई! तूने स्वयं को कभी देखा नहीं है, तेरे अन्दर में चैतन्य का निधान पड़ा है। वहाँ तेरी दृष्टि अबतक गई नहीं है, तू केवल बाह्य आचरण में रुक गया है। परन्तु इसमें तुझे कुछ लाभ नहीं है। बापू! अनंतकाल से तूने अपनी हानि ही की है। तुझे इस क्रियाकाण्ड के प्रेम से नुकसान ही हुआ है। परन्तु भाई! तेरे द्रव्य में खोट नहीं है, उसपर दृष्टि डाल, तेरा कल्याण हो जायगा।

परमात्मप्रकाश में तथा समयसार के बंधाधिकार में गाथा २८३ से २८५ तक – तीन गाथाओं की जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि स्वभाविक शुद्धज्ञान व आनंद जिसका स्वभाव है, वह मैं हूँ तथा मेरा नाथ जो पूर्ण शक्ति से भरा भगवान है, वह मैं हूँ। तथा वीतराग सहज आनंद जिसका लक्षण है– ऐसा मैं स्वसंवेदन ज्ञान की पर्याय से ज्ञात होता हूँ, वेदन में आता हूँ। मैं व्यवहार के विकल्पों से नहीं जाना जा सकता हूँ। देखो, यह है चैतन्य चमत्कार प्रभु आत्मा का स्वरूप!

आगे कहते हैं कि मैं सर्व विभाव से रहित-शून्य हूँ। अहाहा....! तीन लोक व तीन काल में मन-वचन-काय से सब जीव ऐसे हैं– ऐसी भावना करना।

भाई! इस चैतन्यरत्नाकर की निधि अपार है, बेहद है। आकाश के प्रदेशों की संख्या अनंत है, चैतन्यरत्नाकर में भरे गुणरत्न उस आकाश से भी अनन्तगुणे हैं। जिसतरह स्वयंभूरमण समुद्र में नीचे तलिया में रेत के स्थान पर रत्न भरे हैं, उसीतरह इस स्वयंभू भगवान आत्मा में अनंत चैतन्यरत्न भरे हैं। अहो! आत्मा का स्वरूप परम आश्चर्यकारी है। इसलिए कहते हैं कि भाई! तू अपने स्वरूप में समा जा, उसी में तल्लीन हो जा, उसमें से अतीन्द्रियं आनंद प्रगट होगा।

अहा.....! "सः एषः भगवान्" अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष वेदन होता है– ऐसा भगवान आत्मा अद्भुत चैतन्य रत्नाकर है। अरे! ऐसे अपने निज भगवान आत्मा की महिमा छोड़कर अज्ञानी इस चमड़े में मढे हुए सुन्दर दिखाई देनेवाले इस शरीर की महिमा में अटका है, स्त्री-पुत्रादि के मोह में अटका है, उसने आचार्य कहते हैं कि भाई! तुझे यह क्या हो गया है? भाई! विश्वास कर कि मैं प्रत्यक्ष वेदन में आनेवाला, चैतन्यचमत्कार स्वरूप ज्ञायकस्वभावी आत्मा हूँ।

प्रभु! ऐसा चैतन्य का सागर तुझे नजर नहीं आता? दिखाई नहीं देता? तू अपनी ओर देखता भी नहीं? केवल दूसरों की ओर ही देखा करता है। यह सब क्या हो रहा है? तुझमें ऐसी नासमझी कहाँ से आ गई है? तू तो समझ का पिण्ड प्रभु है। भगवान है, अद्भुत निधि है। तू अपने इस स्वभाव को भूलकर दीन-हीन दुःखी हो रहा है। एकबार अपनी ओर देख तो सही!

अब कहते हैं कि ऐसा चैतन्य चमत्कार भगवान आत्मा ज्ञानपर्याय रूपी तरंगों के साथ अभिन्न है– ऐसा "एकः अपि अनेकी भवन्" एक होता हुआ भी अनेक ज्ञानपर्यायों रूपी तरंगों से दोलायमान होता है– उछलता है।

यद्यपि आत्मा के ज्ञान की पर्यायें अनेकरूप से परिणमन करती हैं, तथापि वह आत्मा अभिन्न है, स्वभाव में एकत्व है, उसमें खण्ड नहीं पड़ते।

तेरी दृष्टि अन्दर स्वरूप में पड़ते ही चैतन्यचमत्कार भगवान आत्मा निर्मल से भी निर्मल पर्यायरूप से उछलेगा। फिर वह स्वरूप से अभिन्न रहेगा। उसमें खण्ड नहीं होंगे।

आत्मा स्वरूप से शक्ति व गुणों से एकरूप होते हुए भी पर्याय में निर्मलता की अनेकता से परिणमता है तथा वह इसका स्वरूप ही है। ज्ञान-पर्यायरूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न – एकमेक है, ऐसा चैतन्य चमत्कार प्रभु आत्मा एक होते हुए अनेक निर्मल से निर्मल पर्यायरूप होता है तथा उद्भव होते हुए ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों से दोलायमान होता है। जिसतरह समुद्र तरंगों से दोलायमान होता है, उसीप्रकार स्व के आश्रय से उद्भव होती हुई निर्मल से निर्मलपर्यायों से आत्मा भी दोलायमान होता है, आनंद की लहरों से तरंगित हो जाता है।

भाई! तुझे यहाँ तेरे भगवान आत्मा से पहचान कराते हैं। कहते हैं कि भगवान! तू स्वयं तीनलोक का नाथ है – तीनलोक के नाथ भगवान के बराबर बैठ सके – ऐसा तेरा स्वभाव है। आनन्दघनजी कहते हैं – प्रभु! हम तेरे कुल के ही हैं। परन्तु अज्ञानी को यह बात समझ में नहीं आती।

भाई! ऐसे निज स्वरूप के अनुभव के बिना तेरा सर्व-आचरण एक के बिना शून्य की भाँति निरर्थक है। अतः सर्वप्रथम आत्मा को जानना-पहचानना अति-आवश्यक है।

कलश १४१ के भावार्थ पर प्रवचन

जिसतरह समुद्र की तरंगें जलरूप ही हैं, उसीप्रकार आत्मा के अनंत गुण व पर्यायें एक ज्ञानजल रूप ही है। देखो, जिसतरह आकाश के प्रदेशों का अन्त नहीं है, वह अनंत है, उसीतरह उससे भी अनन्त गुणरत्नों से भरा भगवान आत्मा अनन्त है।

यहाँ कहते हैं कि अनन्तगुणों का भण्डार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजल से ही भरा है। तथा कर्म के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद स्वतः प्रगट होते हैं, उन पर्यायों को भी एक ज्ञानरूप ही जानना, खण्ड-खण्ड रूप से अनुभव नहीं करना। निमित्त का अभाव होने पर और स्वभाव की प्रगटता होने पर जो अनेक दशायें उत्पन्न होती हैं, वे एक ज्ञानरूप ही जानना। खण्ड-खण्ड रूप व भेदरूप अनुभव नहीं करना।

अहा! निश्चय सम्यग्दर्शन व ज्ञान की पर्यायें, जो एक के बाद एक होती हैं, उन्हें खण्ड-खण्ड रूप से अनुभव नहीं करना, किन्तु एक अभेद ज्ञानरूप ही अनुभवना।

सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जिन्हके हियेमैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।
जिन्हकी सुदिष्टिमैं न परचै विषमतासौं,
समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट पुष्ट है ।।
जिन्हके कटाक्षमैं सहज मोखपंथ सधै,
मनकौ निरोध जाके तनकौ न कष्ट है।
तिन्हके करमकी कलोलैं यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है ।। २६ ।।

निर्जरा द्वार

कलश १४२

(शार्दूलविक्रीडित)

किंच—

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि।।१४२।।

अब इस बात को विशेष कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[**दुष्करतरैः**] कोई जीव तो दुष्करतर और [**मोक्ष-उन्मुखैः**] मोक्ष से पराङ्मुख [**कर्मभिः**] कर्मों के द्वारा [**स्वयमेव**] स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना) [**क्लिश्यन्तां**] क्लेश पाते हैं तो पाओ [**च**] और [**परे**] अन्य कोई जीव [**महाव्रत-तपः भारेण**] (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कथित) महाव्रत और तप के भार से [**चिरम्**] बहुत समय तक [**भग्नाः**] भग्न होते हुए [**क्लिश्यन्तां**] क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) [**साक्षात् मोक्षः**] जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, [**निरामयपदं**] निरामय (भावरोगादि समस्त क्लेशों से रहित)पद है और [**स्वयं संवेद्यमानं**] स्वयं संवेद्यमान है [**इदं ज्ञानं**] ऐसे इस ज्ञान को [**ज्ञानगुणं बिना**] ज्ञानगुण के बिना [**कथम् अपि**] किसी भी प्रकार से [**प्राप्तुं न हि क्षमन्ते**] वे प्राप्त नहीं कर सकते।

भावार्थः— ज्ञान है, वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकांड से उसकी प्राप्ति नहीं होती। ।।१४२।।

कलश १४२ पर प्रवचन

अन्य मतावलम्बी मिथ्यादृष्टियों को लक्ष्य में रखते हुए यहाँ कहते हैं कि जो जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से बाह्य हैं – ऐसे अज्ञानी व्रत, उपवास, तप आदि कर्मों से क्लेश पायें तो भले पायें तथा जैनाभासी – जैन मिथ्यादृष्टि भी महाव्रतादि का पालन करके क्लेश पाये तो भले पाये, पर

आत्मा के यथार्थज्ञान बिना उन्हें धर्म प्रगट नहीं होगा। धर्म तो अन्तर्दृष्टिपूर्वक अन्तर-रमणता से होता है। और वह धर्म आनंदरूप है, दु:खरूप नहीं। जिसमें क्लेश हो वह धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म तो सुखस्वरूप होता है, आनंदमय व आनन्दकारक होता है।

अन्तर्दृष्टि व स्व-संवेदन ज्ञान हुए बिना किसी को भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती, चाहे वह बाहर में महाव्रतादि का भी पालन क्यों न करता हो? भाई! सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानी कुछ भी करे, वह सब क्लेश ही है और उसका फल चतुर्गतिरूप संसार है।

अन्यमती हो या जैनमती, आत्मज्ञान व आत्मा की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन बिना कितना भी क्लेश सहे, उससे धर्म नहीं होता। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि जिसने आनंद के नाथ को नहीं जाना, जो मोहनिद्रा से जागृत नहीं हुआ, वह चाहे जितने भी व्रतादि क्रियाकाण्ड करे, तो भी उसे मोक्ष नहीं होता।

देखो, जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, समस्त राग के रोग से रहित है, पूर्ण निरामय है तथा जो अपने वेदन में आ सकने योग्य है, ऐसा "ज्ञान-स्वभाव" प्रत्यक्ष संवेदनज्ञान बिना अन्य कोई भी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकता। "ज्ञानस्वभाव" अर्थात् ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा ज्ञानगुण बिना अन्य किसी भी रीति से प्राप्त नहीं हो सकता।

कलश १४२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, "ज्ञान साक्षात् मोक्ष है" अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष है। यहाँ यह कह रहे हैं कि अशुभ से बचने के लिए दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि का व्यवहार होता तो अवश्य है, परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। ज्ञान की एकाग्रता की-दशा होते हुए भी जबतक पूर्णता की प्राप्ति न हो, तबतक बीच में व्यवहार का राग आता अवश्य है; परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो एक ज्ञान की एकाग्रता ही है। ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान अर्थात् ज्ञान का ज्ञान ही ज्ञान की एकाग्रता है। और वह एकाग्रता ही मोक्ष का कारण है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा के सन्मुख होनेपर जो ज्ञान होता है या ज्ञान की पर्याय होती है, वह वीतरागी पर्याय है। अहा! उस वीतरागी पर्याय से आत्मा को केवलज्ञान होता है। इसीकारण कहा है कि "ज्ञान साक्षात् मोक्ष

है।" एकप्रकार से कहें तो ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप ही है। तथा उसमें जो ज्ञान की पर्याय एकाग्र होती है, वह भी मोक्षस्वरूप ही है।

अहाहा--! ज्ञान व आनन्द आत्मा की स्वरूप सम्पदा है। उस स्वरूप सम्पदा की सन्मुखता, एकाग्रता से—ज्ञान के परिणमन से— स्वभाव के परिणमन से मोक्ष मिलता है।

प्रश्नः— ऐसा कहने से क्या एकान्त नहीं हो जायेगा? साथ में यदि ऐसा कहें कि व्यवहार में व्रत, तप आदि करने से भी मोक्ष होता है, तो क्या दोष है?

समाधानः— भाई! यह सम्यक् एकांत है। इसका तो अर्थ ही यह है कि ज्ञानसन्मुख एकाग्रता से— ज्ञान के परिणमन से मोक्ष होता है, तथा अन्य किसी भी प्रकार मोक्ष संभव नहीं है। तथा राग करते-करते वीतरागतास्वरूप मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। ज्ञान के परिणमन में ज्ञान की प्रतीति, ज्ञान का ज्ञान व ज्ञान में रमणता — ये तीनों आ गये। राग की क्रिया तो इन सबसे भिन्न ही रह जाती है।

रागरूप व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं है— ऐसा कहकर जो व्यवहार का निषेध किया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार है ही नहीं, या होता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि को जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक व्यवहार होता है, परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है।

कुछ लोग निश्चयपरक कथन को एकान्त कहकर उड़ाना चाहते हैं, पर वे वस्तुतः एकान्त व अनेकांत का स्वरूप जानते ही नहीं हैं। अनेकांत तो यह है कि चिदानन्दघन स्वभाव की एकाग्रता ही मोक्ष का कारण है तथा अन्य क्रियाकाण्ड मोक्ष का कारण नहीं है। व्रत, तप, भक्ति, यात्रा आदि व्यवहाररूप क्रियाकाण्ड से निर्जरा नहीं होती, मोक्ष नहीं होता। यही अस्ति-नास्ति से अनेकान्त का कथन है।

समयसार गाथा २०५

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहुवि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।।२०५।।

ज्ञानगुणेण विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते।
तद् गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम्।।२०५।।

यतो हि सकलेनापि कर्मणा, कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात्, ज्ञानस्यानुपलंभः। केवलेन ज्ञानेनैव, ज्ञान एवं ज्ञानस्य प्रकाशनात्, ज्ञानस्योपलंभः। ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभंते, इदमनुपलभमानाश्च कर्मभिर्न मुच्यंते। ततः कर्म-मोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलंभनीयम्।

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैं :–

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे।।२०५।।

गाथार्थः– [**ज्ञानगुणेन विहीनाः**] ज्ञानगुण से रहित [**बहवः अपि**] बहुत से लोग (अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी) [**एतत् पदं तु**] इस ज्ञानस्वरूप पद को [**न लभंते**] प्राप्त नहीं करते; [**तद्**] इसलिये हे भव्य! [**यदि**] यदि तू [**कर्मपरिमोक्षम्**] कर्मो से सर्वथा मुक्ति [**इच्छसि**] चाहता हो तो [**नियतम् एतत्**] नियत इस ज्ञान को [**गृहाण**] ग्रहण कर।

टीकाः– कर्म में (कर्मकाण्ड में) ज्ञान का प्रकाशित होना नहीं होता, इसलिये समस्त कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होता है इसलिये केवल (एक) ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये बहुत से ज्ञानशून्य जीव, बहुत से कर्म करने पर भी इस

ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते और इस पद को प्राप्त न करते हुए वे कर्मों से मुक्त नहीं होते; इसलिये कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक को मात्र (एक) ज्ञान के आलम्बन से, यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थः– ज्ञान से ही मोक्ष होता है, कर्म से नहीं; इसलिये मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना – ऐसा उपदेश है।

गाथा २०५ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस गाथा में भी यही कह रहे हैं कि कर्म अर्थात् दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि वाह्य क्रियाकाण्ड में ज्ञान का प्रकाशन संभव नहीं है। सभी शुभाशुभ रूप कर्म में आत्मा प्रकाशित नहीं होता। यह अत्यन्त स्पष्ट बात है, तथापि अनेक अज्ञानी जीव ऐसा कहते हैं कि व्रतादि शुभाचरण से भी मोक्ष होता है। भाई! व्यवहार से – राग से कभी मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है, इसलिए सभी प्रकार के शुभाशुभ कर्म से आत्मा की उपलब्धि होने का निषेध किया है।

प्रश्नः– प्रवचनसार के अन्त में तो कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होने की बात कही है, उसका क्या अभिप्राय है?

समाधानः– वहाँ तो निमित्त की मुख्यता से व्यवहार का ज्ञान कराया है और यहाँ उपादान की मुख्यता से यह स्पष्ट किया है कि कर्म में अर्थात् राग की क्रिया में ज्ञानस्वभाव का प्रकाशन नहीं होता। आत्मज्ञान बिना अहिंसा आदि महाव्रत के परिणाम एवं शास्त्रज्ञान भी सब कोरा कर्मकाण्ड है, धर्म नहीं है।

प्रश्नः– जो शुभराग को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है, उसका क्या अर्थ है?

समाधानः– भाई! परम्परा का अर्थ यह है कि राग का व्यय होकर मोक्ष होगा, राग से नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव के निर्मल रत्नत्रय के परिणाम बढ़ते-बढ़ते मुक्ति के परम्परा कारण बनते हैं। उसका आरोप करके उसके शुभाचरण को उपचार से परम्परा कारण कहा है। परन्तु अज्ञानी इस अभिप्राय को तो समझता नहीं है और ऐसा मानता है कि शुभाचरण से – व्यवहार से मोक्ष की प्राप्ति होगी। किन्तु यह तो उसकी विपरीत मान्यता है। ज्ञानी स्वयं शुद्धोपयोगरूप होकर रागभाव की क्रिया को अपने में न मिलाता हुआ राग को छोड़ देता है। इसप्रकार क्रमशः सम्पूर्ण राग के त्यागपूर्वक मुक्ति को प्राप्त करता है।

'स्व' से अस्ति व 'पर' से नास्ति का नाम ही अनेकान्त है। इसी ग्रंथ के परिशिष्ट में अनेकान्त के १४ बोल हैं। वहाँ कहा है कि वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप है। इसीप्रकार मोक्षदशा स्वभाव से अस्तिरूप व व्यवहार से – राग से नास्तिरूप है। भाई! समकिती के भी व्यवहार होता है। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हुई, स्वरूप का पूर्ण आश्रय नहीं हुआ, तबतक पर के आश्रय से दया, दान, भक्ति आदि भाव आते हैं; परन्तु वे मोक्ष के कारण नहीं हैं, बंध के ही कारण हैं।

देखो, यहाँ भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त दर्शाया है।

क्रियाकाण्ड में ज्ञान का प्रकाशन अथवा धर्म की दशा प्रगट नहीं होने से सभी प्रकार के कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती– यह तो नास्तिरूप धर्म दर्शाया है।

तथा ज्ञानस्वभाव में ही ज्ञान का प्रकाशन चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता होने से केवल एक ज्ञान से ही ज्ञान की (धर्म की) प्राप्ति होती है– यह अस्तिरूप धर्म दर्शाया है।

भाई! "राग से मोक्ष होता है" यह जो तेरी मान्यता है, वह मिथ्या है। भूमिकानुसार राग होता तो अवश्य है, परन्तु वह बंध का ही कारण है। उस राग से मुक्ति अथवा निर्जरा में मदद नहीं मिलती। अहाहा......! ज्ञान में ही – भगवान ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में ही एकाग्रता हो तो ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। केवल एक ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति है। यह निर्जरा अधिकार है न? इसलिए निर्जरा-धर्म कैसे प्रगट होता है – इस बात का यह विशेष स्पष्टीकरण है।

आत्मज्ञान या आत्मानुभव से शून्य जीव अनेक प्रकार के कर्म करने पर भी इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं करते। वीतरागी परिणति से रहित बहुत से जीव दया, दान, व्रत, भक्ति आदि अनेक कर्म करने पर भी किंचित् भी धर्म की प्राप्ति नहीं कर पाते। अहाहा......! भगवान की प्रतिमा के हजारों बार चरण स्पर्श करे तथा सुबह से शाम तक अनेक क्रियाकाण्ड करे तो भी ज्ञानरहित जीवों को कुछ भी धर्म नहीं होता।

यहाँ ज्ञानशून्य का अर्थ आगमज्ञान व शास्त्रज्ञान शून्य नहीं है, बल्कि स्वसंवेदन ज्ञान से शून्य या आत्मज्ञान से शून्य है। तथा यहाँ अशुभ कर्म की या अशुभ परिणाम की तो बात ही नहीं है, यहाँ तो ऐसा

कहा है कि जिसको "मैं आत्मा हूँ" – ऐसा भान नहीं हुआ – ऐसे आत्मज्ञान शून्य बहुत से जीव अनेक प्रकार के शुभराग रूप आचरण करते हुए भी 'ज्ञानपद' को प्राप्त नहीं करते। इसलिए कर्म से मुक्ति की इच्छावाले जीवों को केवल एक ज्ञान पद का आलम्बन करने योग्य है।

गाथा २०५ के भावार्थ पर प्रवचन

"ज्ञान से ही मोक्ष होता है" इसका अर्थ आगमज्ञान – शास्त्रज्ञान रूप राग का ज्ञान अथवा आत्मा की पर्याय के ज्ञान से मोक्ष होता है – ऐसा नहीं है, बल्कि यहाँ ज्ञान का अर्थ केवल आत्मज्ञान, त्रिकालशुद्ध परमात्मद्रव्य का स्वसंवेदन ज्ञान है। ऐसे आत्मज्ञान से ही ज्ञान के स्वभाव सम्मुख हुए परिणमन से ही मोक्ष होता है, राग के परिणमन से या क्रियाकाण्ड से नहीं।

इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिए। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होकर उसी में रमना व ठहरना चाहिए। यही पूर्ण आनंद स्वरूप मोक्षदशा की प्राप्ति का उपाय है। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(द्रुतविलंबित)

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं :–

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत्।।१४३।।

श्लोकार्थ:– [**इदं पदम्**] यह (ज्ञानस्वरूप) पद [**ननु कर्मदुरासदं**] कर्मों से वास्तव में दुरासद है और [**सहज-बोध-कला-सुलभं किल**] सहज ज्ञान की कला के द्वारा वास्तव में सुलभ है; [**ततः**] इसलिये [**निज-बोध-कला-बलात्**] निजज्ञान की कला के बल से [**इदं कलयितुं**] इस पद का अभ्यास करने के लिए (अनुभव करने के लिये)[**जगत् सततं यततां**] जगत सतत प्रयत्न करो।

भावार्थ:– समस्त कर्मों को छुड़ाकर ज्ञानकला के बल द्वारा ही ज्ञान का अभ्यास करने का आचार्यदेव ने उपदेश दिया है। ज्ञान की

'कला' कहने से यह सूचित होता है कि जबतक सम्पूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो, तबतक ज्ञान हीनकला स्वरूप – मतिज्ञानादिरूप है; ज्ञान को उस कला के आलम्बन से – ज्ञान का अभ्यास करने से केवल–ज्ञान अर्थात् पूर्णकला प्रगट होती है।।१४३।।

कलश १४३ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा वस्तुतः कर्म से दुरासद है। दुरासद है अर्थात् दुष्प्राप्य है। इन दया, दान, व्रत, तप आदि कर्मकाण्ड से आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। आचार्य इतने स्पष्ट रूप से कह रहे हैं, तथापि अज्ञानी की समझ में क्यों नहीं आती? यह आश्चर्य है। तथा वह शुद्धात्मतत्त्व सहजज्ञान की कला से अत्यन्त सुलभ है। 'सहजज्ञानकला' अर्थात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञानरूप सहज स्वाभाविक ज्ञानकला से वह आत्मा अत्यन्त सुलभ है। इसलिए हे जगत के प्राणियो ! अन्तर में भेदज्ञान से प्रगट हुई मति-श्रतुज्ञानरूप सहज निजज्ञान की कला के बल से तुम सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करने का प्रयत्न करो।

अहाहा....! आत्मद्रव्य शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु परमात्मा है। वह एक ही प्राप्त करने योग्य – अनुभव करने योग्य है। किन्तु वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है तथा राग के क्रियाकाण्ड से भी वह ग्राह्य – प्राप्य नहीं है। वह तो उसके अनुभव की परिणति मात्र से ग्राह्य है। आचार्य कहते हैं कि हे जगत के जीवो! देखो, हमने एक-साथ सबको निमंत्रण दे दिया है। वैसे तो अनन्त जीव राशि है, पर उसमें से सुनने-समझने लायक तो केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय ही हैं, फिर भी कहते हैं कि हे जगत के जीवो! तुम निरंतर आत्मा के अनुभव करने का प्रयत्न करो, उद्यम करो; क्योंकि आत्मा के अनुभव से ही पूर्णस्वरूप की प्राप्ति हो सकेगी, अन्यप्रकार से नहीं।

प्रश्नः– आगम में तो तप से निर्जरा कही है; अतः यदि हम अनशन, ऊनोदर आदि तप करें, तो क्या उससे निर्जरा नहीं होगी?

समाधानः– भाई! अनशन, ऊनोदर आदि तो बाह्य तप हैं। जो बाहर दिखे, वह बाह्य तप कहलाता है। अंतरंग तप बिना अकेले बाह्य तप करने से निर्जरा नहीं होती। ये तो शुभराग रूप क्रिया है, इससे निर्जरा मानना तो मिथ्यात्व है।

आचार्यदेव ने प्रस्तुत कलश में तो क्रियाकाण्ड रूप सर्वकर्म को छुड़ाकर केवल ज्ञानकला के द्वारा ही आत्मानुभव करने की प्रेरणा दी है।

यहाँ कर्म का अर्थ विकारी परिणाम, शुभभावरूप क्रियाकाण्ड है। तथा इन सबको छोड़कर एक आत्मा में एकाग्र होने की बात है, शुभकर्म को छोड़कर अशुभ में परिवर्तन करने की बात नहीं है, बल्कि शुभाशुभ भावों को छोड़कर एवं अन्तःएकाग्र होकर शुद्धोपयोगरूप धर्म प्रगट करने की बात है; क्योंकि वह शुद्धभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्नः—इस पंचमकाल में शुद्धोपयोग तो होता ही नहीं है, अतः शुद्धोपयोग का उपदेश देने से क्या लाभ? शुभोपयोगी बनने का ही उपदेश होना चाहिए?

समाधानः— अरे भाई! ऐसी बात नहीं है, वर्तमान में शुद्धोपयोग भी होता है। चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग की शुरुआत हो जाती है; फिर पाँचवें, छठवें, सातवें आदि गुणस्थानों में क्रमशः इसकी वृद्धि होती है। जबतक सम्यग्दृष्टि और भावलिंगी संतों का सद्भाव है, तबतक शुद्धोपयोग भी होगा ही।

प्रश्नः— एक स्थान पर जयधवल में ऐसा कथन आया है कि शुद्ध और शुभभाव के सिवाय कर्मक्षय का अन्य कोई उपाय नहीं है और यहाँ शुभभाव को केवल बंध का ही कारण बताया गया है, इसका क्या कारण है?

समाधानः— भाई! वहाँ अपेक्षा जुदी है। वहाँ तो यह कहा है कि शुद्धभाव से शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों की निर्जरा होती है तथा शुभभाव से अशुभ की निर्जरा होती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के शुभभावों से ही अशुभ की निर्जरा होती है, क्योंकि भेदज्ञान के बल से ज्ञानी के ऐसा होता है। अज्ञानी के शुभभाव से तो अकेला बंध ही होता है, उसके निर्जरा तो होती ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की कला कहने से यह सूचित होता है कि जहाँतक पूर्णकला (केवलज्ञान) प्रगट नहीं होती, तबतक ज्ञान हीन-कलास्वरूप मतिज्ञानादिरूप है। हीनकला अर्थात् मतिज्ञानादि व पूर्णकला अर्थात् केवलज्ञान। जिसप्रकार पूर्णचन्द्र की ही पूर्ण कलायें होती हैं, द्वितीया के चाँद की पूर्ण कलायें प्रगट नहीं होती; किन्तु हीनकलायें होती हैं। उसीप्रकार भगवान आत्मा के मतिज्ञान व श्रुतज्ञान द्वारा जो दो कलायें खिली हैं।वे ही आत्मानुभव का अभ्यास करते हुए आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान कला के रूप में विकसित हो जातीं हैं।

समयसार गाथा २०६

किंच—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ।।२०६।।

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्।।२०६।।

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशीः यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि, मा अन्यान् प्राक्षीः।

अब इस गाथा में इसी उपदेश को विशेष कहते हैं :—

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।२०६।।

गाथार्थः— (हे भव्य प्राणी!) तू [**एतस्मिन्**] इसमें (ज्ञान में) [**नित्यं**] नित्य [**रतः**] रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, [**एतस्मिन्**] इसमें [**नित्यं**] नित्य [**सन्तुष्टः भव**] सन्तुष्ट हो और [**एतेन**] इससे [**तृप्तः भव**] तृप्त हो; (ऐसा करने से) [**तव**] तुझे [**उत्तमं सौख्यम्**] उत्तम सुख [**भविष्यति**] होगा।

टीकाः— (हे भव्य!) इतना ही सत्य (परमार्थस्वरूप) आत्मा है, जितना यह ज्ञान है— ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदा ही रति (प्रीति— रुचि) प्राप्त कर। इतना ही सत्य कल्याण है, जितना यह ज्ञान

है– ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा ही सन्तोष को प्राप्त कर, इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है– ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा ही तृप्ति प्राप्त कर।

इसप्रकार सदा ही आत्मा में रत, आत्मा में सन्तुष्ट और आत्मा से तृप्त ऐसे तुझको वचन-अगोचर सुख प्राप्त होगा; और उस सुख को उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा, दूसरों से मत पूछ। (वह अपने को ही अनुभवगोचर है, दूसरों से क्यों पूछना पड़ेगा?)

भावार्थ:– ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी से सन्तुष्ट होना और उसी से तृप्त होना परमध्यान है। उससे वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है और थोड़े ही समय में ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुख को जानता है, दूसरे का इसमें प्रवेश नहीं है।

गाथा २०६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

आचार्य यहाँ प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि हे भव्य! शुद्ध चैतन्यप्रकाश से प्रकाशित चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा मात्र उतना ही है कि जितना ज्ञान है। ऐसा निश्चय करके अपने उस ज्ञानमात्र आत्मा में ही रति (प्रीति) कर; क्योंकि परमार्थस्वरूप आत्मा ज्ञानमात्र ही है। यद्यपि आत्मा में अन्य भी अनन्तगुण हैं, परन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन की मुख्यता से अन्य गुणों को अत्यन्त गौण कर दिया है। इसीलिए यहाँ तक कह दिया कि ज्ञान से अन्य जो कुछ भी है, वह आत्मा नहीं है। ऐसा कहकर जब अन्य गुणों एवं भेदों का भी निषेध कर दिया है तो दया, दान, भक्ति, तप आदि के विकल्प की तो बात ही क्या है?

अहाहा.....! जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्यार्थ आत्मा है– ऐसा कहकर शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ एवं रागादि आत्मा नहीं हैं– ऐसा कहा है। अब कहते हैं कि ऐसा निश्चय करके हे भव्य! तू ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही प्रीति कर! उसी में रुचि कर!! उसी में संतुष्ट हो और उसी में तृप्त हो, इसी से तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

यहाँ अस्ति से तो यह कहा है कि ज्ञानमात्र ही आत्मा है– ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र वस्तु में ही रति कर, रुचिकर तथा नास्ति से यह कहा है कि राग, पुण्य व निमित्त की रुचि छोड़ दे – इसप्रकार अस्ति व नास्ति से दोनों कथन आ गये है।

यद्यपि गाथा में नास्ति से कथन नहीं किया, तथापि अस्ति के कथन से नास्ति आ ही जाती है। ज्ञानमात्र में ही रुचि कर! इसका अर्थ ही यह है कि राग-द्वेष एवं निमित्तादि की रुचि छोड़ !

अहाहा.....! अरहंतदेव और उनके द्वारा निरूपित शास्त्र ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू ज्ञानमात्र है, अतः उसी में प्रीति कर और हमारा राग (प्रीति) भी छोड़ दे। तेरा भगवान तो तेरे ही अन्दर चैतन्यचंद्र है, उसमें प्रीति कर! यद्यपि गगन का चन्द्र भी शीतल होता है, किन्तु वह तो जड़रूप है और चैतन्यचन्द्र की शीतलता अतीन्द्रिय आनन्द और शान्तिमय है। चाहे शान्ति का पिण्ड कहो या ज्ञान का पिण्ड कहो – एक ही बात है, परन्तु यहाँ ज्ञान की मुख्यता है न? अतः ऐसा कहा है कि "जितना ज्ञान है उतना ही परमार्थ आत्मा है।" – ऐसा निश्चय करके उसी में रति (प्रीति) कर, सदा ज्ञानमात्र प्रभु आत्मा में ही दृष्टि कर! अपनी दृष्टि का विषय ज्ञानमात्र आत्मा को बना, यह तो प्रथम बोल हुआ।

अब दूसरा बोल कहते हैं– "इतना ही सत्य कल्याण है, जितना यह ज्ञान है" – ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदा संतुष्ट रह!"

अहाहा! जितना अन्तरात्मा में ज्ञानस्वरूप है, उतना ही सत्य कल्याण है। जो ज्ञानस्वरूप है, वही कल्याणस्वरूप है तथा यही आत्मस्वरूप है। इसलिए यदि तुझे कल्याण करना हो तो कल्याणस्वरूपी प्रभु आत्मा में सदा ही संतोष धारण कर!

अहाहा! जो ज्ञानस्वरूप है, वही कल्याणस्वरूप है – ऐसा निश्चय करके – निर्णय करके ज्ञानमात्र से ही संतुष्ट रह! देखो, "ज्ञानमात्र में ही संतोष प्राप्त कर!" ऐसा कहने से एकान्त-सा लगता है, पर यह सम्यक् एकान्त है, मिथ्या-एकान्त नहीं है। तथा इसका नास्तिपरक अर्थ यह भी निकलता है कि "ज्ञानमात्र भाव के सिवाय रागादि में कभी भी संतुष्ट मत हो, क्योंकि वहाँ संतोष है ही कहाँ? रागादि में संतुष्ट होना तो मृग-मरीचिका की भाँति भ्रममात्र है। सच्चा संतोष तो मात्र ज्ञानस्वभाव में हीं है, अतः इसी में संतुष्ट हो।

यहाँ पर्याय से भी दृष्टि हटाकर एक त्रिकाली ज्ञानमात्र में ही संतोष करने को कहा गया है, अतः कहा है कि शास्त्र बाँचने, सुनने और उसके मनन करने के जो विकल्प उठते हैं, वह भी आत्मा नहीं है, ज्ञान नहीं है, कल्याण नहीं है।

अब तीसरे बोल में कहते हैं कि ज्ञानमात्र आत्मा ही सत्य अनुभवनीय है – यह अस्ति से कहा तथा नास्ति से कहें तो दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, यात्रा आदि के विकल्प अनुभव करने लायक नहीं हैं; क्योंकि वह तो राग का व दुःख का वेदन है। भाई! उतना ही अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है, शेष व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी असत्य है, अनुभव करने लायक नहीं है।

यहाँ भगवान देवाधिदेव अरहंत-वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा और उनके आड़तिया मुनिवर ऐसा कहते हैं कि हे प्रभु! तू केवल उतना ही सत्य अनुभव करने लायक है कि जितना ज्ञानमात्र तू है तेरा स्वरूप है।

अरहंत भगवान स्वयं कहते हैं कि तू हमारी ओर भी मत देख, क्योंकि हम भी तेरे लिए परद्रव्य हैं और परद्रव्य की ओर देखने से नियम से रागभाव ही होता है। भगवान की भक्ति, स्तुति, पूजा आदि का राग भी अनुभव करने लायक नहीं है, क्योंकि यह तो दुःख का अनुभव है। अरे भाई! तेरा ज्ञानप्रमाण त्रिकाली आत्मा ही केवल अनुभव करने लायक है।

प्रश्नः– यदि ऐसा है तो फिर ये संसार के कामों का क्या होगा? इन्हें कौन करेगा? ये कैसे होंगे?

समाधानः– भाई! तू तो मात्र ज्ञानस्वरूप है। तू तो एक ज्ञायकभाव से ही सदा रहता है। हाँ, व्यवहार से तू ज्ञेयों का ज्ञाता अवश्य है, पर ज्ञेयों का कुछ कार्य कर सके – ऐसी कोई भी सामर्थ्य ही तुझ में नहीं है। अतः तू इनका कर्ता नहीं है। और इन ज्ञेयों से तुझे भी कोई लाभ-हानि नहीं है अर्थात् ये ज्ञेय भी तेरा कुछ नहीं करते। मैं ज्ञेयों का कार्य करता हूँ – ऐसा कहना तो मिथ्याभाव है। अतः संसार के – राग के कार्यों का लक्ष्य छोड़कर एक आत्मा का ही अनुभव कर!

देखो, यहाँ सारांशरूप में तीन बोल कहे गये हैं, जो इसप्रकार हैं:–

(१) भगवान आत्मा ज्ञानप्रमाण – ज्ञानमात्र है, उसमें रति कर!
(२) भगवान आत्मा, जो ज्ञानप्रमाण – ज्ञानमात्र है, उसी में संतुष्ट रह!
(३) भगवान आत्मा जो ज्ञानप्रमाण है, उसका अनुभव करके सदा उसी में तृप्ति प्राप्त कर!

भाई! पहले निर्णय तो कर कि अन्तर में यदि कोई अनुभव करने लायक है तो यह एक आत्मा ही है। ऐसा निर्णय करके उसी में प्रीति कर, उसी में संतुष्ट रह!! और उसी में तृप्ति को प्राप्त कर!!!

अहाहा.....! आत्मा में ही लीन, संतुष्ट व तृप्त जीवों को वचन से अगोचर सुख प्राप्त होगा। अतीन्द्रिय आनन्द एवं शान्ति प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में कहें तो यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है।

प्रश्नः— इसे प्राप्त करने के शास्त्रों में अन्य साधन भी तो कहे हैं न?

समाधानः— हाँ कहे हैं; परन्तु जो अन्य साधन कहे हैं, वे तो निमित्तों के सहचर कारणों का ज्ञान कराने के लिये कहे हैं। जैसे कि ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव होने पर, उसमें जो प्रतीति हुई, वह तो निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा उसके पहले देव-गुरु-धर्म की भेदरूप श्रद्धा का राग होता है, उनके निमित्त से आत्मज्ञान की ओर जीव का झुकाव होता है, अतः उनपर आरोप कर उनकी श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है। भाई! व्यवहार समकित यथार्थ समकित नहीं है, किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन का सहकारी होने से उसे उपचार से आरोप करके समकित कहा गया है। वस्तुतः तो वह राग है— चारित्र का दोष है। इसीप्रकार ज्ञानमात्र आत्मा में अन्तः स्थिरता — रमणता होने पर जो चारित्र प्रगट हुआ, वह मोक्ष का यथार्थ साधन है, तथा उससमय जो महाव्रतादि व्यवहार रत्नत्रय का राग किंचित् विद्यमान है, उसे उपचार से आरोप करके साधन कहा जाता है। वे वास्तविक साधन नहीं हैं। है तो वह राग ही—चारित्र का दोष ही, किन्तु उपचार से उसे साधन कहा गया है।

प्रश्नः— आचार्य जयसेन ने व्यवहार को साधन व निश्चय को साध्य कहा है। उसका अर्थ लोग ऐसा करते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है। क्या यह ठीक है?

समाधानः— भाई! वस्तुतः राग वीतरागता का साधन कैसे हो सकता है? यह तो निमित्त की अपेक्षा व्यवहार कथन है। आत्मा जब स्वभाव का साधक होकर निर्विकल्प शान्ति व आनन्द को प्राप्त करता है, उस समय जो मंदराग होता है, उसपर कारण का आरोप करके उसे भी उपचार से साधन कह दिया जाता है। जिसप्रकार जब निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, तब उस समय के शुभराग को उपचार से व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है, उसीप्रकार स्वभाव के साधन द्वारा जब जीव स्वभाव में ठहरता है, तब जो शुभराग शेष है, उसे व्यवहार से साधन कहा है।

प्रश्नः— शुद्धोपयोग होने के अनन्तरपूर्व समय में जो शुभोपयोग होता है, उसे साधन मानने में क्या आपत्ति है?

समाधानः– भाई! शुभोपयोग से छूटकर या शुभोपयोग का अभाव (नाश) करके शुद्धोपयोग हुआ है, अतः उसे वास्तविक साधन नहीं कह सकते; क्योंकि अभाव उत्पत्ति का सच्चा साधन नहीं हो सकता। जब राग की रुचि छूटी, तब तो ज्ञान की रुचि हुई। उस राग को जिसकी रुचि ज्ञान होने में बाधक थी, उसे साधक कैसे कहा जा सकता है? शुभोपयोग से भेदज्ञान करने पर – भिन्न होने पर तो आत्मानुभव होता है, फिर वह साधक कैसे हो सकता है? अतः आत्मानुभव के काल में जो रागांश विद्यमान रहता है, उसे आरोपित कथन द्वारा उपचार से व्यवहार से साधन कहा जाता है। यही जयसेनाचार्य के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है। उन्हीं जयसेनाचार्य ने ३२०वीं गाथा में ऐसा कहा है कि "सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष, प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ।" जब पर्याय भी मैं नहीं तो फिर राग की तो बात ही क्या है? – राग को उपचार से साधन कहना अलग बात है तथा उसे साधन मानना जुदी बात है।

कहते हैं कि भाई! तू ज्ञानमात्र आत्मा में रुचि कर, उसी में संतुष्ट हो तथा उसी में सदा तृप्ति प्राप्त कर; क्योंकि तुझे उसी से ही वचन अगोचर सुख प्राप्त होगा। भाई! रुचि – दृष्टि बदलते ही सम्पूर्ण मार्ग बदल जायेगा, अनादि से जो तू राग के – दुःख के पंथ में था, उससे मुक्त होकर तू सुख के पंथ में आ जायेगा। और वह सुख तू तत्काल – उसीसमय स्वयं अनुभव करेगा। भाई! तुझे तुझमें से ही उस अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होगा।

भाई! तू बाहर में भटक-भटक कर, पुण्य-पाप के भाव कर-करके हैरान हो गया है। आचार्य यहाँ तुझे निजघर बताते हैं। प्रभु! तेरा निजघर तो ज्ञानानन्दस्वभाव से भरपूर एवं पुण्य-पाप के भाव से अतिदूर है। तू परघर से निकलकर निजघर में आ जा! अज्ञानी को इसकी प्रतीति नहीं होती। वह तो व्यवहार से ही धर्म की प्राप्ति होना मानता है। अरे भगवान! जो तुझमें नहीं है, उसका तो तुझे भरोसा है और जो तुझमें है, उसका भरोसा नहीं है।

कहते हैं कि वह सुख उसी क्षण तू स्वयं ही देखेगा, दूसरों से मत पूछ! अर्थात् वह सुख स्वयं ही अनुभवगोचर है, दूसरों से नहीं पूछना पड़ता। तात्पर्य यह है कि तू अधिक प्रश्नोत्तर मत कर! दूसरों से मत पूछ! वाद-विवाद में मत उलझ! अपनी अन्तरात्मा में समा जा! तुझे उसी समय अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होगी।

विदेहक्षेत्र में साक्षात् सीमंधर परमात्मा की दिव्यध्वनि सुननेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ है। तू ज्ञान, आनन्द, शान्ति, चारित्र, सुख, स्वच्छता, प्रभुता एवं ईश्वरता आदि अनन्तगुणों से भरा, पूर्ण एक ज्ञानमात्र भगवान आत्मा है। उसकी रुचि कर। तुझे जो अन्य पदार्थों में रुचि है, उसे छोड़ दे, क्योंकि वह हानिकारक है। किसी से पूछने के विकल्प से भी विराम ले ले, क्योंकि यही एकमात्र सुख की प्राप्ति का उपाय है।

गाथा २०६ के भावार्थ पर प्रवचन

"ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी में संतुष्ट होना तथा उसी में तृप्त होना ही परमध्यान है।"

देखो, यहाँ 'रतिकर' का अर्थ लीन होना किया है। अहाहा.....! ज्ञान व आनन्द आत्मा का स्वभाव है तथा आत्मा स्वभाववान है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा में लीन होना, उसी में संतुष्ट होना और उसी से तृप्त होना ही परमध्यान है।

देखो, विकल्प से छूटना व ज्ञानानन्दस्वभाव में लीन होना ध्यान है। भाई! ध्यान का परलक्ष्य में जाना तो आर्त-रौद्रध्यान है, जो दुःखकारी है। इसलिए अब धर्मध्यान प्रगट कर! वह धर्मध्यान दो प्रकार का है–

(१) निश्चय एवं (२) व्यवहार। आत्मा का परमध्यान निश्चय धर्मध्यान है। धर्म का धारक धर्मी आत्मद्रव्य जहाँ अपने परिपूर्ण स्वभाव में विद्यमान है, उसमें एकाग्रता करना, लीन होना ही निश्चय धर्मध्यान है तथा तत्संबंधी जो शुभविकल्प हैं, वह व्यवहार धर्मध्यान है।

"एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम्" एक + अग्र = एकाग्र। एक अर्थात् आत्मा को, अग्र अर्थात् मुख्य करके, दृष्टि में लेकर' उसी में लीन होकर, चिन्ता-निरोध अर्थात् विकल्पों का निरोध होना, सो ध्यान है। अहाहा! पूर्णानन्द के नाथ परिपूर्णस्वभावी भगवान आत्मा में एकाग्र होना, उसी में लीन होना परमध्यान है। अब कहते हैं कि उससे वर्तमान आनंद अनुभव में आता है और अल्पकाल में ही ज्ञानानंदस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

देखो, पहले पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा की ध्यान में प्राप्ति होना, ध्यान की प्रथम दशा है। अतः कहते हैं कि वर्तमान आनन्द अनुभव में आता है तथा ध्यान जमते-जमते थोड़े ही काल में परिपूर्ण दशा होने पर

ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। द्रव्यसंग्रह की ४७ वीं गाथा में आता है कि–

"दुविहं पि मोक्ख हेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा"

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है– (१) सच्चा मोक्षमार्ग (२) व्यवहार मार्ग।

आहाहा.....! अन्तर में शुद्ध आत्मद्रव्य के ग्रहण करने पर जो विकल्प विना एकाकार चिदाकार दशा होती है, वह ध्यान है। तथा इस ध्यान में दो प्रकार का मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। वहाँ शुद्धरत्नत्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय (सत्यार्थ) मोक्षमार्ग है। तथा उसके साथ जो राग शेष रहता है, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। हे भाई! ये दोनों मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होंगे। परन्तु जिसको वर्तमान में यह भी पता नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? उसे ध्यान भी संभव नहीं है और मोक्षमार्ग भी नहीं।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तू शुद्धात्मद्रव्य में लीन हो जा, उसी में संतुष्ट रह एवं उसी में तृप्ति प्राप्त कर! इससे तुझे वर्तमान में ही आनन्द की प्राप्ति होगी तथा थोड़े ही काल में तुझे ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। ब्रह्म'लीन पुरुष ही परमानन्द का अनुभव करते हैं। अन्य मिथ्यादृष्टियों को अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त नहीं होता।

अव ज्ञानानुभव की महिमा का और आगामी गाथा की सूचना का काव्य कहते हैं।

(उपजाति)

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात्
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।१४४।।

श्लोकार्थः [**यस्मात्**] क्योंकि [**एषः**] यह (ज्ञानी) [**स्वयम् एव**] स्वयं ही [**अचिंत्यशक्ति देवः**] अचिंत्य शक्तिवाला देव है और [**चिन्मात्र-चिन्तामणिः**] चिन्मात्र चिन्तामणि है; इसलिए [**सर्व-अर्थ-सिद्ध-आत्मतया**] जिसके सर्व-अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं – ऐसा स्वरूप होने से [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अन्यस्य परिग्रहेण**] दूसरे के परिग्रह से [**किम् विधत्ते**] क्या करेगा? (कुछ भी करने का नहीं है।)

भावार्थः– यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं ही अनन्तशक्ति का धारक देव है और स्वयं ही चैतन्यरूपी चिंतामणि होने से वांछित कार्य की सिद्धि करनेवाला है; इसलिए ज्ञानी के सर्व प्रयोजन सिद्ध होने से, उसे अन्य

परिग्रह का सेवन करने से क्या साध्य है? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं। ऐसा निश्चयनय का उपदेश है।।१४४।।

कलश १४४ पर प्रवचन

भगवान आत्मा अचिन्त्यशक्तिवाला देव है। 'अचिन्त्यशक्ति' अर्थात् जिसके अद्भुतगुण, असीमशक्तियाँ और अनेक विशेषताएँ हमारे सीमित चिन्तन के विषय ही न बन सकें, जिन्हें हम अपने विकल्पों की सीमा में समेट ही न पायें। जिनको ग्रहण कर पाने में हमारा क्षयोपशमज्ञान बौना साबित हो गया है – ऐसे भगवान आत्मा की शक्तियाँ वस्तुतः अचित्य है, असीमित हैं। तथा जिसने उस भगवान आत्मा को अपने अनुभव का विषय बना लिया है, वह अचिन्त्य शक्तिवाला ज्ञानी आत्मा भी स्वयं ही देव है, भगवान् है।

आहाहा.....! यह आत्मा तो स्वयं अपने स्वभाव से – स्वभाव के लक्ष्य से स्वानुभूति में जान लिया जाय– ऐस प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी प्रभु है। जिसने स्वानुभव में आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, ऐसा धर्मी – ज्ञानी भी अचिन्त्यदेव है तथा वह चिन्मात्र चिन्तामणी है। देखो, धर्मी चिन्मात्र चिन्तामणिरत्न है; क्योंकि चिन्मात्र चिन्तामणि आत्मा को उसने हस्तसिद्ध कर लिया है। जिसप्रकार जिसके हाथ में चिन्तामणि रत्न हो, वह जो चिन्तवन करता है, वही उसे प्राप्त हो जाता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणि है, क्योंकि जो उस चैतन्य चिन्तामणि में एकाग्र होता है, उसे निर्मल चैतन्यरत्न (ज्ञान-दर्शनादि) प्राप्त हो जाते हैं। भाई! राग चैतन्य चिन्तामणि नहीं है; ये दया, दानादि के विकल्प या व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प भी चैतन्यचिन्तामणि नहीं है, क्योंकि उनमें एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शनादि प्रगट नहीं होते, किन्तु इसके विपरीत जीव पामर (दयनीय) दशा को प्राप्त होता है, चतुर्गति में ही भ्रमण करता है।

अहा! यह निर्जरा अधिकार है, जो अतिसूक्ष्म है। अज्ञानी इसके भाव को नहीं समझता; अतः वह तो ऐसा कहता है कि हमने उपवास किया, इससे निर्जरा होगी; क्योंकि उपवास करना तप है और तप से निर्जरा होती है। तथा वह निर्जरा मोक्ष का कारण है। उनसे कहते हैं कि भाई! जैसा उपवास तुम करते हो, उससे तो किंचित् भी निर्जरा नहीं हो सकती। केवल अन्न (आहार) के त्याग का नाम उपवास थोड़े ही है, वह तो निमित्त का कथन है। वास्तविक उपवास तो उसे कहते हैं कि जिसमें अचिन्त्यदेव चिन्मात्र चिन्तामणि प्रभु आत्मा का अनुभव होता है। जिसे ऐसा अनुभव है, वही सच्चे तप का करनेवाला तपस्वी है।

बाहर में जो देव अधिष्ठित चिन्तामणि रत्न है, वह तो जड़-पत्थर है। वह निराकुल आनन्द देने में समर्थ नहीं है। जबकि यह भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणि रत्न है। अन्तर-एकाग्रता से इस चैतन्य चिन्तामणि रत्न में अनुभवदशा प्रगट करके उसका जितना अनुभव करे, उतना ही निराकुल अनुपम आनन्द आता है। जिसप्रकार अरहंत परमात्मा चैतन्य चिन्तामणि प्राप्त करके पूर्ण आनन्द को प्राप्त हुए हैं, उसीप्रकार धर्मी जीवों को भी सम्यग्दर्शन में चैतन्य चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति हो जाती है तथा फिर अन्तर में एकाग्रता से अन्तर रमणता में जितनी-जितनी वृद्धि होती जाती है, उतनी-उतनी ही अधिक निराकुल आनन्द की प्राप्ति होती जाती है। पूर्ण-एकाग्रता होने पर पूर्ण-आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं ही अचिन्त्यदेव और चैतन्य चिन्तामणि है। व्यवहार के विकल्पों से भेद करने से यह ज्ञानी स्वयं चैतन्य चिन्तामणि और अचिन्त्य शक्तियों का स्वामी – देव है। ऐसे आत्मा पर जिसकी दृष्टि पड़ी, उसे स्वानुभव में भगवान की प्राप्ति होने से उसके सर्व-अर्थ (प्रयोजन) पूरे हो गये हैं।

जिसे आत्मलाभ हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ, उसे वर्तमान में निराकुल आनन्द की प्राप्ति है और अल्पकाल में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होगी। इसलिए उसके सर्व प्रयोजन सिद्ध हो गये हैं—ऐसा कहा है।

अहा! ऐसा अपना आत्मा स्वयं देवाधिदेवस्वरूप कारणपरमात्मा अन्तर में सदा विराजमान है। तथापि अज्ञानी अपने देवाधिदेव को भूलकर पद्मावती व क्षेत्रपाल आदि साधारण देवी-देवताओं की आराधना करते हैं। अरे भाई! तुम्हें यह क्या हो गया है? जो इस तरह दीन-हीन हुए संसार में भटक रहे हो। भगवान्! तू चैतन्य चिन्तामणि रत्न है। उसे पहचान कर उसी में जा, उसी में जम और उसी में रम। वहाँ तुझे अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होगी। तुझे ऐसा लगेगा कि तेरी सब- अर्थ की सिद्धि हो गई है। तुझे ऐसा निराकुल आनन्द प्राप्त होगा, जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ। भाई! यह परम सत्य वस्तु है। यह कोई कल्पना की या किसी पक्ष विशेष की बात नहीं है।

आहाहा.....! कहते हैं कि भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणि और अचिन्त्य शक्तिवाला देव है। जब उसका अन्तर में भान होता है, तब सर्व-अर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

अब कहते हैं कि ऐसे ज्ञानी को अन्य परिग्रह से क्या प्रयोजन? जब सर्व-अर्थ ही सिद्ध हो गये, तो अब अन्य परिग्रह से प्रयोजन ही क्या रहा, जो उसे चाहिए। गजब बात है भाई! कहते हैं कि ज्ञानी को अन्य परिग्रह से अर्थात् शुभाशुभ क्रियाओं से, पुण्य-पाप के परिणामों से तथा द्रव्य-गुण आदि के भेद के विचारों से अब क्या काम है? जबकि उसे अन्तर में चैतन्यचिन्तामणि भगवान आत्मा प्राप्त हो गया है।

अहाहा.....! कहते हैं कि ज्ञानी अन्य परिग्रह किसलिए करें? वह दया-दान, व्रत-तप, भक्ति आदि के विकल्पों का परिग्रह भी क्यों करें? जबकि उसे अब कुछ करने को शेष रहा ही नहीं। जिसे अनंतगुणों का गोदाम, अनंतशक्तियों का संग्रहालय चिन्तामणि स्वरूप भगवान आत्मा मिल गया हो, उसे अब इन जड़ विकल्पों के संग्रह करने से क्या प्रयोजन? जिसतरह किसी को लोक में सर्वसिद्धिदायक चिन्तामणिरत्न मिल जाता है तो वह फिर धनादि का संग्रह नहीं करता, क्योंकि उसे जब जिस वस्तु की जरूरत होगी, तभी उसे वह वस्तु चिन्तन करने मात्र से उपलब्ध हो जायेगी। उसीप्रकार भगवान आत्मा जब स्वयं दिव्यशक्ति का धारक चैतन्य चिन्तामणि देव है, जब ऐसा भान हो गया, तब फिर उसे रुपये-पैसों और शरीर की सुन्दरता तथा वचन की मधुरता से क्या काम? वह फिर किसी प्रकार के विकल्पों के परिग्रह में नहीं पडता, क्योंकि स्वरूप में एकाग्र होते ही उसे निराकुल आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। जब स्वयं अपना ऐसा स्वरूप है, तब भी अज्ञानी को रुपया-पैसा, शरीर की सुन्दरता एवं लौकिक यश-लिप्सा आदि की रुचि के कारण ऐसे परमदेव स्वरूप अपने भगवान आत्मा की महिमा नहीं आती; क्योंकि वह पर की महिमा में अटक कर अपनी महिमा भूल गया है।

यद्यपि धर्मी को भूमिकानुसार विकल्प भी आते हैं, व्यवहार भी होता है; परन्तु उसे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि व्यवहार से व विकल्पों से मोक्षमार्ग व मोक्ष के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। तथा जिससे मोक्षमार्ग का प्रयोजन पूरा होता है व चिन्मात्र चिन्तामणि भगवान आत्मा उसे प्राप्त हो गया है। इसलिए वह दूसरों को ग्रहण करके, अपनाकर क्या करे? उसे विकल्पों में पड़ने से क्या काम? इसी भावना से ज्ञानी के निर्जरा होना कहा गया है।

यहाँ कहते हैं कि जिसे चैतन्यचिन्तामणि अमृत के नाथ भगवान आत्मा की रुचि हुई है, वह ज्ञानी अन्य विकल्पों में पड़कर क्या करे? भले उसे राग हो, परन्तु उसे उस राग का परिग्रह नहीं है अर्थात् वह उस राग

को ग्रहण नहीं करता, उपादेय नहीं मानता; अतः उसे राग का परिग्रह नहीं है। जब उसके हाथ सर्वसिद्धिदाता चैतन्यचिन्तामणि आ गया, तब फिर अन्य रागादि विकल्पों से और व्यवहार से भी उसे क्या प्रयोजन?

ज्ञानी के तो प्रतिक्षण अशुद्धता की व कर्म की निर्जरा ही होती है। अहाहा.....! जिसे स्वाश्रय में अद्भुत आनंद का वेदन होता है, वह दुःखकारी राग को कैसे पकड़ कर रख सकता है? तथा वह नवीन कर्मबन्ध में निमित्त भी क्यों बने? उसके तो निर्जरा ही निर्जरा है। नवीन कर्मबन्ध का अब ज्ञानी के कोई काम नहीं रहा।

कलश १४४ के भावार्थ पर प्रवचन

यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं अनन्त शक्तियों का धारक देव है तथा स्वयं ही चैतन्यरूपी चिन्तामणि होने से वांछित कार्य की सिद्धि करने वाला है।

आत्मा ज्ञानस्वरूपी भगवान है, उसमें न तो राग है और न संसार है, न शरीर है, न कर्म है। आत्मतत्त्व तो ज्ञानमूर्ति है और वही स्वयं अनन्त शक्तियों का धारक देव है। भाई! यह अरहंतदेव तो तेरे लिए परदेव हैं। वे कोई तेरे निजदेव नहीं हैं। तेरा देव तो अनन्त शक्तियों का धारक ज्ञानमूर्ति तू स्वयं है। तथा सर्वकार्य की सिद्धि कर सके—ऐसा अचिन्त्य-शक्तियुक्त चैतन्य चिन्तामणि तू स्वयं है। तू स्वयं अपने से अपना सम्पूर्ण कार्य करने की शक्ति धारक देव है। अतः अब तुझे पर से या राग के विकल्पों से क्या प्रयोजन? हाँ, जिसने अपने इस परमदेव स्वरूप आत्मा को नहीं पहचाना, वह रागादि विकल्पों में अटकता है और संसार में भटकता है।

आहाहा......! भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणिरत्न है। इस कारण उसके वांछित कार्य की सिद्धि उसके स्वयं के द्वारा ही हो जाती है, अपने निजी कार्य की सिद्धि के लिए किसी पर की या निमित्त की आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है। आचार्य कहते हैं कि प्रभु! तू स्वयं शक्तिरूप से चैतन्य-चिन्तामणि देव है, पर तुझे अपने देवत्व की, अचिन्त्य शक्ति की खबर नहीं है। बस इसी कारण तू इन जड़ संयोगों में भ्रमित हो गया है और मानता है कि मैं करोड़पति हूँ, ये सभी पुत्रादि मेरे हैं, इसी कारण दीन-हीन दुःखी हुआ जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है। इसके विपरीत धर्मी ज्ञानी को अपनी स्वरूप संपदा भासित हो चुकी है, अतः वह ऐसा मानता है कि 'मैं देव हूँ।' किसी कवि ने कहा भी

है–'शिवरमणी रमनार तू, तू ही देवों का देव' अर्थात् तू तो मोक्षरूपी स्त्री का रमण करनेवाला देव है, तू तो देवों का देव-देवाधिदेव है। तुझे अपने कार्य के लिए पर या निमित्त की ओर नहीं ताकना पड़ता। संवर व निर्जरा की पर्याय प्रगट करने में तुझको पर की–निमित्त की पराधीनता नहीं है, स्वयं की ओर दृष्टि करने से ही स्वतः संवर व निर्जरा का परिणाम प्रगट हो जाता है। तू स्वयं ऐसा चैतन्य चिन्तामणि देव है।

पर, विचारा अज्ञानी जीव दिन-रात, रोजगार-धंधा तथा स्त्री-पुत्रादि के संभालने में लगा रहता है। भाई! देखा जावे तो सब मजदूर हैं मजूर! सारा दिन पाप की मजूरी करने में ही बीतता है। यह करूँ, वह करूँ– इसप्रकार कर्तृत्व की आग में जल रहा है, उसे यह भासित कैसे हो कि "मैं मजदूर नहीं, मैं तो देवाधिदेव हूँ" यह अद्भुत बात सुनने-समझने का जब उसके पास समय ही नहीं है तो समझे कैसे? परन्तु भाई! यदि यह नहीं समझ सका तो अवसर तो चला जायगा, फिर यह स्वर्ण अवसर, उत्तमकुल, जैनधर्म और उत्तम देह तथा ऐसी बुद्धि फिर दुबारा हाथ नहीं आयेगी। अतः अपने चिन्तामणि स्वरूप आत्मदेव की पहचान कर ही लेना चाहिए।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के तो सर्व प्रयोजन की सिद्धि है, क्योंकि उसे चैतन्यचिन्तामणि जैसी आत्मा की प्राप्ति हो गई है। वह अपना वांछित (संवर-निर्जरा व मोक्ष) कार्य सिद्ध करने में समर्थ है। तब फिर उसे परिग्रह का सेवन करने से क्या प्रयोजन? ऐसा निश्चयनय का स्वरूप है। व्यवहार का ज्ञान करने के लिए तो ज्ञानी की भूमिका में जो व्रतादि के विकल्प होते हैं, उनकी मुख्यता से कथन करना भी प्रयोजनवान है।

समयसार गाथा २०७

कुतो ज्ञानी परं न परिगृहणातीति चेत्–

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।।२०७।।

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ।।२०७।।

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामी इति खरतरतत्त्वदृष्टयवष्टंभात्, आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं, नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृहणाति।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञानी पर को क्यों ग्रहण नहीं करता? इसका उत्तर कहते हैं:–

'परद्रव्य यह मुझ द्रव्य' यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्म को निज का परिग्रह, जानता जो नियम से।।२०७।।

गाथार्थः– [आत्मानम् तु] अपने आत्मा को ही [नियतं] नियम से [आत्मनः परिग्रहं] अपना परिग्रह [विजानन्] जानता हुआ [कः नाम बुधः] कौन सा ज्ञानी [भणेत्] यह कहेगा कि [इदं परद्रव्यं] यह परद्रव्य [मम द्रव्यम्] मेरा द्रव्य [भवति] है?

टीकाः– जो जिसका स्वभाव है, वह उसका 'स्व' है और वह उसका (स्वभाव का) स्वामी है–इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी (अपने) आत्मा को ही नियम से आत्मा का परिग्रह जानता है। इसलिए "यह मेरा 'स्व' नहीं है, मैं इसका 'स्वामी' नहीं हूँ" ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता (अर्थात् परद्रव्य को अपना परिग्रह नहीं करता)।

भावार्थः—यह लोकरीति है कि समझदार – सयाना पुरुष दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता। इसीप्रकार परमार्थज्ञानी अपने स्वभाव को ही अपना धन जानता है, पर के भाव को अपना नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानी पर का ग्रहण—सेवन नहीं करता।

गाथा २०७ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

कहते हैं कि जो आत्मा का – निज का त्रिकाली ज्ञानानंद स्वभाव है, वही उस स्वयं का स्व है और स्वयं आत्मा उसका स्वामी है। ऐसी सूक्ष्म – पैनी तत्त्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह जानता है। देखो, भगवान आत्मा सूक्ष्म निर्विकल्प वस्तु है। ज्ञानी उसे सूक्ष्म व तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि से पकड़ते हैं। भाई! सूक्ष्म आत्मा स्थूल शुभाशुभ विकल्पों से पकड़ में नहीं आता। अतः ज्ञानी सूक्ष्म व तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के आलम्बन से अपने आत्मा को ही अपना परिग्रह मानते हैं।

धर्मी चक्रवर्ती भी हो, छहखण्ड के राज्य-वैभव में रमता दिखाई दे, परन्तु वह इस बात को नहीं भूलता कि मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ, यही मेरा परिग्रह है। उसे अंतरंग में अपने स्वरूप का निरन्तर भान रहता है। वह ऐसा मानता है कि यह छहखण्ड का राज्य व स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब मेरे नहीं हैं। मेरा तो एक ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा ही है। भगवान आत्मा ही एकमात्र मेरा परिग्रह है।

प्रश्नः—क्या आत्मा को आत्मा का परिग्रह होता है?

समाधानः—हाँ, क्योंकि ज्ञानी ने आत्मा को ग्रहण किया है न? 'परि' अर्थात् चारों ओर से तथा 'ग्रह' अर्थात् ग्रहण करना। इसप्रकार ज्ञानी ने एक अपने निज आत्मा को ही सब ओर से ग्रहण कर रखा है —इस अपेक्षा यह कहा है कि आत्मा के तो एकमात्र अपने आत्मा का ही परिग्रह है।

प्रश्नः—यह तो एक नया परिग्रह ही सुना, हम तो अबतक पैसा आदि को ही परिग्रह मानते थे।

समाधानः—आपकी मान्यता को बलिहारी है। अरे भाई! यह नया तो नहीं है, अनादिकाल से आत्मा को तो वस्तुतः एक आत्मा का ही परिग्रह है। भाई! पैसा, हीरा, मोती, माणिक आदि तो सब धूल-पुद्गल का परिग्रह है, पर है; वह आत्मा का परिग्रह कैसे हो सकता है, क्योंकि

वास्तव में तो आत्मा उसे ग्रहण ही नहीं कर सकता। उसने उसे तो भ्रम से भूलकर अपना मान रखा है।

प्रश्नः—यह बात तो सिद्धान्त की दृष्टि से है, पर लोक में तो इसी परिग्रह की कीमत है, इसी से हमें सुख-सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं?

समाधानः—इस पुद्गल के परिग्रह की आत्मा के आनंद के सामने कोई कीमत नहीं है। आत्मा का सच्चा सुख इस बाह्य परिग्रह से बिल्कुल नहीं मिलता। इसका संयोग-वियोग तो पुण्य-पाप का परिणाम है और इसमें सुखबुद्धि होना तो मिथ्यामान्यता है। बापू। ये संयोग तो अनंतबार मिले, पर जीव इनसे सुखी नहीं हुआ।

यहाँ तो यह कहते हैं कि नियम से अर्थात् निश्चय से सूक्ष्म – तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह जानता है। वह मानता है कि "मैं तो ज्ञानानंदस्वभावी हूँ"—इसप्रकार जिसको अन्तर में आत्मा की पकड़ हो गई है, उसे अपना आत्मा ही परिग्रह है। देखो, भरतचक्रवर्ती के छहखण्ड का राज्य था, ३२ लाख विमानों का स्वामी स्वर्ग का इन्द्र जिसका मित्र था, तथापि उसके अन्तर में यह पक्का निर्णय था कि ज्ञानानन्दस्वभावी मेरा आत्मा ही मात्र मेरा परिग्रह है। यह चक्रवर्ती पद, छहखण्ड का राज्य, ये मित्र, ये रानियाँ तथा इनके प्रति हुआ राग—ये मेरी वस्तु नहीं है, मैं इनका स्वामी नहीं हूँ।

जब ऋषभदेव भगवान अष्टापद पर्वत से मोक्ष पधारे, तब भरत चक्रवर्ती वहाँ उपस्थित थे। अहा! समकिती – ज्ञानी होते हुए भी उनकी आँख में से आँसू आये और वे बोले—अहा! भगवान मोक्ष पधारे। अरे! अब भरतक्षेत्र में ज्ञानसूर्य अस्त हो गया। अब हम किनसे अपनी शंकाओं का समाधान करेंगे। तब वहाँ उस समय देवेन्द्र साथ में थे। उन्होंने भरतजी से कहा—अरे! आपकी आँख में आँसू! भरतजी, तुम्हें तो इसी भव से मोक्ष जाना है, तुम्हारा तो यह अन्तिमभव है, तो फिर ये आँसू क्यों? तब भरतजी ने कहा—हे इन्द्र! सुनो! भगवान के विरह से धर्मप्रेमवश यह थोड़ा सा राग उमड़ पड़ा है, जो मेरी इस भूमिका में अस्वभाविक नहीं है। आप जो कहना चाहते हैं, वह मैं जानता हूँ। यद्यपि उस राग की मुझे पकड़ नहीं है, फिर भी धर्मानुराग से ये आँसू आ गये हैं। जो केवल जानने तक ही प्रयोजनवान हैं, अनुकरणीय नहीं। हम भी उन आँसुओं के ज्ञाता-दृष्टा ही हैं, हमें इस राग के प्रति स्वामित्व नहीं है।

भाई! जो जड़ का स्वामी बनता है, उसे स्वयं जड़ होना पड़ता है। जिसप्रकार भैंस का पति भैंसा होता है, उसीप्रकार जड़ का पति (स्वामी) जड़ (अज्ञानी) है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी परद्रव्य को अपना परिग्रह नहीं मानता। अर्थात् वह पर की ओर के अपने राग को भी ज्ञाता-दृष्टा भाव से केवल जानता ही है, उसे अपना नहीं मानता।

इसप्रकार ज्ञानी के अशुद्धता व कर्म की र्जिरा व शुद्धि की वृद्धि होती है, क्योंकि राग के अभाव में ज्ञानी को नवीन कर्मबन्ध नहीं होता।

गाथा २०७ के भावार्थ पर प्रवचन

लोक में भी ऐसी रीति है कि समझदार चतुर मनुष्य पर की वस्तु को अपनी नहीं कहता, उसे ग्रहण भी नहीं करता; उसीप्रकार पदार्थ के ज्ञाता पुरुष भी अपने स्वभाव को ही अपना धन जानते हैं, मानते है, पर के भाव को अपना नही मानते, उसे ग्रहण भी नहीं करते। इसप्रकार ज्ञानी पर का ग्रहण नहीं करते।

जिन्हें द्रव्यस्वभाव का भान हुआ अर्थात् जिन्हें पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप आत्मा का अन्तरंग में आदर-सत्कार एवं अपनत्व हुआ, वह सम्यग्दृष्टि जीव परमार्थ ज्ञानी है। बाहर का कितना भी ज्ञान क्यों न हो, वह भी परमार्थ ज्ञानी नहीं है। परम पदार्थ जो भगवान आत्मा है, उसका जिसे ज्ञान हुआ, वह ही वस्तुतः परमार्थ ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी जीव अपने स्वभाव को ही अपना धन समझता है। अहाहा! आत्मा शुद्ध, एक ज्ञानानन्दस्वभावी लक्ष्मी से भरा भंडार है। ज्ञानी अपने उस एक स्वभाव को ही अपनी सम्पदा समझता है, मानता है। वह बाहरी धन-लक्ष्मी, शरीर, मन, वाणी आदि पर के भावों को अपना नहीं मानता। अन्दर में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उन्हें भी परभाव ही मानता है। धर्मी किसी भी परभाव को अपना नहीं मानता।

इसप्रकार ज्ञानी पर का ग्रहण नहीं करता। अहाहा! जिसे अपना ज्ञानानन्दस्वभाव दृष्टि में स्वीकृत हो गया है, वह धर्मी जीव चाहे छहखण्ड के संयोग में रहता दिखाई देवे, चाहे व्यवहार रत्नत्रय का पालन करते हुए दिखाई देवे; परन्तु वह इन समस्त परभावों को ग्रहण – सेवन नहीं करता।

भाई! धर्मी – ज्ञानी की दृष्टि अपनी स्वरूपसम्पदा – चैतन्य-सम्पदा पर है। वह दृष्टि इन परभावों का अपना नहीं स्वीकारती, वे अपने

हैं—ऐसा नहीं मानती। तथा ज्ञान उनको अपने से भिन्न पररूप जानता है। ज्ञानी की पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का जो पूर आता है, उसे ही भगवान ने धर्म कहा है, उसे ही सच्ची दया और सच्चा तप कहा है।

अहा! आत्मा का ज्ञान व आनन्द ही असली, अकृत्रिम व स्थिर रहनेवाला स्वभाव है। उसके अन्तर में जहाँ दृष्टि गई, वहीं पर्याय में उस ज्ञान व आनन्द की निर्मलदशा प्रगट हो जाती है। वह निर्मलपर्याय ही अपना स्व है। अहा! द्रव्य-गुण व उसकी निर्मलपर्याय ही आत्मा के स्व हैं तथा उनका स्वामी स्वयं धर्मात्मा है।

देखो, आत्मा में अनंतशक्तियाँ हैं, उनमें एक 'स्व-स्वामी सम्बन्ध' शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है, वह मैं हूँ। आत्मद्रव्य स्व, त्रिकाली पूर्ण शुद्ध गुण मेरे स्वरूप हैं तथा उनकी जो निर्मल शुद्धस्वभाव पर्याय प्रगट होती है, वह भी मेरा 'स्व' है अर्थात् अपने शुद्धद्रव्य-गुण और शुद्ध पर्याय मेरे अपने स्व हैं तथा धर्मी आत्मा उनका स्वामी है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी पर का ग्रहण – सेवन नहीं करता। भाई! परमार्थ से राग का कर्तापन व राग का सेवन आत्मा के है ही नहीं। आत्मा में राग है ही कहाँ, जो वह राग को करे या राग का सेवन करे। विचारे अज्ञानी को अपने स्वरूप की खबर नहीं है। स्वयं सच्चिदानन्द प्रभु है। आत्मा स्वयं शाश्वत ज्ञान व आनन्दरूप लक्ष्मी का भण्डार है। आहाहा.....! ऐसे स्वरूप को स्वीकार करनेवाला धर्मी सुख के मार्ग में है, वह दया-दान आदि के विकल्पों को अपना मानकर सेवन नहीं करता। बस, केवल ज्ञाता-दृष्टा भाव में जानता है कि ये भाव भी हैं और पर-पने हैं। ऐसा जाननेवाले ही यथार्थ सम्यग्दृष्टि व धर्मी हैं।

समयसार गाथा २०८

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि–

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम।।२०८।।

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्, अहमप्यवश्यमेवाजीस्यामुष्य स्वामी स्याम्। अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत। मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी; ततो मा भून्ममाजीवत्वं, ज्ञातैवाहं भविष्यामि, न परद्रव्यं परिगृह्णामि।

"इसलिए मैं भी परद्रव्य को ग्रहण नही करूँगा" इसप्रकार अब (मोक्षाभिलाषी जीव) कहता है:–

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूं अरे।
मैं नियम से ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने।।२०८।।

गाथार्थ:–[यदि] यदि [परिग्रह] परद्रव्य – परिग्रह [मम] मेरा हो [ततः] तो [अहम्] मैं [अजीवतां तु] अजीवत्व को [गच्छेयम्] प्राप्त हो जाऊँ। [यस्मात्] क्योंकि [अहं] मैं तो [ज्ञाता एव] ज्ञाता ही हूँ [तस्मात्] इसलिए [परिग्रहः] (परद्रव्यरूप) परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है।

टीका:–यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो, और मैं भी अवश्य ही उस अजीव का स्वामी होऊँ; और जो अजीव का स्वामी होगा वह वास्तव में अजीव ही होगा। इस प्रकार अवशतः (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़े। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही जो 'स्व' है, उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझको

अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।

भावार्थः—निश्चयनय मे यह सिद्धान्त है कि जीव का भाव जीव ही है, उसके साथ जीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है; और अजीव का भाव अजीव ही है, उसके साथ अजीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है। यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जाय तो जीव, अजीवत्व को प्राप्त हो जाय; इसलिए परमार्थतः जीव के अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानी के ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी तो यह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ।

गाथा २०८ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ जो अजीव शब्द आया, वह मात्र शरीर-मन-वाणी व धनादि ही नहीं है, किन्तु पुण्य-पापरूप जो रागादिभाव हैं, वे भी अजीव हैं। यह बात पहले जीव-अजीव अधिकार में भी आ गई है। अहाहा....! जीव तो ज्ञान, दर्शन व आनन्द की मूर्ति है; परन्तु उसे खबर नहीं है कि स्व क्या है? और पर क्या है? अनादि से अंधा है। यहाँ तो आत्मा का जैसा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वैसा जिसके अनुभव में व प्रतीति में आया है, वह सम्यग्दृष्टि – धर्मी जीव ऐसा मानता है कि यदि अजीव – परद्रव्य को मैं ग्रहण करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो जायेगा। अथवा जो रागरूप अजीव परद्रव्य है यदि उसे मैं ग्रहण करूँ – अपने रूप स्वीकृत करूँ तो वह रागरूप अजीव परद्रव्य भी मेरा स्व हो जाएगा, तब मुझे अवश्य ही उसका स्वामी बनना पड़ेगा। परन्तु ऐसा तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। अतः वस्तु तो नहीं पलटेगी, मेरी मान्यता ही मिथ्या सिद्ध होगी।

अहाहा....! भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा एवं पूर्णानन्दस्वभावी वस्तु है, वह पूर्णानन्दस्वभावी वस्तु मैं स्वयं हूँ, उसके जो अनंतगुण हैं वह भी मैं हूँ तथा उसकी जो समय-समय की निर्मलपर्यायें होती हैं वह भी मैं हूँ। इसप्रकार द्रव्य-गुण व उसकी शुद्धपर्यायें मेरे स्व एवं मैं उनका स्वामी हूँ। इसके विपरीत राग का यदि मैं स्वामी बनूँ अथवा राग को अपना जानूँ-मानूँ, उसे ग्रहण करूँ तो मैं अजीव हो जाऊँगा; क्योंकि राग जीव के स्वभाव से भिन्न अजीव है। भाई! व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प अथवा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प अजीव है। धर्मी कहते हैं कि यदि उसे मैं ग्रहण करूँ तो अवश्य ही वह मेरा 'स्व' हो जायेगा तथा मैं उसका (अजीव का) स्वामी बनूं तो मैं स्वयं अजीव हो जाऊँगा।

प्रश्नः-क्या देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करना मिथ्यात्व है?

समाधानः- नहीं, भाई! किसने कहा कि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा मिथ्यात्व है? हाँ, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा राग है, मिथ्यात्व नहीं; किन्तु यदि कोई ऐसा माने कि वह देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग मेरा है, तो वह मान्यता मिथ्यात्व अवश्य है। उससे आत्मा का लाभ मानना भी मिथ्यात्व है।

भाई! यह बात जो देवाधिदेव अरहंत परमात्मा ने कही थी, वही बात यहाँ इन वीतरागस्वरूप को प्राप्त भावलिंगी संतों ने कही है। वे कहते हैं कि अहो! मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ तथा मैं ही मेरा 'स्व' हूँ और मैं ही मेरा स्वामी हूँ। मेरे चैतन्यस्वभाव से भिन्न यह जो रागादि उत्पन्न होते हैं, व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उत्पन्न होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। यदि वे विकल्प मेरे हों तो मुझे अजीव होना पड़ेगा।

प्रश्नः-क्या व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का कारण नहीं है?

समाधानः-नहीं भाई! ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय को उपचार से कारण कहा जाता है, वस्तुतः दो द्रव्यों में कारण-कार्य सम्बंध नहीं है। फिर जगत जिसे व्यवहार मानता है, वह तो वस्तुतः व्यवहार ही नहीं है, वह तो व्यवहाराभास है। निश्चय बिना व्यवहार (व्यवहाराभास) तो इस जीव ने अनन्तवार किया, द्रव्यलिंगी मुनि ने पंचमहाव्रतादि भी ऐसी कठोरता से पाले कि प्राण जॉय तो भी शिथिलता नहीं आने दी, नवमी ग्रवैयक तक जाय—ऐसी शुक्ललेश्या अनंतवार की, परन्तु उससे क्या? यह सब तो राग ही था। भाई! राग से धर्म नहीं होता। राग से धर्म होगा—ऐसी मान्यता के कारण राग से हटता ही नहीं है। इसीकारण आजतक निश्चय धर्म प्रगट नहीं हुआ।

व्यवहार से निश्चय होता तो नहीं, पर जिसके निश्चयधर्म प्रगट होता है, उसके तत्समय के बाह्याचार रूप व्यवहार को उपचार से कारण कहा जाता है।

प्रश्नः-तो क्या पंचमहाव्रत भी व्यवहार चारित्र नहीं है?

समाधानः-भाई! पंचमहाव्रतादि क्रिया को उपचार से चारित्र कहा जाता है। वह उपचार से भी तब कहलाता है, जबकि अन्तर में निश्चयचारित्र प्रगट हुआ हो।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि राग यदि मेरा हो तो मुझे अवश्य ही अजीव होना पड़ेगा। अहाहा......! ज्ञानी ऐसा मानता है कि "चिद्रूपोऽहं" वस्तुतः मैं ज्ञानघन, चिद्‌घन, चिद्रूपस्वरूप परमात्मद्रव्य हूँ। मैं मेरा स्व और मैं ही मेरा स्वामी हूँ, किन्तु कमजोरी से पर्याय में जो यह राग हुआ है, उसे यदि मैं अपना मानूँ तो मैं उसका स्वामी हो जाऊँ, तव तो फिर मुझे मजवूरी में अजीव वनना होगा। देखो, धर्मी को देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है, किन्तु वह उसे अपना नहीं मानता, उसका स्वामी नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि यदि मैं उनका स्वामी वनूँ तो मुझे अवश्य ही (मजवूरी में) अजीवपना आ जायगा। देखो, जव राग भी अपना नहीं है तो प्रगट परद्रव्य रूप लक्ष्मी, कुटुम्व, देश व समाज को अपना मानना व उनका स्वामी वनने की वात ही कहाँ रही?

अव कहते हैं कि "मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है, उसी का मैं स्वामी हूँ।" अहाहा.......! धर्मी जीव अपने एक ज्ञायकभाव को ही अपना मानता है। भगवान आत्मा चैतन्य ज्योतिस्वरूप सदा ज्ञायकस्वभावी प्रभु अन्दर ज्ञान के नूर के पूर से भरपूर पड़ा है। वस, वही मेरा स्व है तथा मैं उसका स्वामी हूँ। धर्मी ऐसा मानता है।

प्रश्नः-परन्तु यह भी तो वताओ कि इस सव सम्पत्ति को कहाँ फेंक दें और कुटुम्व-परिवार को कहाँ निकाल दें?

समाधानः-अरे भाई! परद्रव्य और संयोगों को कौन रखता है और कौन हटा सकता है? ये सव संयोग तो अपने-अपने स्वरूप से अपनी-अपनी योग्यता से अपने में रहते हैं। तू इन्हें रखने और हटानेवाला कौन होता है? यहाँ तो यह कहते हैं कि तू यह मानना छोड़ दे कि ये सव मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ। तूने इन्हें अपना माना है, पर ये तेरे हैं नहीं। अज्ञानी मानता है कि लक्ष्मी मेरी है और मैं उसे दान में देता हूँ। पर ऐसा जो कोई माने तो उसे अजीव होना पड़ेगा, क्योंकि लक्ष्मी अजीव है और जो अजीव का स्वामी वनेगा तो उसे भी अजीव होना पड़ेगा।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि हमारा तो एक ज्ञायकभाव ही है और हम केवल उसके ही स्वामी हैं।

प्रश्नः-मोक्षमार्ग प्रकाशक में तो ऐसा कहा है कि दान देने के समय जो राग होता है, वह भी जीव का अपना स्व है। हाँ, देने-लेने की क्रिया अपनी नहीं है।

समाधानः-भाई! वहाँ तो पर्याय अपेक्षा से कहा है। राग अपनी जीव की पर्याय में हुआ, इस अपेक्षा से विकारीपर्याय का ज्ञान कराने के प्रयोजन से जीव का कहा है, आश्रय करने के लिए नहीं। स्वभाव दृष्टि में तो राग मेरा है ही नहीं—ऐसा यथार्थ समझना चाहिए। यहाँ तो अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा जा रहा है कि मेरा तो एकमात्र ज्ञायकभाव ही है, वही मेरा स्व है, शेष रागादि सर्वभाव पर हैं, अजीव हैं, मेरे नहीं है। भाई! यहाँ तो ऐसा है कि एक ओर राम (आत्माराम) तथा दूसरी ओर गाम (सारा जगत)। राम अर्थात् स्व और गाम अर्थात् सम्पूर्ण पर। बापू! वस्तुस्थिति तो यह है, वैसे व्यवहार में कोई कुछ भी कहे, उमसे वस्तुस्वरूप नहीं पलट जाता। व्यवहार के कथनों की अपनी-अपनी जुदी-जुदी अपेक्षाएँ होती हैं, अतः जहाँ जो अपेक्षा योग्य हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए। कहा भी है—

"जहँ जहँ जो-जो योग्य है, तहाँ समझना तेह"

यहाँ कहते हैं कि राग में यदि आत्मबुद्धि हो जावे, सुखबुद्धि हो जावे तो राग मेरा स्व हो जायगा और मैं उसका स्वामी हो जाऊँगा। तव फिर मुझे मजवूरी में जीव से अजीव वनना पड़ेगा। परन्तु मेरा तो एक त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव ही है। देखो, यहाँ अस्ति-नास्ति से कह रहे हैं कि एक ज्ञायकभाव ही मेरा है 'स्व' तथा मैं उसका स्वामी हूँ। तथा रागादि अजीव मेरे 'स्व' नहीं है और मैं उनका स्वामी नहीं हूँ।

प्रश्नः-बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि हम तो व्यवहार करते-करते धीरे-धीरे निश्चय को प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि व्यवहार करने से पुण्य होगा तथा पुण्य से स्वर्ग में जायेंगें, फिर वहाँ से विदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान के समोशरण में जायेंगे, वहाँ उनकी दिव्यध्वनि सुनकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे। उनका यह कहना ठीक है न?

समाधानः-क्या खाक ठीक है, अरे भाई! समोशरण में तो तुम अनंतबार गये हो, महाविदेह क्षेत्र में भी तुम अनंतबार जन्मे हो। अहा....! ४५ लाख योजन में एक कण भी ऐसा खाली नहीं है, जहाँ अनन्तबार जन्म-मरण न किया हो। सभी प्रकार का व्यवहार तूने अनंतबार किया, यहाँ तक कि मुनिव्रत भी तूने अनंतबार लिए—फिर भी आत्मज्ञान नहीं होने से, निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। अतः यह कहना निरर्थक है कि व्यवहार करते-करते निश्चयधर्म प्रगट हो -जायगा।

अब यहाँ कहते हैं कि "यदि मैं अजीव का स्वामी बनूँ तो मैं अजीव हो जाऊँगा, इसलिए मुझे अजीवपना न हो—ऐसा नास्ति से कहा। तथा "मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा"—ऐसा अस्ति से कहते हैं। अहा! धर्मी तो ऐसा ही मानता है कि मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ और ज्ञाता-दृष्टा ही रहूँगा।, मैं कभी भी रागरूप या पररूप नहीं होऊँगा।

अहाहा.....! कहते हैं कि "मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा।" व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प होगा, तो भी मैं उसे अपना नहीं मानूंगा तथा मैं उसे अपना कार्य भी नहीं मानूँगा। वह मेरा स्व नहीं है। और मैं उसका स्वामी नहीं हूँ। मैं तो केवल ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ।

गाथा २०८ के भावार्थ पर प्रवचन

निश्चय से अर्थात् यथार्थदृष्टि से यह सिंद्धान्त है कि जीव का भाव जीव ही है। ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता आदि भगवान आत्मा के भाव हैं। वे जीव के भाव जीव ही हैं तथा उसके साथ जीव का स्व-स्वामी सम्बंध है। अहा! अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव, ज्ञानानन्दस्वभाव, स्वच्छस्वभाव आदि आत्मा के अपने स्व हैं और आत्मा उनका स्वामी है। उसीप्रकार अजीव का भाव अजीव ही है, रागादिभाव अजीव के हैं; इसकारण वे अजीव ही हैं तथा उसके साथ अजीव का स्व-स्वामी सम्बंध है। राग का स्व-स्वामी सम्बन्ध अजीव के साथ है। निश्चय से राग का स्वामी जीव नहीं है; अतः ज्ञानी राग का स्वामी नहीं है।

अब कहते हैं कि "ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव ही मेरी (ज्ञानी की) वस्तु है, रागादि नहीं। राग तो मेरे ज्ञान का ज्ञेय है। "जिसको ऐसी अन्तरदृष्टि, अनुभवदृष्टि हुई, उस ज्ञानी के कर्मों की व अशुद्धता की निर्जरा होती है। तथा राग मेरा है—ऐसी जिसकी मान्यता हो, उसको मिथ्यादर्शन का नवीन बन्ध पड़ता है।

इसी बात का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जायगा तो जीव को अजीवपने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए परमार्थ से जीव को अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ये रागादि जड़पदार्थ भगवान आत्मा के हैं—ऐसाा जो माना जायगा तो जीव को स्वयं अजीवपने का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् उसकी मान्यतानुसार जीव, अजीव हो जायगा।

बापू! यह तो मार्ग ही कोई जुदा है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा है कि "स्वद्रव्य की सुरक्षा पर लक्ष्य रखो।" भाई! तेरा जो शुद्ध एक

ज्ञायकभाव है, उसकी रक्षा करने की ओर लक्ष्य दे, क्योंकि पर की रक्षा करने जायगा तो तुझे राग ही होगा और वह राग मेरा है अथवा बचाने का, रक्षा का राग करना मेरा कर्तव्य है–ऐसा जो मानेगा तो तू मिथ्यादृष्टि हो जायगा।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी के ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती। जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दृष्टि प्राप्त है, वह ज्ञानी – धर्मी है। अहा! जिसको निज ज्ञानानन्दस्वभाव की अन्तर में प्रतीति हो गई है, उसको उस ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ अनंतगुणों का आंशिक शुद्ध परिणमन भी हो गया है।

अहा! ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ। देखो, समकिती नरक का नारकी हो या तिर्यंच हो–वह तो ऐसा मानता है कि रागादि परद्रव्य मेरा नहीं है, मैं तो ज्ञायकमात्र हूँ। स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य समकिती हैं। वे सब ऐसा मानते हैं कि राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञाता ही हूँ। सम्यक्त्व होने के पश्चात् वे मांसाहार नहीं करते। वहाँ समुद्र में एक हजार योजन का लम्बा कमल होता है जो उनके भोजन की पूर्ति करता है। अर्थात् वे उस कमल के पत्ते खाकर अपनी भूख मिटा लेते हैं।

देखो न भगवान महावीर स्वामी का जीव अपने दसवें पूर्वभव में सिंह था, जो कि हिरण का भक्षण कर रहा था। जब आकाश मार्ग में गमन करते हुए दो मुनिराजों की दृष्टि सिंह पर पड़ी तो वे उसे देख करुणा से प्रेरित हो उस मृगराज को सम्बोधित करने लगे। सम्बोधित करते ही सिंह को ज्यों ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई, त्यों ही आँख से पश्चाताप की अस्रुधारा प्रवाहित होने लगी और तुरन्त मांसाहार छूट गया। सिंह का कोमल परिणाम, मन्दकषाय देखकर मुनिराजों ने कहा– अरे सिंह! तू यह क्या करता है? भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने कहा है कि तू तो आगामी दशवें भव में तीन लोग का नाथ तीर्थंकर होनेवाला है। यह सुनकर सिंह का परिणाम विशेष कोमल हो गया और अन्तर में स्मरण हुआ–अहा! मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वभावी परम ब्रह्स्वरूप एक चैतन्यमय परमात्मद्रव्य हूँ। अरे! यह क्या? बस ऐसा ध्यान करते ही उसे आत्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई। विकल्प से – राग से हटकर तत्क्षण भगवान ज्ञायक में अन्दर समा गया और तत्काल आत्मानुभवरूप धर्म की प्राप्ति हो गई।

जब सिंह को पशुपर्याय में ऐसा भेदज्ञान हो गया कि जीव का भाव जीव है और अजीव का भाव अजीव है। अहा.....! मैं तो शुद्ध- शुद्ध-ज्ञायकस्वभावी परम ब्रह्मस्वरूप एक चैतन्यमय परमात्मद्रव्य हूँ। यद्यपि अभी उसके पेट में हिरण का मांस पड़ा था, तथापि मुनिराज की दिव्यदेशना प्राप्त कर अन्तर्निमग्न हो सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। तब हम तो मनुष्य हैं और संस्कार सम्पन्न हैं, फिर यदि हम पुरुषार्थ करें तो हमें आत्मज्ञान क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं फिटकड़ी लौद हरड़ेकी पुट बिना,
स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीरमैं॥
तैसैं समकितवंत राग द्वेष मोह बिनु,
रहै निशि वासर परिग्रहकी भीरमैं।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करै,
जाचै न जगत-सुख राचै न सरीरमैं॥ ३४॥

जैसैं काहू देसकौ बसैया बलवंत नर,
जंगलमैं जाइ मधु-छत्ताकौं गहतु है।
वाकौं लपटांहि चहुंओर मधु-मच्छिका पै-
कंवलकी ओटसौं अडंकित रहतु है॥
तैसैं समकिती सिवसत्ताकौ स्वरूप साधै,
उदैकी उपाधिकौं समाधिसी कहतु है।
पहिरै सहजकौ सनाह मनमैं उछाह,
ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है॥ ३५॥

निजरा द्वार

समयसार गाथा २०९

अयं च मे निश्चयः–

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम्।
यस्मात्तस्मात् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम।।२०९।।

छिद्यतां वा, भिद्यतां वा, नीयतां वा, विप्रलयं यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्यं परिग्रह्णामि; यतो न परद्रव्यं मम स्वं, नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम स्वं, अहमेव मम स्वामी इति जानामि।

'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' यह अब कहते हैं:–

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे।।२०९।।

गाथार्थः–[**छिद्यतां वा**] छिद जाये, [**भिद्यतां वा**] अथवा भिद जाये; [**नियतां वा**] अथवा कोई ले जाये, [**अथवा विप्रलयम् यातु**] अथवा नष्ट हो जाये, [**यस्मात् तस्मात् गच्छतु**] अथवा चाहे जिस प्रकार से चला जाये, [**तथापि**] फिर भी [**खलु**] वास्तव में [**परिग्रहः**] परिग्रह [**मम न**] मेरा नहीं है।

टीकाः–परद्रव्य छिदे अथवा भिदे अथवा कोई उसे ले जाये अथवा वह नष्ट हो जाये या चाहे जिसप्रकार से जाये, तथापि मैं परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है,–मैं परद्रव्य का स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है,–परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है, मैं ही अपना स्व हूँ,–मैं ही अपना स्वामी हूँ'–ऐसा मैं जानता हूँ।

भावार्थः–ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने का हर्ष-विषाद नहीं होता।

गाथा २०९ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, ज्ञानी के परद्रव्य के सुधरने-बिगड़ने का हर्ष-विषाद नहीं होता, क्योंकि उसे तो ऐसा निश्चय हो चुका है कि मैं तो अतीन्द्रियज्ञान व आनन्द से परिपूर्ण शाश्वतशुद्ध व टंकोत्कीर्ण, ज्ञायकस्वभावी प्रभु आत्मा हूँ।" जिसकी ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई वह धर्मी है, ज्ञानी है। ज्ञानी की निज आत्मद्रव्य में ही अहंबुद्धि होने से परद्रव्य के प्रति अहंबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि छूट जाती है, अतः वह समझता है कि परद्रव्य भले नष्ट-भ्रष्ट हो तो उससे हमें क्या? अहाहा......! मुझसे भिन्न ये परद्रव्यरूप शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, कर्म इत्यादि नष्ट भी हो जावे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि वह मेरे नहीं है, मेरे से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अहा.....! इस शरीरादि के टुकड़े-टुकड़े भी हो जावें, तो भी मुझे कुछ भी दुःख नहीं है, क्योंकि वह मेरी वस्तु नहीं है। वह तो जड़-माटी है, उसमें आत्मा नहीं है।

प्रश्नः—शरीर जड़ है, अचेतन है, यह तो सत्य है; परन्तु जबतक इसमें जीव है, तबतक तो यह चेतन है न? जीव के निकल जाने पर ही तो यह जड़ होगा न?

समाधानः—अरे भाई! यह शरीर तो अभी जीव के रहते हुए भी जड़ है, माटी है। जब जीव चला जायगा, तब तो जड़ है ही; परन्तु अभी भी जड़ ही है। तथा इस समय आत्मा में जो दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि शुभोपयोग रूप परिणाम होता है, वह भी जड़ है; क्योंकि वह अनात्मा है, आत्मा नहीं।

ऐसी श्रद्धा से अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मद्रव्य के प्रति एकत्व-ममत्व होता है तथा स्त्री-पुत्रादि व शरीर और रागादि के प्रति जो अनादि से एकत्व-ममत्व था, वह कम होता है, धीरे-धीरे उस पर से ममत्व टूट जाता है। एकत्व-ममत्व टूटने पर उनके वियोग से या नष्ट-भ्रष्ट होने से अथवा उनमें विगाड़-सुधार होने से हर्ष-विषाद नहीं होता।

देखो, नवतत्त्व है न? उनमें अजीवतत्त्व जीव से सर्वथा भिन्न है, तो फिर वह अपना कैसे हो सकता है? इसीप्रकार पुण्य-पाप, आस्रव-बंध भी जीव के कैसे हो सकते हैं? यदि ये अपने हों तो जीव-अजीव व आस्रव आदि भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते हैं? अहा! यह बात आज लोगों को

कठिन लगती है, क्योंकि जिन्हें कभी यह बात सुनने को ही नहीं मिली हो और बाह्य व्रतादि करने में ही जो धर्म की इतिश्री समझते रहे हों, उन्हें यह तत्त्व की सूक्ष्म बात कैसे समझ में आ सकती है? परन्तु भाई! वास्तविक धर्म व कर्मकाण्ड में बहुत बड़ा अन्तर है। भगवान आत्मा तो अन्दर में सच्चिदानन्द स्वरूप है। धर्मी जीवों ने ऐसे भगवान आत्मा को अपनी दृष्टि का विषय बना लिया है। वे धर्मी जीव कहते हैं कि परद्रव्य भले नष्ट हो तो हो, हमें उससे कुछ भी खेद नहीं है।

प्रश्नः—ये तो साधु-संतों की बातें है। हम गृहस्थ थोड़े ही ऐसा कर सकते हैं?

समाधानः—अरे भाई! यह तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि का अभिप्राय है, मुनि की बात ही कुछ और है। भाई! राग के एक परमाणु को भी जो अपना माने, वह तो मूढ मिथ्यादृष्टि है। उसे जैनधर्म की खबर ही नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा कहा है कि परद्रव्य-शरीर, धन, लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि को कोई नष्ट-भ्रष्ट करके बरबाद कर दें, तो भी ज्ञानी जीव उन्हें अपना नहीं मानते। वे तो एक ज्ञायक को ही अपना स्व-द्रव्य मानते हैं। अहाहा......! धर्म की प्राप्ति और कर्मों की निर्जरा तभी होती है, जबकि ज्ञानी की दृष्टि एक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में पड़ती है, स्थिर होती है। ऐसी चैतन्यस्वभाव की अनुभूति में राग व शरीर नहीं आता, क्योंकि वे सब अनुभूति से भिन्न हैं, भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। देखो, ५० से ५५ तक की ६ गाथाओं में अनुभूति से भिन्नता की बात आई है। इसका अर्थ है कि मैं तो ज्ञानानंद, सहजानंद स्वरूप से हूँ तथा उसकी जो अनुभूति है, उसमें राग एवं शरीर का भाव नहीं आता। बापू! यह तो जन्म-मरण के अभाव करने की कोई अलौकिक बात है। यह तो वीतराग की वाणी है। इस वाणी की गोद में बैठा-बैठा यह कहता है कि मैं आत्मा एक ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ तथा मेरे ज्ञान की अनुभूति में यह रागादि व शरीरादि का भाव नहीं आता। उनकी अनुभूति तो सर्वथा भिन्न ही रह जाती है।

यहाँ कोई कहता है कि ऐसा असाधरण मार्ग विचारे साधारण मानव कैसे प्राप्त कर सकते हैं? उससे कहते हैं कि अरे भाई! जैसा मार्ग असाधारण है, वैसा ही प्रभु! तू भी साधारण नहीं है। तू भी तो तीन लोक का नाथ प्रभु परमात्मा है।

भाई! यह शरीर व राग तेरी चीज़ नहीं है, इसलिए तू यहाँ से हट जा और स्वरूप का लक्ष्य कर। तुझे तेरे परमात्मस्वरूप के दर्शन अवश्य होंगे।

अहा! अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी सब आबरू-इज्जत चली गई, मेरा अपमान हो गया; परन्तु भाई! आबरू या इज्जत तेरी है ही कहाँ? जो तेरी है ही नहीं, उसके चले जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? प्रभु! तू कौन है? तुझे इसकी खबर ही नहीं है। तेरा अपमान कर ही कौन सकता है? जिसके मान होता है, अपमान तो उसी का होता है न? जब तेरे स्वभाव में मान है ही नहीं, तो फिर अपमान होने का प्रश्न ही कहाँ से आया; तथा जिसको आत्मा का ज्ञान है, वह तो किसी का अपमान करता नहीं है और जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं है, जिसने आत्मा को देखा ही नहीं है, वह आत्मा का अपमान कर नहीं सकता, क्योंकि आत्मा को देखे बिना उसका अपमान कैसे कर सकेगा?

अहो! कहते हैं कि परद्रव्य छेदाय अर्थात् लक्ष्मी, शरीर आदि के टुकड़े-टुकडे हो जायें अथवा भेदाय अर्थात् उनका चूरा-चूरा हो जावे तो भी मेरी कोई हानि नहीं होती।

अब कहते हैं कि मैं ही मेरा स्व हूँ, मैं ही मेरा स्वामी हूँ—ऐसा मैं जानता हूँ। पहले यह कहा था कि परद्रव्य मेरा नहीं है। अब कहते हैं कि मैं ही मेरा स्व हूँ। देखो, यह अस्ति-नास्ति से बात कहकर अनेकान्त सिद्ध किया है। ''मैं मैं हूँ व पर भी मैं हूँ— यह तो मिथ्यादृष्टि का एकान्त है। इस व्यवहार रत्नत्रय का स्वामी व्यवहार रत्नत्रय है, इसका स्वामी मैं नहीं और वह मेरा स्व नहीं—ऐसा कहा है।

जो यह कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है, वे व्यवहार व निश्चय में स्व-स्वामी सम्बन्ध मानते हैं, जो सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि यहाँ तो यह अत्यन्त स्पष्ट कहा है कि व्यवहार व्यवहार का स्व है, आत्मा का नहीं। जो आत्मा का (निश्चय का) स्व नहीं, उससे आत्मा (निश्चय) कैसे प्राप्त हो सकता है?

यहाँ कहते हैं कि मैं ही मेरा स्वामी हूँ—मैं ऐसा जानता हूँ तथा पर पर का है—ऐसा भी जानता हूँ। बस,-मैं तो केवल जानता ही हूँ ऐसी जानपने की क्रिया मे ही जब जीव रहता है तब उसे कर्म की निर्जरा होती है।

गाथा २०९ के भावार्थ पर प्रवचन

''ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने का हर्ष-विषाद नहीं होता।'' यहाँ 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ क्षयोपशमज्ञान नहीं है, बल्कि जिसे

आत्मज्ञान हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मी ज्ञानी है। ऐसे ज्ञानीं को परवस्तु के वनने-बिगड़ने का हर्ष-खेद नहीं होता। यद्यपि उसे वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से राग होता है, पर वह अस्थिरताजनित दोष है, उस दोष वश हर्ष-विषाद भी होते दिखाई देते हैं; किन्तु उन्हें वहाँ गिना नहीं है, क्योंकि उसकी अटूट श्रद्धा तो ऐसी ही है कि परवस्तु – शरीर, मन, वाणी, धन-सम्पत्ति आदि पर हैं, उनके बिगाड़-सुधार से मुझे कोई हानि-लाभ नहीं होता। ज्ञानी की पर्याय में भी अपनी कमजोरी से राग-द्वेष होते हैं, वह दोष है। पर वह अल्पकाल में ही नष्ट हो जानेवाला है। वह भी मेरा स्वभाव नहीं है।

प्रश्न:—फिर सम्यग्दृष्टि को आर्त-रौद्र ध्यान क्यों होते हैं?

समाधान:—भाई! वे आर्त व रौद्र ध्यान अपनी अस्थिरता सम्बंधी कमजोरी के कारण होते है, परवस्तु के बिगड़ने-सुधरने के कारण नहीं। जिसप्रकार किसी हरिजन की झोंपड़ी जलने पर उस नगर के सेठ-साहूकारों को कष्ट नहीं होता; क्योंकि उनका उस झोंपडी मे एकत्व-ममत्व नहीं है। उसके मुँह के सामने सहानुभूति के दो शब्द कहना तो मात्र औपचारिकता है, वह उसके अंतरंग दुःख का प्रतीक नही है। उसी तरह ज्ञानी का यह शरीर परायी झोंपड़ी है, लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि सब पराई झोंपड़ी के समान ही है, अतः वे सब मात्र ज्ञान के ज्ञेय है। उनसे ज्ञानी का कोई सम्बंध नहीं है। इसकारण परवस्तु के बनने-बिगडने से ज्ञानी को कोई हर्ष-विषाद नही होता। हाँ, कमजोरी के कारण थोड़ा बहुत जो हर्ष-शोक होता है, वह चारित्र का दोष है; परन्तु पर के बिगाड़-सुधार मे मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष व आकुलता नहीं होती।

कलश १४५

(वसन्ततिलका)

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः।।१४५।।

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचनारूप काव्य कहते हैं:–

* **श्लोकार्थः**– [**इत्थं**] इसप्रकार [**समस्तम् एव परिग्रहम्**] समस्त परिग्रह को [**सामान्यतः**] सामान्यतः [**अपास्य**] छोड़कर [**अधुना**] अब [**स्वपरयोः अविवेकहेतुम् अज्ञानम् उज्झितुमना अयं**] स्व-पर के अविवेक के कारणरूप अज्ञान को छोड़ने का जिनका मन है, –ऐसा यह [**भूयः**] पुनः [**तम् एव**] उसी को (परिग्रह को ही) [**विशेषात्**] विशेषतः [**परिहर्तुम्**] छोड़ने को [**प्रवृत्तः**] प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थः– स्व-पर को एकरूप जानने का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान को सम्पूर्णतया छोड़ने के इच्छुक जीव ने पहले तो परिग्रह का सामान्यतः त्याग किया और अब (आगामी गाथाओं में) उस परिग्रह को विशेषतः (भिन्न भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है।।१४५।।

---

* इस कलश का अर्थ इसप्रकार भी होता है:– [इत्थं] इसप्रकार [स्वपरयोः अविवेकहेतुम् समस्तम् एव परिग्रहम्] स्व-पर के अविवेक के कारणरूप समस्त परिग्रह को [सामान्यतः] सामान्यतः [अपास्य] छोड़कर [अधुना] अब, [अज्ञानम् उज्झितुमनाः अयं] अज्ञान को छोड़ने का जिसका मन है ऐसा यह, [भूयः] फिर भी [तम् एव] उसे ही [विशेषात्] विशेषतः [परिहर्तुम्] छोड़ने के लिए [प्रवृत्तः] प्रवृत्त हुआ है।

कलश १४५ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यह कलश उपर्युक्त गाथा का सारांश एवं आगामी गाथा का सूचक कलश है। अतः इसमें निष्कर्ष देते हुए आचार्य कहते है कि सामान्यतः समस्त परिग्रह को छोड़कर अर्थात् राग से लेकर जगत की अन्य सब वस्तुये मेरी नहीं है, मेरे में नहीं है, इनका मुझे स्वामित्व नहीं है.—इसप्रकार अपने आत्मा के सिवाय समस्त अन्य वस्तुओं के परिग्रह को सामान्यतया छोड़कर अब स्व-पर के अविवेक के कारणरूप अज्ञान को छोड़ने का जिसका मन हैं, वह पुनः उसी परिग्रह को विशेष रूप से छोड़ने को प्रवृत्त हुआ है। अर्थात् स्व-पर की एकत्वबुद्धि छोडने का जिसका भाव है, वह पुनःउस परिग्रह को ही विशेष रूप से छोड़ने को उद्यमवन्त हुआ है। एतदर्थ एक-एक वस्तु का नाम लेकर आगे की गाथाएँ कहेंगे।

इसी कलश का दूसरा अर्थ इसप्रकार है—

इसप्रकार स्व-पर के अविवेक के कारणरूप समस्त परिग्रह को सामान्यतया छोड़कर अब अज्ञान को छोड़ने का जिसका मन है, ऐसा व्यक्ति पुनः उसी परिग्रह को विशेष रूप से छोड़ने का उद्यम करता है। अहाहा.....! मूल से ही यह अर्थ ग्रहण किया है। मिथ्यात्व व अज्ञान को छोड़ने की जिसकी भावना है, वह पुनः भी उसी परिग्रह को ही विशेष रूप से छोड़ने का प्रयत्न करता है।

"स्व-पर को एकरूप जानने का कारण अज्ञान है। ज्ञान व आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा स्व है तथा शरीरादि और रागादि पर हैं। उन दोनों को एक मानना मिथ्यात्व है, अज्ञान है। अहाहा.....! किसी को शास्त्र का ज्ञान भले विशेष हो, परन्तु यदि उसे स्व व पर में एकत्वबुद्धि है तो वह अज्ञानी ही है।

उस अज्ञान को सम्पूर्ण रूप से छोड़ने की भावनावाले व्यक्ति ने प्रथम तो परिग्रह को सामान्यतः त्याग किया। अब उस परिग्रह को जुदे-जुदे नाम लेकर छोड़ता है।

समयसार गाथा २१०

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१०।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम्।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१०।।

इच्छा परिग्रहः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायक-भावस्य भावाद्धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

अव कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का (पुंण्य का) परिग्रह नहीं है:—

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पुण्य का वो, पुण्य का ज्ञायक रहे।।२१०।।

गाथार्थः—[**अनिच्छः**] अनिच्छक को [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**धर्मम्**] धर्म को (पुण्य को)[**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**धर्मस्य**] धर्म का [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु)[**ज्ञायकः**] (धर्म का) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीकाः—इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है,जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमयभाव—इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) धर्म का केवल ज्ञायक ही है।

गाथा २१० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इच्छा परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है, किसी भी परपदार्थ की इच्छा का होना परिग्रह है, परवस्तु या परपदार्थ परिग्रह नहीं है, किन्तु इच्छा परिग्रह है। धर्मी को परवस्तु में मेरेपन की इच्छा नहीं होती।

अव कहते हैं कि "इच्छा अज्ञानमयभाव है तथा ज्ञानी के अज्ञानमयभाव होता नहीं है। "देखो, यहाँ मिथ्यात्वसहित इच्छा को इच्छा कहा है। ज्ञानी को जो अस्थिरताजनित इच्छा होती है, उसे यहाँ इच्छा नहीं गिना अर्थात् अस्थिरताजनित इच्छा यहाँ गौण है, क्योंकि उसे तो ज्ञानी परज्ञेय रूप से मात्र जानता है। यहाँ कहते हैं कि इच्छा अर्थात् मिथ्यात्वसहित राग अज्ञानमयभाव है तथा अज्ञानमयभाव अर्थात् मिथ्यात्वसहित राग ज्ञानी के नहीं होता। अहा! जिसे अन्तर में भगवान आत्मा की एकाग्रता की भावना प्रगट हुई है, वह ज्ञानी अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव को छोड़कर परवस्तु मेरी है—ऐसी इच्छा कैसे कर सकता है? अहा! जिसे निराकुल आनन्द का स्वाद आया है, वह निज आनन्दकन्द प्रभु आत्मा को छोड़कर किसकी इच्छा करे? ज्ञानी तो पर की वांछा रहित निःकांक्ष है।

अव कहते हैं कि ज्ञानी के ज्ञानमयभाव ही होते हैं अर्थात् ज्ञानी के ज्ञानमय, आनन्दमय ,शान्तिमय, वीतरागतामय ही भाव होते हैं।

प्रश्नः— तो क्या ज्ञानी के राग होता ही नहीं है?

समाधानः—अरे भाई! ज्ञानी के अस्थिरता का राग तो होता है, पर राग का राग नहीं होता, अर्थात् उसे राग का स्वामित्व नहीं होता। जो राग होता है, वह उसे मात्र जानता है। वह अपने आत्मा को जानता है तथा पर्याय में जो राग है, उसे भी जानता ही है। "व्यवहार मात्र जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदरने योग्य नहीं। "यह जो १२ वीं गाथा में आया है, वस वही वात यहाँ राग के सम्बंध में समझना चाहिए।

अव कहते हैं कि ज्ञानी अज्ञानमयभाव जन्य इच्छा के अभाव के कारण धर्म को नहीं इच्छता। यहाँ धर्म शव्द का अर्थ पुण्य है। शुद्ध रत्नत्रयरूप धर्म की वात यहाँ नहीं है। यहाँ तो धर्म अर्थात् पुण्यभाव। अहाहा.....! ज्ञानी के धर्म अर्थात् पुण्य अथवा व्यवहारधर्म की इच्छा नहीं होती। शुभराग रूप दया, दान, व्रतादि व्यवहार धर्म को भी ज्ञानी नहीं

चाहता, तब पापादि कार्यों की चाह की तो बात ही कहाँ रही? उसे तो एकमात्र वीतराग धर्म की ही भावना है।

देखो, जिसे शुभराग की इच्छा है वह धर्मी नहीं है, अज्ञानी है, क्योंकि धर्मी पुरुष तो धर्म अर्थात् शुभराग की चाह करता ही नहीं है। पुण्यभाव की या व्यवहार की इच्छा ज्ञानी के होती ही नहीं है।

जिसे शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा का अन्तर में भान हो गया है—ऐसा धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य को अर्थात् शुभभाव को नहीं चाहता, क्योंकि वह राग है।

भाई! धर्मी जीव पुण्य की इच्छा नहीं करते। अहा! धर्मी को दया, दान, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव होते हैं। जबतक अन्दर स्वरूप में पूर्ण रूप से नहीं ठहर सकता, तबतक शुभभाव आता है; परन्तु वह उन्हें चाहता नहीं है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का अर्थात् पुण्य का परिग्रह नहीं होता। उसके पुण्यभाव होता है, पर पुण्य की पकड़ नहीं होती, पुण्य में एकत्वबुद्धि नहीं होती। पुण्य में आत्मबुद्धि नहीं होने से उसके पुण्य का परिग्रह नहीं होता।

अन्त में विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं कि ऐसे एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण ज्ञानी धर्म (पुण्य) का केवल ज्ञायक ही है। यद्यपि मुनिराज को भी पुण्यभाव होता है, जबतक वे संपूर्णतया अपने आनन्द स्वरूप में नहीं ठहर पाते, तबतक उन्हें भी पंचमहाव्रतादि पालन करने के शुभविकल्प होते हैं; परन्तु उनकी उन्हें इच्छा नहीं है, वे तो केवल ज्ञायक ही हैं।

समयसार गाथा २११

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२११।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।२११।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि।

अब कहते है कि ज्ञानी के अधर्म का (पाप का) परिग्रह नहीं है:—

अनिच्छक कहा अपरिग्रही; नहिं पाप इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पाप का वो, पाप का ज्ञायक रहे।।२११।।

गाथार्थ:—[अनिच्छः] अनिच्छक को [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अधर्मम्] अधर्म को (पाप को) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [अधर्मस्य] अधर्म का [सः] वह [अपरिग्रहः] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (अर्धम का) ज्ञायक हीं [भवति] है।

टीका:– इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है– जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये अज्ञानमयभाव–इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।

इसीप्रकार गाथा में 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन– यह सोलह शब्द रखकर, सोलह गाथासूत्र व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिए।

गाथा २११ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

किसी भी पदार्थ की इच्छा ही परिग्रह है। यहाँ पुण्य, पाप, आहार व पानी – इन चार की चर्चा करेंगे, क्योंकि यहाँ मुनि की मुख्यता से कथन है न! और मुनि के तो ये चार ही मुख्य परिग्रह होते हैं। अन्य कोई परिग्रह तो मुनिराज के होता ही नहीं है। ज्ञानी के पुण्य का भाव आता है, पर उसे इसकी इच्छा नहीं है, एकत्वबुद्धि नहीं है। देखो, ज्ञानी के जिस क्षण धर्म की उत्पत्ति है उसी क्षण पुण्य की उत्पत्ति भी है, तथापि धर्मी को जिसप्रकार धर्म की भावना है, उसप्रकार पुण्य की भावना या रुचि नहीं है। पुण्यभाव की इच्छा ज्ञानी के होती ही नहीं है।

भाई! जो पुण्य को कमाने में लगे हैं, वे सब संसार के – दुःख के मार्ग में पड़े हैं, वे चारगति में भ्रमण करेंगे। तथा जिन्होंने आत्मा का स्व-संवेदन ज्ञान प्रगट कर लिया है, वे धर्म के – सुख के पंथ में हैं। अहाहा......! जिसने निर्मल स्वानुभूति में चिदानन्दघन स्वरूप भगवान आत्मा को पकड़ लिया है, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। उस आनन्द के काल में उसे शुभभाव भी होता है, तथापि उस शुभभाव का उस समय वह मात्र ज्ञाता ही रहता है। वस्तुतः तो वह अपना ही ज्ञायक है, परन्तु ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक भाव है, इसमें वह शुभभाव को भी प्रकाशित करता है। जो शुभभाव होता है, ज्ञानी उसका मात्र ज्ञायक रहता है तथा उसे जानने की पर्याय भी स्वयं से स्वतंत्र हुई है, शुभभाव है, इसकारण उस शुभभाव का ज्ञान नहीं हुआ, बल्कि उस समय ज्ञान की पर्याय ऐसी ही स्व-पर प्रकाशक रूप से स्वयं उत्पन्न होती है। इसलिए

उस राग को ज्ञानी ग्रहण नहीं करता, किन्तु राग सम्बन्धी जो अपना ज्ञान है, उस ज्ञान को जानता है।

२१० वीं गाथा की अमृतचंद्र की टीका में जो 'धर्म' शब्द आया था, उसका अर्थ पुण्य किया है। देखो, दूसरे टीकाकार श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं कि जो शुभोपयोगरूप धर्म – पुण्य है, स्वसंवेदन ज्ञानी – धर्मी को उसकी भावना नहीं होती। अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानी शुद्धोपयोग रूप निश्चयधर्म को छोड़कर शुभोपयोगरूप धर्म अर्थात् पुण्य को नहीं चाहते। ज्ञानी के तो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की भावना होती है, शुद्धोपयोगरूप धर्म की भावना होती है।

अब २११ वीं गाथा पाप की है। अहा! ज्ञानी को जहाँ पुण्य की भी भावना नहीं है तो पाप की तो कैसे होगी? ज्ञानी के पापभाव भी आता तो अवश्य है, उसके पापभाव – विषयवासना संबंधी राग – आसक्ति होती है; परन्तु वह सब है पर, वह अपना निज का स्वरूप नहीं है – ज्ञानी ऐसा मानते हैं।

यहाँ कहते हैं कि 'इच्छा परिग्रह है।' जिसे इच्छा नहीं है, उसे परिग्रह नहीं है। परपदार्थ की इच्छा होना परिग्रह है। धर्मी को 'परवस्तु मेरी है' – ऐसी इच्छा ही नहीं है। जिसप्रकार उसे शुभभाव की इच्छा नहीं है, उसीप्रकार उसे अशुभभाव की – पाप की भी इच्छा नहीं है। पापभाव होता अवश्य है, परन्तु पापभाव की इच्छा नहीं होती। और इसी से उसे निर्जरा होती है। उसे जो अशुभभाव आता है, उसका अपने ज्ञान में वेदन होता है तथा वह ज्ञान अपना – स्वयं का है, किन्तु अशुभभाव अपना नहीं है – ऐसी दृष्टि व ज्ञान प्रगट हुआ होने से धर्मी को कर्म की निर्जरा व अशुद्धता का नाश होता है।

अब कहते हैं कि 'इच्छा तो अज्ञानमयभाव है तथा अज्ञानमयभाव ज्ञानी के होता नहीं है।'

देखो, राग अज्ञानमयभाव है, क्योंकि उसमें ज्ञान का अंश नहीं है, भगवान आत्मा के चैतन्य की किरण राग में नहीं है। अहाहा.....! 'मैं तो सदा ही ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ' – ऐसे अपने त्रिकाली स्वभाव का जिसको भान हुआ है, उस सम्यग्दृष्टि धर्मी को जैसा पुण्यभाव होता है, वैसा ही पापभाव भी होता है; परन्तु उसे उस पुण्य-पाप के परिणाम में एकत्वबुद्धि नहीं है। जिसप्रकार उसे पुण्य की इच्छा नहीं है, उसीप्रकार पाप की भी इच्छा नहीं है, तथापि उसे जो पुण्य-पाप का भाव होता है, वह अज्ञानमय है।

प्रश्नः— क्या ज्ञानी के मिथ्यात्वसहित अज्ञानमयभाव होते हैं?

समाधानः— ज्ञानी के मिथ्यात्वसहित अज्ञानमयभाव तो नहीं होते, परन्तु अज्ञानमय का अर्थ सर्वत्र मिथ्यात्वसहित नहीं होता। ज्ञानी के जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, उनमें चैतन्य की किरण न होने की अपेक्षा उन्हें भी अज्ञानमयभाव कहा जाता है। ज्ञानी के पुण्य-पाप के परिणामों में ज्ञानस्वभाव का अंश नहीं है, इस अपेक्षा उन्हें अज्ञानमय भाव कहा है।

देखो, अज्ञानमयभाव के मुख्यतः दो अर्थ हैं —

(१) मिथ्यात्वसहित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं।

(२) केवलज्ञान की अपेक्षा क्षयोपशमज्ञान—को भी अज्ञान कहते हैं।

इनके अलावा जिसमें ज्ञान का अंश न हो ऐसे पुण्य-पाप के भावों को भी अज्ञानमयभाव कहा गया है।

अतः जहाँ ऐसा कहा गया हो कि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते, वहाँ मिथ्यात्वसहित भाव को अज्ञानभाव समझना। और पुण्य-पाप भावों को दृष्टि में गौण कर दें तो भी ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते।

यद्यपि यहाँ तो मुनिपने की अपेक्षा से बात की है, परन्तु चौथे गुणस्थान में, जहाँ धर्म की — मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी रूप सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, वहाँ भी धर्मी को स्वसंवेदन की आत्मस्वरूप में एकाग्रता की ही भावना होती है। ऐसा होते हुए भी ज्ञानी की भूमिका में भी जो राग आता है, पापभाव होता है, वह उसकी कमजोरी है। उससमय राग की उत्पत्ति का परिणमन स्वयं अपने षट्कारक से होता है।

अहा! कहते हैं कि जिसप्रकार अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पर्यायरूप परिणमन अपने से अपने में अपने स्वतंत्र षट्कारकों से होता है, उसीप्रकार राग का परिणमन भी अपने षट्कारकों से स्वतंत्र होता है। अहा! एक पर्याय के दो भाग ! एक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय और दूसरी राग की पर्याय। जिससमय अपने कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान आदि षट्कारकों के परिणमन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न हुआ है; उसीसमय राग की भी उत्पत्ति है, पापभाव की भी उत्पत्ति है। परन्तु ये पापभाव अज्ञानमयभाव हैं, क्योंकि इसमें ज्ञानस्वभाव का अंश नहीं है। तथा ज्ञानी को इनमें स्वामित्व भी नहीं है। इसीलिए तो कहा जाता है कि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते। ज्ञानी के तो ज्ञानमयभाव ही होते हैं ।

प्रश्नः— शास्त्रों में कई जगह ऐसा लिखा मिलता है कि ज्ञानी को कर्म के उदय की बलजोरी से राग उत्पन्न होता है, जबकि यहाँ यह कह रहे हैं कि राग का भी अपना स्वतंत्र जन्मक्षण है तथा वह भी अपने स्वतंत्र षट्कारक से होता है, इन दोनों कथनों में किसे सत्य माना जाये?

समाधानः— भाई! वह तो निमित्त की मुख्यता से किया गया कथन है। वास्तव में तो अपने पर्याय में कमजोरी से विकार होता है तथा उसीसमय ज्ञानी के ज्ञाता। दृष्टा स्वभाव का परिणमन भी होता है। पुरुषार्थ की कमजोरी को ही निमित्त की प्रमुखता से कर्मोदय की बलजोरी कहने की पद्धति जिनागम में है।

अब कहते हैं कि "ज्ञानी अज्ञानमयभाव (इच्छा) के अभाव के कारण अधर्म (पाप) को नहीं चाहता।" ज्ञानी के पापभाव में एकत्व नहीं है, पाप की भावना – इच्छा नहीं है। भले पापभाव हो, परन्तु उसमें मिठास नहीं है, इस कारण पाप की इच्छा नहीं है। अतः ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं हैं।

प्रश्नः—ज्ञानी के पाप का परिग्रह नहीं है, यह सत्य है; परन्तु उसके पापभाव होता तो है और वह उसे बुरा भी मानता है, फिर भी क्या वह उसे दूर करने का उपाय नहीं करता?

समाधानः— भाई! ज्ञानी के अन्तर में आत्मा की भावना है, उससे उसे जो अन्तर में एकाग्रता होती है – बस यही पापादि के विकल्पों को दूर करने का उपाय है।

अहा! ज्ञानी के रागभाव होता है, परन्तु उनकी उसे इच्छा नहीं है। इसलिए ज्ञानी के परिग्रह नहीं है। ज्ञानी के विकार होते हुए भी विकार की भावना— इच्छा नहीं है। इसलिए ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है, पकड़ नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के उसकी निर्जरा हो जती है।

अब कहते हैं कि एक ज्ञानमय ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण ज्ञानी अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।

अहा! पाप के जो भाव होते है, ज्ञानी उनका केवल जाननेवाला ही है; क्योंकि उसे ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव का सद्भाव है अर्थात् वह ज्ञायकभाव के स्वभाव से परिणाम रहा है। भाई! यह पैसा वगैरह तो थोड़े से पुण्योदय से भी मिल जाता है, विशेष बुद्धि न हो, तो भी पुण्य हो तो पैसा मिल जाता है, परन्तु अन्तर पुरुषार्थ के बिना आत्मा की प्राप्ति रूप धर्म होना संभव नहीं है। कहा भी है –

"प्रभु का यह मार्ग है वीरों का, कायरों का नहीं यहाँ कुछ काम रे।"

पुण्य में धर्म माननेवाले कायर हैं। उन्हें कभी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म की प्राप्ति के लिए तो पूर्णानन्द के नाथ, शुद्ध, एक ज्ञायक स्वभावी भगवान आत्मा की सन्मुखता करके उसी में एकाग्र होकर उसी का अनुभव करे, तब सम्यग्दर्शन रूप धर्म प्रगट होता है।

अहा! जिसे अन्तर में ऐसा धर्म प्रगट हुआ, वह चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टी प्रथम दर्जा का धर्मी है। पांचवें गुणस्थानवाला श्रावक तो उससे भी ऊँचा है। तथा मुनिराज तो आत्मा के ज्ञान-ध्यान में लीन परमसुख शान्तिस्वरूप आनन्द से घनपिण्ड ही हैं, उनकी तो बात ही कुछ और है।

इसप्रकार पुण्यपाप के दो बोल हुए। अब कहते हैं कि इसीप्रकार गाथा मे आये अधर्म शब्द को पलटकर उसके स्थान पर राग-द्वेष के ऊपर घटा लेना चाहिए। जब ज्ञानी के राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, तब वह उनका भी केवल ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। जिसे अंतरंग में अतीन्द्रिय आनन्द के सागर आत्मा की ही रुचि हुई है, उस धर्मी जीव को राग-द्वेष के प्रति राग नहीं होता। उसे भी राग द्वेष तो होते हैं, पर उनकी उसे रुचि नहीं है, इच्छा नहीं है, पकड़ नहीं है, वह तो मात्र उन राग-द्वेषादि का ज्ञाता ही है।

प्रश्नः— ज्ञानी के राग-द्वेषादि की रुचि नहीं है, पर राग-द्वेष तो होते हैं न?

समाधानः— भाई! वास्तव में तो उसे राग-द्वेष नहीं होते, किन्तु राग-द्वेष का भी मात्र ज्ञान ही होता है। ज्ञानभाव में से उसके ज्ञाता का ही परिणमन होता है। वह राग-द्वेष का कर्ता हर्ता या स्वामी नहीं होता, वह राग व द्वेष में तन्मयपने नहीं परिणमता। देखो, श्री शान्तिनाथ, कुन्थनाथ व अरनाथ – ये तीनों तीर्थंकर, चक्रवर्ती व कामदेव थे। जब वे छह खण्ड के राज्य को जीतने के लिए निकले थे, तब जो शरण में आ गये, उनके प्रति राग व जिन्होंने शरणागतपना स्वीकार नहीं किया, उनके प्रति द्वेष भी आता था; तथापि वे उस सबके ज्ञाता-दृष्टा ही थे, क्योंकि धर्मी जीव रागद्वेष के भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं; कर्ता नहीं होते, द्वेषमय भी नहीं होते।

आचार्यदेव का यहाँ कहना है कि ज्ञानी के ज्ञान में एकसाथ दोनों प्रकार का भान रहता है। एक तो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का भान और

दूसरा वर्तमान में विद्यमान रागद्वेषरूप पर्याय का भान। इसप्रकार दोनों का ही भान होता है। यह बात सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में भी आयी है कि द्वेष के ज्ञान के समय भी ज्ञान की ही पुष्टि होती है, द्वेष की नहीं। अहा! जहाँ अपना ज्ञान है वहीं द्वेष का भी ज्ञान होता है, इसप्रकार ज्ञानी के दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। स्वसन्मुखता का झुकाव होने पर जो थोड़ा-बहुत परसन्मुखता का रागद्वेष होता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता ही रहता है। अब द्वेष पलटकर क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय आदि १६ बोल लगा लेना चाहिए।

ज्ञानी को क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भी आते हैं, परन्तु ज्ञानी को क्रोधादि कषायमय भाव नहीं होते। टीका में भी यही कहा है कि – ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते। ज्ञानी के तो ज्ञानमय भाव ही होते हैं। कमजोरी में उसे क्रोधादि कषायें उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु वह उन्हें अपने से भिन्न रखकर केवल जानता ही है अर्थात् उनका ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, उनमें तन्मय नहीं होता। अहा! ज्ञानी को जहां अन्तर के निराकुल आनन्द का स्वाद आया, वहाँ उसे किंचित् क्रोधादि आ जाने पर क्रोधादि जहर जैसे लगते हैं, क्योंकि उसे उनमें रुचि नहीं है।

मान कषाय के सम्बन्ध में भगवान नेमीनाथ के उदाहरण से नेमीनाथ के उदाहरण से समझ सकते हैं। यद्यपि वे ज्ञानी थे, तथापि उन्हें उस समय मान का विकल्प आ गया, जब अर्धचक्री श्रीकृष्ण पूरी ताकत लगाने के बाद भी अंगुली पर झूम जाने पर भी उनकी अंगुली टेढ़ी नहीं कर सके। ऐसा अतुल बल भगवान नेमीनाथ के शरीर में था। उनके आत्मबल की तो बात ही क्या कहें?

आत्मज्ञानी, धर्मी, सम्यग्दृष्टि तीन ज्ञान के धनी-तीर्थंकर पद के धारक भगवान नेमीनाथ को भी गृहस्थ की भूमिका में मान का विकल्प आ गया था, परन्तु वे उस मान के स्वामी उस समय भी नहीं थे; क्योंकि ज्ञानी को जो भी विकल्प आते हैं, वे उनके ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं।

अनादि से व्यवहार में सोता हुआ जीव जब अन्दर निश्चय स्वरूप में जागृत हो जाता है, तब उसे अतीन्द्रिय आनन्दरूप जिसकी मुद्रा है – ऐसा मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। तथा ऐसे मोक्षमार्ग में रहनेवाले जीव को कदाचित मान का विकल्प हो जाता है, परन्तु वह उसका ज्ञातादृष्टा ही रहता है। बात बहुत सूक्ष्म है भाई! परन्तु इस गंभीर बात को समझे बिना आत्मा का हित संभव नहीं है।

इसीप्रकार माया व लोभ कषाय के सम्बन्ध में समझना। कर्म के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि "ज्ञानावरणादि जो आठ कर्म हैं, वे मेरे नहीं हैं – ऐसा ज्ञानी जानता है। ज्ञानी कर्मों से अपनी हानि या लाभ नहीं मानता। जिसने शुद्ध आत्मस्वरूप के लक्ष्य से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है, वह मोक्ष के मार्ग में – सच्चे सुख के मार्ग में है। अतः वह ऐसा नहीं मानता कि कर्म मुझे सुख या दुःख देता है या आत्मा के गुणों का घात करता है। बस, वह तो इतना जानता है कि आठ कर्म होते हैं और उनका आत्मा में होनेवाले विकार के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं।

नोकर्मरूप में ये शरीर, मन, वाणी तथा स्त्री, पुत्र, परिवार आदि जितने भी संयोग हैं, वे सब निमित्तरूप हैं। धर्मी उन्हें भी जानता ही है, उन्हें अपने से भिन्न रूप में ही जानता है, उन्हें अपना नहीं मानता; जबकि अज्ञानी उन्हें अपना अभिन्न अंग मान लेता है।

हृदयस्थल में जो द्रव्यमान है, वह जड़ हैं, वह कुछ जानता विचारता नहीं है। जाननेरूप तो अपनी ज्ञानपर्याय है। जिसप्रकार आँख देखती नहीं है, आँख के निमित्त से आत्मा जानता है, उसीप्रकार द्रव्यमन के निमित्त से आत्मा जानता है। बस, ज्ञानी इतना जानता है कि "मन" है, परन्तु ज्ञानी "ऐसा नहीं मानता कि मन के द्वारा मुझे ज्ञान होता है"। यह तो ज्ञान की सहज स्वाभाविक शक्ति है कि जिसके कारण निमित्त का ज्ञान स्वयं से स्वयं में होता है, जो ऐसा यथार्थ जानता है वही धर्मात्मा है। यहाँ कहते हैं कि भगवन्! तू चैतन्यस्वरूप है न? तेरी शक्ति की सामर्थ्य तो राग, कर्म व नोकर्म को केवल जानने की है। भाई! यह जड़ मन-वचन-काय तेरी चीज नहीं है और ये हैं, इसकारण तुझे इनका ज्ञान होता है – ऐसा भी नहीं है। तथा इनसे तुझे ज्ञान होता है – ऐसा भी नहीं है।

वचन भी आत्मा नहीं बोलता, वाणी भी जड़ है। ज्ञानी को उसका ज्ञान होता है कि यह अन्य वस्तु है, पर "मैं वचन बोल सकता हूँ" – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता।

इसीप्रकार ज्ञानी के काया का परिग्रह नहीं है, क्योंकि यह शरीर भी अजीव है, जड़ है। यह बात ९५वीं गाथा में भी आ चुकी है कि आनंदस्वरूप अमृत का सागर भगवान आत्मा मृतक कलेवर में मूर्छित हो रहा है। भाई! यह हाड़, मांस व चमड़ा का बना कलेवर अभी भी मुर्दा ही

है। अहा! अपनी वस्तु पूर्ण वीतरागता, अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीनिन्द्रय आनन्द से भरी है। पर, अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है, अतः वह मृतक कलेवर को अपनी चीज मान लेता है। ज्ञानी तो बस इतना जानता है कि 'यह शरीर है, परन्तु उसे अपना नहीं मानता। तथा शरीर की क्रिया को अपनी (आत्मा की) क्रिया भी नहीं मानता। वह तो शरीर व शरीर की अवस्थाओं का ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

इसीप्रकार श्रोत्र भी जड़ की दशा है। ज्ञानी को इसका भी परिग्रह नहीं है। कान ठीक हैं, इसकारण मैं बराबर सुन सकता हूँ, व कानों से मुझे ज्ञान होता है" – ज्ञानी ऐसा नहीं मानता। वस्तुतः सुनने से ज्ञान होता ही नहीं है। ज्ञान तो अपने से – स्वयं से होता है, कान से नहीं। कान तो जड़ पदार्थ वाह्य निमित्त मात्र है।

यहाँ धर्मी जीव कहते हैं कि मुझे उससे अनंतबार श्रोत्र इन्द्रिय मिली, मैंने अज्ञानवश उसे अपना मानकर ममता की ओर चारों गतियों में भव भ्रमण किया। पर अव मैं ऐसा मानता हूँ कि श्रोतेन्द्रिय मेरी नहीं है, क्योंकि ये जड़ है। यदि ये मेरी हो तो सदा ही इस मेरे साथ रहना चाहिए। इसलिए ये मेरी नहीं हैं, मुझे उसकी ममता भी नहीं है, इच्छा भी नहीं है, मैं तो उनको मात्र जानता हूँ।

इसीप्रकार चक्षु भी जड़ है, ज्ञानी को इसके प्रति भी ममता नहीं होती। धर्मी जीव आँख व आँख की क्रिया को अपनी नहीं मानते। इससे उन्हें आँख की इच्छा नहीं है। वह तो मात्र इसे पररूप जानता ही है।

इसीप्रकार घ्राण, नाक भी अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है, जड़ है। नाक व नाक की क्रिया को भी ज्ञानी अपनी नहीं मानता, अतः उसके नाक का परिग्रह नहीं है। यंह तो मात्र संयोगी चीज है – ऐसा ज्ञानी जानता है।

इसीप्रकार रसना व स्पर्शन पुद्गल पिण्ड हैं। रसना व स्पर्शन इन्द्रियाँ व उनकी क्रियाओं को भी ज्ञानी अपनी नहीं मानता।

प्रश्नः– जीवित शरीर धर्म का साधन है न? कहा भी है – "शरीरमाध्यम खलु धर्मसाधनम्"

समाधानः– अरे भाई! जीवित शरीर या सचेत शरीर तो निमित्त की अपेक्षा कहा जाता है, यह तो जीव का शरीर के साथ संयोग है – ऐसा ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है।

अहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर अमृतस्वरूप भगवान आत्मा मृतक कलेवर में मूर्छित हो गया है। भाई! यह शरीर तो मृतक कलेवर अर्थात् मुर्दा ही है। इसे जीवित मानना तथा इससे धर्म होना मानना मिथ्यात्व है। अज्ञानी शरीराश्रित उपवासादि क्रियाओं को अपनी क्रिया मानता है।

अहा! प्रभु! तू ज्ञानानन्द का सागर है तथा तेरे अस्तित्व में तो अकेला ज्ञान व आनन्द ही आनन्द है। अरे भाई! जब तेरे अस्तित्व में राग भी नहीं है तो फिर शरीर व स्पर्शनादि तेरे में कहाँ से आये? ज्ञानी तो इन्द्रियों एवं इन्द्रियों की क्रिया को अपना कभी मानते ही नहीं है। इसकारण उसे इनका परिग्रह नहीं है।

इसप्रकार रागादि १६ शब्द पलट कर १६ गाथा सूत्र व्याख्यान रूप करना तथा इसीप्रकार अन्य भी घटित कर लेना। यहाँ असंख्य प्रकार के शुभाशुभभाव हैं। वे "मैं" नहीं हूँ। तथा वे मेरे नहीं हैं, मैं तो एक शुद्ध चिन्मात्र चैतन्यघन प्रभु आत्मा हूँ – ऐसा भेदज्ञान करके धर्मात्मा जीव असंख्य प्रकार के जो अन्य भाव हैं, उन्हें अपने से भिन्न जानते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जे जे मनवंछित विलास भोग जगतमैं,
ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम,
तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं।
एकता न दुहूं मांहि तातैं वांछा फुरै नांहि,
ऐसे भ्रम कारजकौं मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत,
यातैं ग्यानवंतकौ अवंछक कहत हैं ।। ३३ ।।

निर्जरा द्वार

समयसार गाथा २१२

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१२।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।२१२।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है:-

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं असन इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि असन का वो, असन का ज्ञायक रहे ।।२१२।।

गाथार्थः— [**अनिच्छः**] अनिच्छक को [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अशनम्**] भोजन को [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**अशनस्य**] भोजन का [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] (भोजन का) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीकाः— इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमयभाव—इच्छा के अभाव के कारण ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता;

इसलिए ज्ञानी के भोजन का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) भोजन का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थः– ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं होती, इसलिए ज्ञानी का आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि आहार तो मुनि भी करते हैं, उनके इच्छा है या नहीं? इच्छा के बिना आहार कैसे किया जा सकता है?

समाधान :– असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यांतराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं, और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। ज्ञानी के इच्छा के प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे। इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता, इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। इसप्रकार शुद्धनय की प्रधानता से कथन जानना चाहिए।

गाथा २१२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

"इच्छा परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं हैं।" यहाँ कहते हैं कि यह जो राग की इच्छा की उत्पत्ति होती है, वह परिग्रह है। जिसे आहार की भी इच्छा नहीं है, उसे असन का परिग्रह नहीं है।

प्रश्नः– "इच्छा की इच्छा नहीं है, इसका क्या अर्थ है?

समाधानः– ज्ञानी के इच्छा तो है; परन्तु यह इच्छा ठीक है, ज्ञानी के ऐसा मिथ्याभाव नहीं है, अर्थात् ज्ञानी इच्छा को उपादेय नहीं मानता; क्योंकि इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के होता नहीं है। इच्छा मात्र में ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की चैतन्यज्योति के तेज का अभाव है, इच्छा में आत्मा के चैतन्य की किरण नहीं है। इसकारण इच्छा को अज्ञानमयभाव कहा है। ज्ञानी के इच्छा का स्वामित्व नहीं होता। इच्छा राग है, अज्ञान है। यहाँ अज्ञान का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है, बल्कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा जिसतरह ज्ञानमय है, उसीतरह राग–इच्छा ज्ञानमय नहीं है। बस, इसीकारण इच्छा को अज्ञानमय कहा है। अ

+ ज्ञान = अज्ञान अर्थात् जो ज्ञान नहीं वह अज्ञान। ज्ञान तो आत्मा है तथा आत्मा में इच्छा नहीं है, इसलिए इच्छा अज्ञान है।

अहा! ज्ञानी को ज्ञानमय ही भाव होते हैं। ज्ञानी के शुद्ध एक चैतन्य स्वभाव का – ज्ञातादृष्टा स्वभाव का परिणमन होता है, इसकारण उनको ज्ञानमय अर्थात वीतरागतामय, आनन्दमयभाव ही होता है। उसे जो अल्पराग होता है, उसका वह मात्र ज्ञाता ही रहता है। उसे अपने स्वभाव का ज्ञान व अपने में हुए राग का ज्ञान – इसप्रकार मात्र ज्ञानमय भाव ही रहता है।

देखो, यद्यपि ज्ञानी आहार लेने जाते हैं, तो भी यहाँ कहा है कि उन्हें आहार की इच्छा नहीं है; क्योंकि उन्हें इच्छा में रुचि नहीं है। ज्ञानी को रुचि तो एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की है। अहा! धर्मी समकिति को तो केवल अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने की रुचि (भावना) होती है। उसे अशन – आहार की भावना नहीं है, इसलिए उसे अशन का परिग्रह नहीं है। उसे जो आहार का भाव आता है, उसका वह केवल ज्ञाता ही रहता है।

अहाहा! ज्ञानी को ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव का ही सद्भाव है। जिसको अन्दर में निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ऐसा भान हुआ है कि "मैं शुद्ध चिदानन्दघन स्वरूप प्रभु ज्ञायकस्वभावी आत्मा हूँ, मैं रागमय या उदयभावमय नहीं हूँ। उसे एक ज्ञायकभाव का सद्भाव है। इसकारण वह अशन का केवल ज्ञायक ही है, ज्ञाता ही है। ज्ञानी के आहार होता है तो भी वह उसका ज्ञायक ही रहता है।

गाथा २१२ के भावार्थ पर प्रवचन

"ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं है, इससे ज्ञानी को आहार करने का भी परिग्रह नहीं है।"

प्रश्न:– ज्ञानी गृहस्थ तो आहार करते ही हैं, मुनिराज भी आहार करते हैं, उन्हें इच्छा है कि नहीं? यदि इच्छा नहीं है तो इच्छा के बिना आहार कैसे संभव है?

समाधान:– असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है। जठराग्निरूप जो क्षुधा उत्पन्न होती है, उसमें असातावेदनीय कर्म का उदय निमित्त है। क्षुधा तो अपनी तत्समय की योग्यता से उत्पन्न होती है, जठराग्नि के परमाणु स्वयं ही परिणमित

होकर क्षुधा रूप होते हैं। असातावेदनीय कर्म उसमें निमित्त होता है। निमित्त क्षुधा का कर्ता नहीं है। दोनों का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय से वह क्षुधावेदना सही नहीं जाती, अर्थात् अपने उपादान की योग्यता में जब क्षुधा को सहन करने की शक्ति नहीं होती तो वीर्यान्तराय कर्म के उदय से भूख की पीड़ा हुई – ऐसा निमित्त की अपेक्षा कहा जाता है।

प्रश्नः– मूल बात यह चल रही है कि ज्ञानी के जब इच्छा की इच्छा नहीं है, तो फिर वे आहार क्यों लेते हैं एवं इच्छा के बिना आहार की क्रिया कैसे संभव है?

समाधानः– भूख लगने के जिनागम में चार कारण गिनाये हैं–

(१) असातावेदनीय के निमित्त से तथा तत्समय की जठराग्नि की योग्यता से जठराग्नि रूप क्षुधा उत्पन्न होती है।

(२) वीर्यान्तराय कर्म के निमित्त से अथवा अपनी कमजोरी से उनकी वेदना सहन नहीं होती।

(३) चारित्रमोह कर्म के उदय के निमित्त से तथा आत्मा की तत्समय की योग्यता से आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है।

(४) पेट के खाली होने से भी भूख लगती है और आहार ग्रहण की इच्छा होती है।

इसप्रकार ज्ञानी के इच्छा तो है, पर इच्छा की इच्छा नहीं है। इसी का अर्थ है कि ज्ञानी के आहार ग्रहण की इच्छा नहीं है। इच्छा ही न हो – ऐसा नहीं है; इच्छा है, पर उसमें रुचि नहीं है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्म के उदय का कार्य जानते हैं। एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से राग अपना स्वभाव नहीं है तथा वह स्वभाव का कार्य भी नहीं है। इस अपेक्षा से इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं।

प्रश्नः– इस कथन से तो यही सिद्ध होता है कि राग कर्म का कार्य है, आत्मा का नहीं?

समाधानः– भाई! रागरूपी कार्य अपना (आत्मा का) स्वभाव नहीं है, इस अपेक्षा से ऐसा कहा है। वैसे देखा जाय तो राग है तो आत्मा की पर्याय का ही कार्य; परन्तु वह अपने स्वभाव का कार्य नहीं है तथा निमित्त के साथ हुआ है, इस अपेक्षा से वह कर्मोदय का कार्य कहा गया

है। अहा! स्वयं स्वतंत्र कर्ता होकर इच्छारूपी कार्य करता है, तो भी अपने स्वभाव में वह इच्छा नहीं है इसकारण जो इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे कर्म का कार्य जानकर ज्ञानी उसका नाश कर देते हैं।

अहा! एक ओर तो 'जन्मक्षण' की बात कहते हैं, अर्थात् जिसमय जो राग उत्पन्न होता है, वही उसका जन्मक्षण है, उत्पत्ति का काल है – ऐसा कहते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि ज्ञानी इच्छा को कर्मोदय का कार्य जानता है, ऐसा कैसा कथन है यह?

भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ समझने की कोशिश करना चाहिए। दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से यथार्थ हैं।

यहाँ कहते हैं कि मैं तो शुद्ध चैतन्यभावमय आत्मा हूँ। अहा! सत्स्वरूप आत्मा का सत्व तो ज्ञान व आनन्द है अर्थात् मैं एक ज्ञान व आनन्द के स्वभाव से भरा भंडार हूँ। मेरा जो परिणमन होता है, वह ज्ञान का परिणमन ही होता है, स्वभाव का ही परिणमन होता है। राग का परिणमन कर्मोदय का कार्य है – ऐसा जानकर भेदज्ञानपूर्वक ज्ञानी उसे छोड़ देता है।

ज्ञानी उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहता है। देखो, ज्ञानी के इच्छा होती है, परन्तु वह उसे रोग समान जानता है। इच्छा के प्रति उसे अनुराग नहीं है। उसको ऐसी इच्छा नहीं है कि यह इच्छा मेरी सदैव रहे। इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है।

परजन्य इच्छा का स्वामीपना ज्ञानी के नहीं है, इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। यह तो पहले ही कह आये हैं कि ज्ञानी इच्छा को कर्मोदय का कार्य जानता है। अहा! शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव का ज्ञाता ज्ञानी राग का – इच्छा का भी ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव में रहकर जो इच्छा होती है, ज्ञानी उसको पररूप में मात्र जानता ही है।

समयसार गाथा २१३

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छेदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१३।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१३।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात्।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के पानी इत्यादि के पीने का भी परिग्रह नहीं है:—

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानी के।
इससे न परिग्रहि पान का वो, पान का ज्ञायक रहे ।।२१३।।

गाथार्थ:— [अनिच्छः] अनिच्छक को [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [पानम्] पान को (पेय को) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिए [सः] वह [पानस्य] पान का [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं, किन्तु [ज्ञायकः] (पान का) ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका:— इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमयभाव ही होता है; इसलिये अज्ञानमयभाव जो इच्छा उसके अभाव से ज्ञानी पान को (पानी इत्यादि पेय को) नहीं चाहता;

इसलिये ज्ञानी के पान का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) पान का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थः– आहार की गाथा के भावार्थ की भाँति यहाँ भी समझना चाहिये।

गाथा २१३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ यह कहते हैं कि ज्ञानी के पान का अर्थात् पानी वगैरह पीने का भी परिग्रह नहीं है।

देखो, 'जिसप्रकार किसी के २०-२२ वर्ष के युवा होनहार इकलौते पुत्र का मरण हो गया हो तो उसे उसके वियोग के दुःख में भोजन-पानी कुछ भी नहीं सुहाता – भाता।' ऐसी स्थिति में यदि कोई उसे नानाप्रकार के व्यंजन परोसे तो भूख मिटाने के लिये वह उसे खा तो लेता है, परन्तु क्या उसे उस मिष्ठान्न भोजन को करते हुए उमंग–उत्साह या विशेष प्रकार की हर्षानुभूति हो सकती है? नहीं हो सकती। इसीप्रकार ज्ञानी को राग में किंचित् भी प्रेम नहीं है। उसे राग है, परन्तु राग में अनुराग नहीं है।

अहा! समकिती को अन्तर में गजब का वैराग्य होता है। निराकुल आनन्द का अनुभव ही उसका वास्तविक भोजन है। उसे अन्य किसी असन या पान की इच्छा नहीं है। देखो, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, रागमय भाव नहीं होते। ज्ञानमय भावना के कारण इच्छा के काल में भी ज्ञानी को इच्छा का ज्ञान भी सहज स्वयं से होता है।

देखो, जो राग से भेदज्ञान करके भिन्न हो गया है तथा जिसके अन्तर में आनन्द झरता है, उस धर्मी को पानी की इच्छा होती है, तो भी उसे इच्छा की इच्छा नहीं है, इसलिए उसे पानी वगैरह का भी परिग्रह नहीं है। पानी ग्रहण का जो भाव होता है, ज्ञानी उसका भी ज्ञाता रहता है।

गाथा २१३ के भावार्थ पर प्रवचन

ज्ञानी को पानी वगैरह पीने का भी परिग्रह नहीं है। ज्ञानी पानी पीता है, तो भी उसकी इच्छा नहीं है, क्योंकि पानी पीने की जो इच्छा है, ज्ञानी को उस इच्छा की इच्छा नहीं है। अर्थात् यह पानी पीने की इच्छा सदैव रहे– इच्छा के प्रति ऐसी अनुरागपूर्वक भावना नहीं है। ज्ञानी तो उसे रोग समान जानता है तथा उसे मिटाना ही चाहता है।

—

उसे असातावेदनीय के निमित्त से तृषा लगती है, वीर्यान्तराय कर्म के उदय के निमित्त से उसे उसकी वेदना सहन नहीं होती तथा चारित्रमोहनीय के निमित्त से पानी वगैरह पीने की इच्छा होती है। तथापि उस इच्छा की इच्छा ज्ञानी को नहीं है। ज्ञानी के परजन्य इच्छा का स्वामीपना नहीं होता। धर्मी जीव को तो अपने द्रव्य, गुण व शुद्धपर्याय ही अपने 'स्व' हैं तथा स्वयं उसका स्वामी है। राग उसका 'स्व' नहीं है तथा वह भी राग का स्वामी नहीं है। इसलिए ज्ञानी पान की इच्छा का ज्ञायक ही है। अहा! ज्ञानी के अपने ज्ञायकस्वभाव में स्थित होकर जो इच्छा होती है, वह उसे पररूप में मात्र जानता ही है।

ज्ञानी जीव सदा अबंध है (दोहा)

ग्यानी ग्यानमगन रहै रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, करम बंध नहि होइ ।। ३६ ।।

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास।
मुकति पंथ परगट करै, दीपक ग्यान विलास ।। ३७ ।।

(सवैया इकतीसा)

जामैं धूमकौ न लेस वातकौ न परवेस,
करम पतंगनिकौं नास करै पलमैं।
दसाकौ न भोग न सनेहकौ संजोग जामैं,
मोह अंधकारकौ वियोग जाके थलमैं ।।
जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहै समता समाधि जोग जलमैं।
ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पै दुरी है पुदगलमैं ।।३८।।

निर्जरा द्वार

समयसार गाथा २१४

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥
एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो निरालंवस्तु सर्वत्र ॥२१४॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी, तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति। इतिसिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वम्। अथैवमयमशेषभावांतर-परिग्रहशून्यत्वादुद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा। प्रति-नियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति।

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकार के परजन्य भावों को ज्ञानी नहीं चाहता, यह कहते हैं:-

य आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
सर्वत्र आलम्बन रहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो॥२१४॥

गाथार्थः- (एवमादिकान् तु) इत्यादिक (विविधान्) अनेक प्रकार के (सर्वान् भावान् च) सर्व भावों को (ज्ञानी) ज्ञानी (न इच्छति) नहीं चाहता, (सर्वत्र निरालम्ब : तु) सर्वत्र (सभी में) निरालम्ब वह (नियतः ज्ञायकभावः) निश्चित ज्ञायकभाव ही है।

टीकाः- इत्यादिक अन्य भी अनेक प्रकार के जो परद्रव्य के स्वभाव हैं, उन सभी को ज्ञानी नहीं चाहता। इसलिये ज्ञानी के समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।

अब इसप्रकार, समस्त अन्य भावों के परिग्रह से शून्यत्व के कारण जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है—ऐसा यह (ज्ञानी) सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता हुआ, साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।

भावार्थः- पुण्य, पाप, अशन, पान इत्यादि समस्त अन्यभावों का ज्ञानी को परिग्रह नहीं है; क्योंकि समस्त परभावों को हेय जाने, तब उसकी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती।[1]

गाथा २१४ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब इस गाथा में कहा गया है कि पूर्व में कहे गये 16 प्रकार के परजन्य भावों के सिवाय ज्ञानी और भी अनेक प्रकार के परजन्य भावों को नहीं चाहता।

अहाहा....! त्रिकाल सच्चिदानन्दमय पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा का जिसे अनुभव हुआ है, व प्रतीति हुई है, वह समकिती ज्ञानी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि पुण्यभाव की इच्छा नहीं करता है।

यहाँ मुनि की प्रधानता से कथन है। जो प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द में रम रहे हैं, उनके पुण्य-पाप की इच्छा नहीं है तथा आहार-पानी की भी इच्छा नहीं है। भाई! मुनिराज के आहार-पानी का विकल्प तो होता है, परन्तु यह विकल्प मुझे सदैव रहे—ऐसी इच्छा नहीं होती।

मुनिराज को अन्य वस्त्र-पात्र आदि तो होते ही नहीं हैं। जिनके वस्त्र-पात्र आदि होवें, वे तो मुनि ही नहीं हैं। जो वस्त्रादि सहित को मुनि मानें, वे तो मिथ्यादृष्टि ही हैं। यहाँ तो पुण्य-पाप एवं आहार-पानी की मुनिराज के इच्छा नहीं है—इसप्रकार चार बोलों से बात की।

अब कहते हैं कि अन्य अनेक प्रकार के परजन्य भावों को भी ज्ञानी नहीं चाहता।

देखो, ये शरीर-मन-वाणी आदि तो जड़ एवं परद्रव्य हैं ही, इससे भी विशेष बात यहाँ यह कहते हैं कि अन्तर में जो असंख्यात प्रकार के शुभाशुभ भाव होते हैं, वे भी समस्त परद्रव्य के स्वभाव हैं; क्योंकि वे स्वद्रव्यमय नहीं हैं। ज्ञानी उन सभी भावों की इच्छा नहीं रखता।

---

1 पहले, मोक्षाभिलाषी सर्व परिग्रह को छोड़ने के लिए प्रवृत हुआ था; उसने इस गाथा तक समस्त परिग्रहभाव को छोड़ दिया और इसप्रकार समस्त अज्ञान को दूर कर दिया तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव किया।

अहा! मुनिराज को व्रत, तप आदि के विकल्प होते हैं, आहार-पानी के विकल्प भी होते हैं; परन्तु उन विकल्पों से वे लाभ नहीं मानते तथा उन्हें आश्रय करने योग्य भी नहीं मानते। अहाहा... अतीन्द्रिय आनन्द के रसकंद प्रभु आत्मा के आनन्द का अन्तर में जिसे स्वाद आया है, वह विकल्प के दुःखमय स्वाद को कैसे चाहेगा? विकल्प के स्वाद की मिठास, पुण्य के स्वाद की मिठास तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को होती है। ज्ञानी समस्त परद्रव्य के स्वभाव को नहीं चाहता, क्योंकि उसको समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है, उनकी पकड़ नहीं है।

अहाहा..... जिसने राग की एकता की गांठ खोलकर फेंक दी है तथा अन्तर में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की एकता प्रगट की है, उस ज्ञानी के समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहपना सिद्ध हुआ।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी के अत्यन्त निष्परिग्रहपना है। पाठ में "सव्वथ निरालम्बो" है न? अहाहा.... जिसको व्यवहार रत्नत्रय के राग का या देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग का भी आलम्बन नहीं है, ऐसे धर्मी को अत्यन्त निष्परिग्रहपना है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्दस्वरूप विराजमान है। ज्ञानी को मात्र ऐसे निजस्वरूप का ही परिग्रह है। अहो! धर्मी जीव का अन्तर परिणमन ज्ञान व आनन्द से भरपूर होता है। स्वस्वरूप के आचरण से जिसको निराकुल आनन्द का स्वाद आया है, उस धर्मात्मा को अत्यन्त निरालम्बनपना है, अत्यन्त निष्परिग्रहपना है; क्योकि उसको कोई भी परद्रव्य के भावों की पकड़ नहीं है।

अब कहते हैं कि जो ये दया, दान, व्रत आदि के विकल्प उठते है, उनसे भगवान आत्मा शून्य है। ऐसा रागरहित वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा परिग्रह से शून्यपने के कारण समस्त अज्ञानमय भावों से रहित अत्यन्त निष्परिग्रह है, क्योकि उसे किसी भी परद्रव्य व परभावों की पकड नहीं है।

प्रश्नः- यह मुनिदशा की बात है न?

समाधानः- नहीं भाई! यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि की बात है। मुनिदशा तो स्वरूप में विशेष रमणता—स्थिरता रूप होती है। जब सम्यग्दृष्टि जीव को स्वरूप में विशेष रमणता होने पर प्रचुर आनन्द का वेदन होता है, तब मुनिदशा आती है। मुनिपना आते ही अतीन्द्रिय आनन्द की मस्ती में ज्ञानी जीव निमग्न हो जाता है। भाई! केवल महाव्रतादि का पालन करना और नग्न रहना मुनिपन नहीं है, ये तो सब रागभाव है।

आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी निरालम्ब—निष्परिग्रह होकर साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करते हैं। अहाहा.... भगवान आत्मा अखण्ड एक विज्ञानघन स्वरूप है, अन्य वस्तुओं से भिन्न अकेला ज्ञान का पुंज-चिदानन्दघन है। ज्ञानी ऐसे चिदानन्दघन स्वरूप निज-आत्मा का साक्षात् अनुभव करते हैं।

गाथा २१४ के भावार्थ पर प्रवचन

यहां कहते हैं कि ज्ञानी के दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि पुण्यभावों का तथा हिंसा झूठ, चोरी, कुशील व काम-क्रोधादि पापभावों का एवं आहार-पानी ग्रहण करने के अन्य भावों का परिग्रह नहीं है। देखो, वह सर्व अन्य भावों को तो हेय मानता ही है, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के भाव को भी हेयरूप ही जानता है।

प्रश्नः- क्या ज्ञानी देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के भाव को धर्म का साधन नहीं मानता?

समाधानः- भाई! यहाँ जिसे हेय कहा जा रहा है, उसे ही साधन कैसे कह सकते हैं? वस्तुत वह साधन है भी नहीं, फिर यहाँ तो स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि सर्व परभावों को हेय जानता है, अतः उनकी प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती। अहाहा.... जिसने शुद्ध चैतन्यमय एक आत्मा का अनुभव किया, वह ज्ञानी है। तथा वह सर्व परभावों को हेय जानता है। अतः उन परभावों में ममत्व व एकत्वबुद्धि नहीं रहती।

पण्डित टोडरमलजी के समकालीन ब्र. राजमलजी ने प्रश्नोत्तर की शैली में इसी विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया है—

प्रश्नः- आत्मा ही के ध्यान से मोक्ष होना कहा, सो कारण क्या? मोक्ष तो एक वीतरागभाव सों होय है, सो वीतरागभाव कोई भी कारण कर हुआ चाहिए। एक आत्मा ही के ध्यान का कहा प्रयोजन? ताका उत्तर इसप्रकार है—

समाधानः- यह तर्क तैने कहा तो सत्य है, वीतरागभावों से ही मोक्ष होय है यामे तो संदेह नाहीं, परन्तु वीतरागभाव कारण के बिना होय नाहीं—यह नियम है: जैसे एक लोहे का पिण्ड अग्नि विषे डारिये, तब वह लोहे का पिण्ड तप्तायमान उष्णता को प्राप्त होय है और अग्नि माहिं तै काढ़ि फेरि अग्निविषै ही डारिये तो त्रिकाल उष्णता को छाडि शीतलता को प्राप्त होय नाहीं और अग्निमांहि सों काढ़ि सूर्य के तापविषें धरिये तो सर्वप्रकार सम्पूर्ण शीतल होय नाहीं, किंचित् उष्णता लिए रहे ही और यदि जलविषै गोला को क्षेपिये तो तत्काल अन्तर्मुहूर्त में शीतल होय। वैसे ही आत्मा चिद्रूप पिण्ड को कषायों का कारण पुत्र-पुत्री, स्त्री, धन-शरीरादि अशुभकारण विषै उपयोग को लगाइये तो तीव्रकषाय उत्पन्न होय और फेरि विषयभोग की सामग्री विषै उपयोग को लगाइये तो त्रिकालविषैं कषाय शान्त होय नाही और देव-गुरु-धर्म, दान-तप-शील सयम त्याग, पूजा, सामायिक, दया आदि मे परिणाम लगाइये तो मंदकषाय होय और षट्द्रव्य, नवपदार्थ पंचास्तिकाय, सप्ततत्व, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कर्मकाण्ड आदि का चिन्तवन करे तो विशेष अत्यन्त मन्दकषाय होय, और आत्मा का अभेदरूप अवलोकन करें तो सर्वप्रकार वीतरागभाव होय है। वीतरागभावों से मोक्ष होय है।"

यहाँ यह कहा गया है कि एक वीतरागभाव से ही मोक्ष होता है और यह वीतरागभाव उत्पन्न होने की रीति शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा को ही आश्रय बनाना है। स्त्री-पुत्रादि के प्रति लक्ष्य करने से तीव्रकषाय होती है, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति लक्ष्य करने से मन्दराग होता है तथा स्व सम्बन्धी, द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी भेद विचार करने से अत्यन्त मन्दराग होता है; किन्तु इन सब मे कहीं से भी वीतरागता नहीं होती। वीतरागता तो चिदानंदमय वीतरागस्वभावी शुद्धात्मा के आश्रय से ही होती है।

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

ग्रन्थ	मूल्य	ग्रन्थ	मूल्य
मोक्षशास्त्र	50 00	कालजयी व्यक्तित्व बनारसीदास	10 00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग–1	40 00	समयसार अनुशीलन भाग–3 (पू.)	10.00
समयसार	35 00	विदाई की बेला	10.00
प्रवचनसार (श्री जयसेनाचार्य)	32 00	आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	10.00
पद्मनन्दि पंचविंशतिका	32.00	छहढाला / बारसाणुवेक्खा	8 00
प्रवचनसार (आ अमृतचन्द)	30.00	श्रावकधर्मप्रकाश	8 00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग–2 (उत्तरार्द्ध)	30 00	बारहभावना एक अनुशीलन	8 00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग–2		वीतराग–विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	8.00
(पूर्वार्द्ध)/ समयसार नाटक	25 00	शीलवान सुदर्शन/उपसर्गजयी सुकमाल	8 00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग–3	25 00	अध्यात्म सदेश /आप कुछ भी कहो	7.00
अष्टपाहुड / मोक्षमार्ग प्रकाशक	20 00	ती भ महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ	7.00
समयसार अनुशीलन भाग–1/भाग–2	20 00	भगवान नेमिनाथ/भगवान शान्तिनाथ	7 00
समयसार कलश टीका	20 00	चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान	7.00
समाधितंत्र प्रवचन/नयप्रज्ञापन	20.00	विदेहक्षेत्रस्थ विद्यमान विंशति ती. पूजा	7.00
प्रवचन रत्नाकर भाग–8/जिनेन्द्र अर्चना	20 00	सुखी होने का उपाय भाग–1/भाग–2	7 00
प्रवचन रत्नाकर भाग–3/ योगसार	20.00	सुखी होने का उपाय भाग–3/भाग–4	7.00
आ अमृतचंद्र व्यक्तित्व और कर्तृत्व	20 00	सुखी होने का उपाय भाग–5	7 00
नियमसार /बृहद् द्रव्यसंग्रह	18 00	जिनवरस्य नयचक्रम्	6 00
सिद्धचक्रविधान /अमृताशीति	18 00	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	6 00
परमभावप्रकाशक नयचक्र	16.00	णमोकार महामंत्र /अहिंसा के पथ पर	6.00
कार्तिकेयानुप्रेक्षा / भावदीपिका	16.00	जैनधर्म की कहानियाँ भाग–8	6 00
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	15 00	भगवान पार्श्वनाथ /मुक्ति का संघर्ष	6 00
प्रवचन रत्नाकर भाग–2/भाग–6	15.00	विचार के पत्र विकार के नाम	6 00
पंचास्तिकायसंग्रह / संस्कार/धवलासार	15.00	दशलक्षण विधान/बीस तीर्थंकर विधान	6 00
इन भावो का फल क्या होगा	15.00	अर्द्धकथानक /बनारसीविलास	5.00
इन्द्रध्वज विधान /गुणस्थान विवेचन	15 00	परीक्षामुख / अध्यात्म रत्नत्रय	5.00
प्रवचनरत्नाकर भाग 1/भावना शतक	13 00	अपूर्व अवसर/सामान्य श्रावकाचार	5.00
आत्मा ही है शरण / ज्ञानगोष्ठी	12 00	वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-3/भाग-4	5 00
सत्य की खोज	12.00	क्रमबद्धपर्याय / गागर में सागर	5.00
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	11.00	आ. कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम	5.00
कल्पद्रुम मण्डल विधान	11.00	पंचपरमेष्ठी पूजन विधान	5 00
प्रवचनरत्नाकरभाग-4/भाग-5/भाग-7	10 00	शाति विधान/रत्नत्रय पूजन विधान	5.00
भक्तामर प्रवचन / आत्मानुशासन	10 00	भक्ति सरोवर / युगपुरुष कानजीस्वामी	5 00
तत्त्वज्ञान तरगिणी / धर्म के दशलक्षण	10.00	वीतराग–विज्ञान प्रवचन भाग–2	4 00
रामकहानी/साधना के सूत्र	10 00		

अहा! मुनिराज को व्रत, तप आदि के विकल्प होते हैं, आहार-पानी के विकल्प भी होते हैं; परन्तु उन विकल्पों से वे लाभ नहीं मानते तथा उन्हें आश्रय करने योग्य भी नहीं मानते। अहाहा... अतीन्द्रिय आनन्द के रसकंद प्रभु आत्मा के आनन्द का अन्तर में जिसे स्वाद आया है, वह विकल्प के दुःखमय स्वाद को कैसे चाहेगा? विकल्प के स्वाद की मिठास, पुण्य के स्वाद की मिठास तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को होती है। ज्ञानी समस्त परद्रव्य के स्वभाव को नहीं चाहता, क्योंकि उसको समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है, उनकी पकड़ नहीं है।

अहाहा..... जिसने राग की एकता की गांठ खोलकर फेंक दी है तथा अन्तर में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की एकता प्रगट की है, उस ज्ञानी के समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहपना सिद्ध हुआ।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी के अत्यन्त निष्परिग्रहपना है। पाठ में "सव्वथ निरालम्बो" है न? अहाहा.... जिसको व्यवहार रत्नत्रय के राग का या देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग का भी आलम्बन नहीं है, ऐसे धर्मी को अत्यन्त निष्परिग्रहपना है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्दस्वरूप विराजमान है। ज्ञानी को मात्र ऐसे निजस्वरूप का ही परिग्रह है। अहो! धर्मी जीव का अन्तर परिणमन ज्ञान व आनन्द से भरपूर होता है। स्वस्वरूप के आचरण से जिसको निराकुल आनन्द का स्वाद आया है, उस धर्मात्मा को अत्यन्त निरालम्बनपना है, अत्यन्त निष्परिग्रहपना है; क्योंकि उसको कोई भी परद्रव्य के भावों की पकड़ नहीं है।

अब कहते हैं कि जो ये दया, दान, व्रत आदि के विकल्प उठते हैं, उनसे भगवान आत्मा शून्य है। ऐसा रागरहित वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा परिग्रह से शून्यपने के कारण समस्त अज्ञानमय भावों से रहित अत्यन्त निष्परिग्रह है, क्योंकि उसे किसी भी परद्रव्य व परभावों की पकड नहीं है।

हमारे यहा प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

ग्रन्थ	मूल्य	ग्रन्थ	मूल्य
मोक्षशास्त्र	50.00	कालजयी व्यक्तित्व बनारसीदास	10.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-1	40.00	समयसार अनुशीलन भाग-3 (पू.)	10.00
समयसार	35.00	विदाई की बेला	10.00
प्रवचनसार (श्री जयसेनाचार्य)	32.00	आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	10.00
पद्मनन्दि पंचविंशतिका	32.00	छहढाला/वारसाणुवेक्खा	8.00
प्रवचनसार (अ. अमृतचन्द्र)	30.00	श्रावकधर्मप्रकाश	8.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-2 (उत्तरार्द्ध)	30.00	वारहभावना : एक अनुशीलन	8.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-2 (पूर्वार्द्ध)/समयसार नाटक	25.00	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	8.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-3	25.00	शीलवान सुदर्शन/उपसर्गजयी सुकमाल	8.00
अष्टपाहुड़/मोक्षमार्ग प्रकाशक	20.00	अध्यात्म संदेश/आप कुछ भी कहो	7.00
समयसार अनुशीलन भाग-1/भाग-2	20.00	ती.भ. महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ	7.00
समयसार कलश टीका	20.00	भगवान नेमिनाथ/भगवान शान्तिनाथ	7.00
समाधितंत्र प्रवचन/नयप्रज्ञापन	20.00	चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान	7.00
प्रवचन रत्नाकर भाग-8/जिनेन्द्र अर्चना	20.00	विदेहक्षेत्रस्थ विद्यमान विशंति ती. पूजा	7.00
प्रवचन रत्नाकर भाग-3/योगसार	20.00	सुखी होने का उपाय भाग-1/भाग-2	7.00
आ. अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	20.00	सुखी होने का उपाय भाग-3/भाग-4	7.00
नियमसार/बृहद् द्रव्यसंग्रह	18.00	सुखी होने का उपाय भाग-5	7.00
सिद्धचक्रविधान/अमृताशीति	18.00	जिनवरस्य नयचक्रम	6.00
परमभावप्रकाशक नयचक्र	16.00	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	6.00
कार्तिकेयानुप्रेक्षा/भावदीपिका	16.00	णमोकार महामंत्र/अहिंसा के पथ पर	6.00
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	15.00	जैनधर्म की कहानियाँ भाग-8	6.00
प्रवचन रत्नाकर भाग-2/भाग-6	15.00	भगवान पार्श्वनाथ/मुक्ति का संघर्ष	6.00
पंचास्तिकायसंग्रह/संस्कार/धवलासार	15.00	विचार के पत्र विकार के नाम	6.00
इन भावों का फल क्या होगा	15.00	दशलक्षण विधान/बीस तीर्थंकर विधान	6.00
इन्द्रध्वज विधान/गुणस्थान विवेचन	15.00	अर्द्धकथानक/बनारसीविलास	5.00
प्रवचनरत्नाकर भाग-1/भावना शतक	13.00	परीक्षामुख/अध्यात्म रत्नत्रय	5.00
आत्मा ही है शरण/ज्ञानगोष्ठी	12.00	अपूर्व अवसर/सामान्य श्रावकाचार	5.00
सत्य की खोज	12.00	वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-3/भाग-4	5.00
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	11.00	क्रमवद्धपर्याय/गागर में सागर	5.00
कल्पद्रुम मण्डल विधान	11.00	आ. कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम	5.00
प्रवचनरत्नाकर: भाग-4/भाग-5/भाग-7	10.00	पंचपरमेष्ठी पूजन विधान	5.00
भक्तामर प्रवचन/आत्मानुशासन	10.00	शांति विधान/रत्नत्रय पूजन विधान	5.00
तत्त्वज्ञान तरंगिणी/धर्म के दशलक्षण	10.00	भक्ति सरोवर/युगपुरुष कानजीस्वामी	5.00
रामकहानी/साधना के सत्र	10.00	वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-2	4.00
		वीतराग-विज्ञान पाठ. भाग-2/भाग-3	4.00